# तत्त्वार्थ-सूत्र
## भाग-1

-: हिन्दी विवेचनकार :-

प.पू.आचार्यदेव श्रीमद् विजय **रत्नसेनसूरीश्वरजी** म.सा.

वाचकवर्य श्री उमास्वातिजी विरचित

# तत्त्वार्थ-सूत्र

भाग-1

## हिन्दी विवेचनकार

परम शासन प्रभावक पू.आचार्यदेव **श्रीमद् विजय रामचन्द्रसूरीश्वरजी म.सा.** के तेजस्वी शिष्यरत्न बीसवीं सदी के महान योगी **पू. पंन्यासप्रवर श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्य** के कृपापात्र चरम शिष्यरत्न जैन हिन्दी साहित्य दिवाकर

**पू.आचार्यदेव श्रीमद् विजय रत्नसेनसूरीश्वरजी म.**

## संपादक

मरुधर रत्न **पू.आचार्य श्रीमद् विजय रत्नसेनसूरीश्वरजी म.** के शिष्यरत्न **पू.मुनि श्री स्थूलभद्रविजयजी म.**

229

## प्रकाशन

**दिव्य सन्देश प्रकाशन**

**C/o. सुरेन्द्र जैन,** Office No. 304, 3rd Floor, बे.व्यु. बिल्डींग, विंग-ईस्ट बे, डॉ. एम.बी. वेलकर स्ट्रीट, कालबादेवी, मुंबई-400 002.

Cell 8484848451 (only whatsapp)

**आवृत्ति :** प्रथम • **मूल्य :** 200/- रुपये • **प्रतियां :** 1000
**विमोचन स्थल :** श्री त्रिभूवन तारक श्वे.मू.तपा.जैन संघ-भायंदर
**तारीख :** दि. 21-8-2022 • **Website :** Divyasandesh.online

## आजीवन सदस्य योजना

**आजीवन सदस्यता शुल्क - 3000/- रु.**

- आप जैन धर्म के रहस्य-जैन इतिहास-जैन तत्त्वज्ञान-जैन आचार मार्ग, प्रेरणादायी कथाएँ आदि का अध्ययन करना चाहते हों तो आज ही आप दिव्य संदेश प्रकाशन मुम्बई की आजीवन सदस्यता प्राप्त कर लें। सदस्य बनते ही अध्यात्मयोगी निःस्पृह शिरोमणि स्व. पूज्यपाद पंन्यासप्रवर **श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्यश्री** एवं उन्हीं के चरम शिष्यरत्न प्रवचन प्रभावक परम पूज्य ***आचार्यदेव श्रीमद् विजय रत्नसेनसूरीश्वरजी म.*** सा. द्वारा लिखित उपलब्ध 10 पुस्तकें दी जाएगी और **अर्हद् दिव्य संदेश** मासिक तथा भविष्य में हिन्दी भाषा में प्रकाशित पुस्तकें (Open Book Exam साधु–साध्वी उपयोगी पुस्तके एवं पुनः मुद्रित पुस्तकों को छोडकर) घर बैठे प्राप्त होंगी। आप आजीवन सदस्यता शुल्क मुंबई या बैंगलोर के पते पर दिव्य संदेश प्रकाशन-मुंबई के नाम से चैक व ड्राफ्ट से भेजें।

## प्राप्ति स्थान

**1. चेतन हसमुखलालजी मेहता**
भायंदर (M.S.)
M. 9867058940

**2. प्रवीण गुरुजी**
C/o. श्री आत्म कमल लब्धिसूरि जैन पुस्तकालय
श्री आदिनाथ जैन टेंपल, चिकपेठ, बेंगलोर-560 053.
M. 9036810930

**3. राहुल वैद**
C/o. अरिहंत मेटल कं., 4403, लोटन जाट गली, पहाड़ी धीरज, सदर बाजार, दिल्ली-110 006.
M. 9810353108

**4. चंदन एजेन्सी**
607, चीरा बाजार, मुंबई-400 002.M.9820303451

---

***आजीवन सदस्यता शुल्क***
***Rs. 3000/- भिजवाने का पता एवं पुस्तक-प्राप्ति-स्थान :***

**(1) दिव्य संदेश प्रकाशन**

C/o. सुरेन्द्र जैन, Office No. 304, 3rd Floor, बे व्यु बिल्डींग, विंग-ईस्ट बे, डॉ. एम.बी. वेलकर स्ट्रीट, कालबादेवी, मुंबई-400 002. Mobile : 8484848451 (only whatsapp)

**(2) दिव्य संदेश प्रचारक**

**प्रकाश बड़ोल्ला,** 52, 3rd Cross, शंकरमट रोड, शंकरपुरा, बैंगलोर-560 004. Tel. (O.) 4124 7478 M. 8971230600

# प्रकाशक की कलम से...

नमस्कार महामंत्र के बेजोड साधक, निःस्पृह शिरोमणि, बीसवी सदी के महान योगी **पूज्यपाद पंन्यास प्रवर श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्यश्री** के चरम शिष्यरत्न जैन हिन्दी साहित्य दिवाकर **पूज्य आचार्यदेव श्रीमद् विजय रत्नसेनसूरिजी म.सा.** द्वारा हिन्दी भाषा में आलेखित 229 व 230 वी पुस्तक **'तत्त्वार्थ सूत्र' हिन्दी विवेचन-भाग-1 और 2** का प्रकाशन करते हुए हमें अत्यंत ही हर्ष हो रहा है ।

जैन धर्म के मर्म का समझने के लिए **'तत्त्वार्थ सूत्र'** एवं अद्‌भूत ग्रंथ है ।

गागर में सागर की भांति इस छोटे से ग्रंथ में जैन धर्म के द्रव्यानुयोग, गणितानुयोग एवं चरणकरणानुयोग का सुंदर संग्रह किया है ।

कई पाठकों की ओर से उस ग्रंथ के हिन्दी विवेचन की मांग थी, पूज्यश्री ने अथक श्रमलेकर इस ग्रंथ के भावों को लोक भोग्य शैली में प्रस्तुत किया है ।

हमें आशा ही नहीं परंतु पूर्ण विश्वास है कि पूर्व प्रकाशनों की भांति यह प्रकाशन भी खूब लोकापयोगी सिद्ध होगा ।

**निवेदक**

**दिव्य संदेश प्रकाशन ट्रस्ट मंडल**

# शुभेच्छा-संदेश

## एक अद्‌भुत ग्रंथ

**प्रवचन प्रभावक पूज्य आचार्यदेव**
**श्रीमद् विजय रत्नसुंदरसूरीश्वरजी म.सा.**

ठीक है, दिमाग में पहला विचार मंजिल का ही आता है। परंतु दूसरी ही क्षण उस मंजिल पर पहुँचने के मार्ग का विचार आए बिना नहीं रहता है।

मस्तक भले ही शिखर के विचारों में व्यस्त रहता हो परंतु पांव को किस दिशा में ले जाने से मंजिल पर पहुँचा जा सकता हैं ? इस आयोजन में मन को व्यस्त रखना ही पडता है।

Goal भले ही चर्चगेट पहुँचने का हो परंतु उसे मलाड से गोरेगांव का Target तो हांसिल करना ही पडता है।

**श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्र !** 500-500 ग्रंथों के रचयिता दश पूर्वधर महर्षि उमास्वातिजी महाराज विरचित **एक अद्‌भूत ग्रंथ !**

इस ग्रंथ को जिसने कंठस्थ, हृदयस्थ और आत्मसात् किया है, उसके लिए अध्यात्म मार्ग में आगे बढने के लिए अन्य किसी ग्रंथ की अपेक्षा नहीं रहती है।

मजे की बात है कि 10 अध्याय स्वरुप इस ग्रंथ के पहले अध्याय के पहले सूत्र में **'मार्ग'** की बात की है–

**'सम्यग्‌दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः।'**

तो दसवे अध्याय का पहला सूत्र मंजिल है।

**'कृत्स्नकर्मक्षयात् मोक्षः।'**

–बीच के आठ अध्यायों में हेय-ज्ञेय और उपादेय तत्त्वों की खूब विस्तार से चर्चा की है। यद्यपि सूत्रशैली में विरचित इस ग्रंथ को और उसके ऐदंपर्याय को सरलता से समझना, मंद बुद्धिवाले जीवों के लिए आसान नहीं है।

उन्हें तो इन सूत्रों पर सरल शब्दों में विवेचन हो तो ही इस ग्रंथ में प्रवेश संभव है ।

**आचार्यश्री रत्नसेनसूरिजी** ने मात्र मंद बुद्धिवाले जीवों के लिए ही नहीं, बल्कि सूक्ष्म बुद्धिवाले जीवों को भी नवीन बोध हो, ऐसा तत्त्वार्थाधिगम सूत्र पर सरल व सुबोध हिन्दी विवेचन तैयार किया है ।

***वे मस्त प्रवचनकार और कुशल लेखक भी है । उनके वरदहस्तों से हिन्दी भाषा में जैन धर्म के प्राथमिक पाठ्यक्रम पंच प्रतिक्रमण, चार प्रकरण, तीन भाष्य व छह कर्मग्रंथों पर सुंदर विवेचन तैयार हुआ है, जो हिन्दीभाषी क्षेत्रों में अभ्यासी वर्ग के लिए खूब उपयोगी व उपकारक बना है ।***

***उनकी विवेचन शैली सरल तो है ही साथ में मधुर भी है, एक बार हाथ में लेने के बाद पाठक स्वयं उसके प्रवाह में बह जाता है ।***

जिस सूत्रात्मक ग्रंथ को समझने के लिए विद्वानों को भी अपना दिमाग कसना पडे, ऐसे ग्रंथ पर लोकभोग्य शैली में विवेचन तैयार करना सरल कार्य नहीं है, फिर भी प्रभु शासन व प्रभु वचनों के अनुरागी **आचार्य श्री रत्नसेनसूरिजी** ने कमाल किया है, उसके बदले उनको मेरे लाख-लाख अभिनंदन है । इतना ही नहीं भविष्य में भी उनकी ओर से श्री संघ के करकमलों में ऐसे ग्रंथों पर विवेचन उपलब्ध होता रहे, यही उनसे अपेक्षा है ।

अभ्यासी, जिज्ञासु व मुमुक्षुवर्ग इस विवेचन के पठन-पाठन व अभ्यास द्वारा अपने आत्म द्रव्य को निर्मल बनाने में कटिबद्ध बने, यही एक शुभकामना ।

वासुपूज्य स्वामी जैन मंदिर — **–आ.रत्नसुंदरसूरि**

मुलुंड-मुंबई — नूतन वर्ष वि.सं.2078

# लेखक-संपादक की कलम से...

वि.सं. 2030 की बात हैं ।

जन्मभूमि बाली (राज.) में मुमुक्षुरत्ना कमलाबहन की भागवती दीक्षा का महोत्सव चल रहा था ।

मुमुक्षुरत्ना के वैराग्य प्रेरक संवाद को सुनकर मेरे अन्तर्मन में वैराग्यभाव का बीजारोपण हुआ ! वैराग्य के उस बीज को सिंचन करनेवाले थे–भवोदधितारक पूज्यपाद पंन्यासप्रवर **श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्य ।** पारिवारिक संयोग ऐसे थे कि दीक्षा के लिए सहज अनुमति मिलनेवाली नहीं थी, अतः गृहस्थ जीवन में रहते हुए गुप्त रीति से संयम जीवन की ट्रेनिंग लेनी थी ।

उस अवधि में मेरा S.P.U. College फालना राज. में 1st Year B.Com. का अभ्यास (Study) चल रहा था ।

एक दिन मुंडारा (राज.) में चातुर्मास विराजमान पूज्य गुरुदेवश्री के पास धार्मिक अभ्यास के लिए मैंने मार्गदर्शन मांगा तो उन्होंने कहा, `राजु ! तुम्हारा पंच प्रतिक्रमण का अभ्यास हो चूका है तो अब तुम **तत्त्वार्थ सूत्र** कंठस्थ करो ! तत्त्वार्थ में जैन दर्शन के अधिकांश पदार्थों का समावेश हो जाता है ।'

पूज्यश्री की आज्ञा को शिरोधार्य कर मैंने **तत्त्वार्थ सूत्र** कंठस्थ करना प्रारंभ किया ।

पूज्यश्री के प्रशिष्य विद्वद् शिरोमणि **पू.मु.श्री धुरंधरविजयजी म.** उस समय खुडाला–फालना में विराजमान थे उन्होंने मुझे तत्त्वार्थ का अर्थ सिखाया । पंडित सुखलालजी द्वारा आलेखित तत्त्वार्थ सूत्र-हिन्दी विवेचन भी पढा ।

इस सूत्र के अभ्यास से **'जैन धर्म का तत्त्वज्ञान'** में मेरा प्रवेश हुआ ।

इस प्रकार बचपन से ही मुझे इस सूत्र का विशेष आकर्षण रहा ।

संयम जीवन स्वीकार के बाद वि.सं 2039 में पाली (राज.) में पंडितजी रामकिशोरजी पांडेय के पास तत्त्वार्थ सूत्र की विस्तृत संस्कृत टीका का स्वाध्याय किया !

संयम जीवन के प्रारंभिक काल में एक बार **पू.मुनिप्रवर श्री धुरंधरविजयजी म.** ने मार्गदर्शन-हितशिक्षा देते हुए कहा था–**रत्नसेन म. ! चार प्रकरण, तीन भाष्य व छ कर्मग्रंथों के अभ्यास के बाद चार महापुरुषों के दो-दो ग्रंथ–**

**पू. उमास्वातिजी का तत्त्वार्थ व प्रशमरति**

**पू. हीरभद्रसूरिजी का अष्टक व षोडशक**

**पू. हेमचन्द्राचार्यजी का वीतराग स्तोत्र व योगशास्त्र**

**पू. यशोविजयजी का ज्ञानसार व अध्यात्मसार तथा पू. विनयविजयजी का शांत सुधारस अवश्य कंठस्थ करना !**

पूज्य गुरुदेवश्री की असीम कृपा से ये सभी ग्रंथ प्रारंभिक जीवन में कंठस्थ किए थे, सिर्फ अध्यात्मसार अधुरा रह गया था ।

दीक्षा के प्रथम वर्ष में चातुर्मास दरम्यान पूज्य परमोपकारी गुरुदेवश्री की ही प्रेरणा वाचकवर्य उमास्वातिजी द्वारा विरचित `प्रथम रति' ग्रंथ कंठस्थ किया–उस ग्रंथ में तत्त्वार्थ के सभी पदार्थों का पद्य शैली में समावेश है ।

पाटण चातुर्मास दरम्यान **सिद्ध हैमशब्दानुशासन** का अभ्यास करते समय हेमचन्द्राचार्यजी ने **'उपोमास्वाति-संग्रहीतारः'** कहकर पूज्य उमास्वातिजी को `श्रेष्ठ संग्रहकार' कहा है । तभी से मेरे दिल में पू. उमास्वातिजी के प्रति विशेष आदरभाव था, जिन्होंने हमारे जैसे बाल जीवों के प्रतिबोध के लिए ऐसे अनमोल ग्रंथों की रचना की है ।

## तत्त्वार्थ की महिमा

पूर्वधर महर्षि आर्यरक्षितसूरिजी ने सभी आगमों को चार अनुयोंगों में विभक्त किया था । द्रव्यानुयोग, गणितानुयोग, चरणकरणानुयोग और धर्मकथानुयोग !

द्रव्यानुयोग में षड्द्रव्य, द्रव्यों के गुण-पर्याय आदि के स्वरुप का विस्तार से वर्णन है । सुयगडांग, समवायांग आदि आगम ग्रंथ तथा सन्मतितर्क, तत्त्वार्थसूत्र, नवतत्त्व, द्रव्य-गुण-पर्यायनोरास आदि प्रकरण ग्रंथों में द्रव्यानुयोग की प्रधानता है ।

सूर्य प्रज्ञप्ति, चंद्रप्रज्ञप्ति, जंबूद्वीप प्रज्ञप्ति आदि आगम ग्रंथों में तथा क्षेत्र समास बृहत्संग्रहणी, छट्ठा कर्मग्रंथ आदि प्रकरण ग्रंथों में गणितानुयोग की प्रधानता है ।

आचारांग, दशवैकालिक आदि आगम ग्रंथों में तथा यदिदिन चर्या, श्राद्धविधि, योगशास्त्र आदि ग्रंथों में चरणकरणानुयोग की प्रधानता है ।

ज्ञाताधर्म कथा, उपासक दशांग आदि आगम ग्रथों में तथा त्रिषष्टिशाला का पुरुष चरित्र, उपदेश प्रसाद, उपदेशमाला आदि प्रकरण ग्रंथों में धर्मकथानुयोग की प्रधानता है ।

रत्नत्रयी की आराधना स्वरुप मोक्षमार्ग में अपेक्षा से क्षायिक भाव के चारित्र की प्रधानता है । परंतु ज्ञान और चारित्र की आराधना का मूल सम्यग्दर्शन है ।

सम्यग्दर्शन की शुद्धि द्रव्यानुयोग के निर्मलबोध पर निर्भर करती है ! अतः सम्यग्दर्शन की प्राप्ति, शुद्धि व निर्मलता के लिए द्रव्यानुयोग का अभ्यास खूब जरुरी है ।

महोपाध्याय यशोविजयजी म. ने द्रव्य-गुण-पर्याय के रास में तो यहां तक कह दिया है–

**'विना द्रव्य अनुयोग विचार,**
**नहि चरणकरणनो सार !'**

द्रव्यानुयोग के गहन अभ्यास के लिए यदि साधु को

निर्दोष-भिक्षा सुलभ न हो तो आधाकर्मी भिक्षा की भी छूट दी गई है ।

इससे स्पष्ट है कि चारित्र की शुद्धि का आधार भी द्रव्यानुयोग का अभ्यास है ।

पूर्वधर महर्षि वाचकवर्य उमास्वातिजी म. ने भव्य जीवों के हित के लिए सूत्रात्मक शैली में `तत्त्वार्थाधिगम' सूत्र की रचना की है । इस ग्रंथ में उन्होंने द्रव्यानुयोग का बहुत ही सुंदर विश्लेषण किया है तो इसके साथ ही गणितानुयोग और चरणकरणानुयोग का भी सुंदर संग्रह किया है ।

उमास्वातिजी म. ने इस छोटे से ग्रंथ में जैन शासन को मान्य तीनों अनुयोगों का समावेश कर गागर में सागर भर दिया है ।

कलिकाल सर्वज्ञ हेमचन्द्राचार्यजी ने `स्वरचित सिद्धहैम शब्दानुशासनम्' में `उपोमास्वाति संग्रहीतारः' कहकर श्रेष्ठ संग्रहकार की उपमा दी है ।

`तत्त्वार्थ सूत्र' एक ऐसा अनमोल ग्रंथ है, जिसे वर्तमान के चारों जैन संप्रदाय मान्य करते है ।

श्वेतांबर की भांति दिगंबरों ने भी तत्त्वार्थ सूत्र को खूब महत्त्व दिया है परंतु कुछ सुत्रों मतभेद दिखाई देता है ।

दिगंबर इस `तत्वार्थ सूत्र' को मोक्ष शास्त्र के रुप में मानते हैं, अतः उसके स्वाध्याय आदि पर खूब भार देते है ।

– इस तत्त्वार्थ सूत्र पर संस्कृत भाषा में अनेक टीकाएं रची गई हैं ।

– उमास्वातिजी ने स्वयं ही इस तत्त्वार्थ सूत्र पर `स्वोपज्ञ भाष्य' रचा है ।

उसके बाद सिद्धसेन गणी, हरिभद्रसूरिजी देवगुप्तसूरिजी यशोविजयजी आदि ने भी टीकाएं रची है ।

– दिगंबर परंपरा में भी इस सुत्र पर सर्वार्थसिद्धि श्लोकवार्तिक, राजवार्तिक, श्रुतसागरी आदि टीकाएं है ।

वर्तमान में काल के प्रभाव से प्राकृत-संस्कृत भाषा का भी अभ्यास घटता जा रहा है ।

निकट के भूतकाल में इस तत्त्वार्थ सूत्र पर अनेक गुजराती विवेचन भी तैयार हुए है ।

हिन्दी भाषा में लगभग 90-100 वर्ष पूर्व पं.सुखलालजी ने तत्त्वार्थ सूत्र पर सारग्राही-संक्षिप्त विवेचन तैयार किया था । जो लगभग अप्राप्य है ।

कई पाठकों की ओर से विनती थी कि इस तत्त्वार्थ सूत्र पर अति विस्तार भी नहीं और अति संक्षेप भी नहीं, किन्तु मध्यम रुचिवालों को ध्यान में रखकर हिन्दी विवेचन तैयार किया जाय ।

पाठकों की विनती को ध्यान में रखकर यह मध्यमश्रेणी का हिन्दी विवेचन तैयार किया है ।

संयम जीवन के वर्षों बाद पूज्य गुरुदेवश्री की निरंतर बरस रही असीम कृपा वर्षा से ही मैंने हिन्दी भाषा में सरल व सुबोध भाषा में जीवविचार, नवतत्त्व, दंडक, सग्रहणी, तीन भाष्य तथा छह कर्मग्रंथ, वैराग्यशतल, इन्द्रिय पराजय शतक तथा संबोध सित्तरी का हिन्दी विवेचन तैयार किया था ।

नाकोडाजी (राज.) तथा दक्षिण भारत की हिन्दी भाषी प्रजा के लिए ये पुस्तके खूब उपयोगी बनी ।

इसी बीच मुंबई व नेल्लोर आदि के तत्त्वपिपासु लोगों की विनती थी कि आप तत्त्वार्थ सूत्र पर हिन्दी विवेचन तैयार करने की कृपा करो ।

तत्त्वार्थ सूत्र में निर्दिष्ट कई सूत्रों का हिन्दी विवेचन आंशिक रुप से जीव विचार, नवतत्त्व, वंदित्तुसूत्र विवेचन, शांत सुधारस आदि में आ जाता है ।

प्रारंभ में मैंने अपने पूर्व प्रकाशनों में से तत्त्वार्थ सूत्र के पदार्थों के विवेचन को संग्रहित किया तत्पश्चात्, **सुविनीत मुनिश्री स्थूलभद्रविजयजी** ने तत्त्वार्थ सूत्र के सूत्र क्रमानुसार उस विवेचन को Adjust किया और जहां जहां अपूर्णता थी,

वहां–वहां गुजराती भाषा में पूर्व प्रकाशित पू. आ.श्री राजशेखरसूरीश्वरजी म., प्रभुदास बेचरदास तथा पं. प्रवीणभाई, धीरजभाई आदि के विवेचनों के आधार पर अतिविस्तृत नहीं और अति संक्षिप्त भी नहीं, बल्कि मध्यम शैली में यह विवेचन तैयार किया इसके लिए वे धन्यवाद के पात्र है ।

भाषा शैली में परिष्कार कर इसे लोक भोग्य बनाने का प्रयास किया हैं, मुझे विश्वास है कि यह विवेचन हिन्दी भाषी तत्त्व पिपासु पाठकों के लिए अवश्य उपयोगी बनेगा ।

युवा प्रतिबोधक पूज्य **आचार्य देव श्रीमद् विजय रत्नसुंदर-सूरीश्वरजी म.सा.** ने `शुभेच्छा-संदेश' भेजकर ग्रंथ के गौरव में अभिवृद्धि की है ।

सुप्रसिद्ध गीतकार **आचार्य श्री मोक्षरतिसूरिजी म.** ने ग्रंथ के अनुरुप प्रस्तावना लिखकर ग्रंथ की महत्ता बढाई हैं, एतदर्थ वे भी धन्यवाद के पात्र हैं ।

इसमें जो कुछ भी शुभ है वह सब परम शासन प्रभावक, दीक्षा युग प्रर्त्तक पूज्यपाद आचार्यदेव श्रीमद् विजय रामचन्द्रसूरीश्वरजी महाराजा, परमोपकारी, भवोदधि तारक, परमाराध्यपाद गुरुदेव पंन्यास प्रवर श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्य तथा मेरे आत्म हितैषी, वात्सल्यमूर्ति पूज्यपाद पंन्यासप्रवर श्री वज्रसेनविजयजी म. की अदृश्य कृपा वृष्टि का ही फल है ।

प्रस्तुत पुस्तक के संकलन में नामी-अनामी अनेक लेखकों की अनेक पुस्तकों का आलंबन लिया है, मैं उन सबके प्रति कृतज्ञ है ।

**दो भागों में प्रकाशित इस पुस्तक में कहीं भी जिनाज्ञा विरुद्ध आलेखन हुआ हो तो त्रिविध-त्रिविध मिच्छा मि दुक्कडम् ।**

आराधना भवन
रोहा (कोंकण)
दि. 15-4-2022

अध्यात्मयोगी पूज्यपाद
**पंन्यास प्रवर श्री भद्रंकरविजयजी**
गुरु चरणो पासक
**रत्नसेनसूरि...**

## ग्रंथकार-परिचय

# वाचकवर्य उमास्वातिजी

लेखक : ***पूज्य आचार्य श्रीमद् विजय रत्नसेनसूरीश्वरजी म.सा.***

न्यग्रोधिका गांव में कौभीषणि गोत्रीय **स्वाति** नाम का ब्राह्मण रहता था, उस ब्राह्मण के **उमा** नाम की पत्नी थी । अनेक वर्षों के मनोरथ के बाद उन्हें पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई । बालक का नाम **'उमास्वाति'** रखा गया ।

उमास्वाति के पिता ब्राह्मण थे और नित्य वेदपाठी थे । उमास्वाति भी वेदों का अध्ययन करने लगे और धीरे धीरे वेदों में पारगामी हो गए ।

उमास्वाति के दिल में जैन धर्म के प्रति कुछ भी आदर-भाव या आकर्षण नहीं था, परंतु एक बार उन्होंने जैन मंदिर में प्रवेश किया । वहां प्रशमरस निमग्न वीतराग भाव की द्योतक जिनेश्वर परमात्मा प्रतिमा के दर्शन कर भावविभोर हो गए । उनके अन्तर्मन में जैन धर्म के प्रति रही द्वेष की आग शांत हो गई । उनके मन में जैन धर्म के प्रति आदर भाव पैदा हुआ ।

प्रभु की प्रतिमा इतनी सुंदर है तो वे प्रभु कितने सुंदर होंगे ! प्रभु के वचन कितने मधुर होंगे ?

अब वे जिनमत के जिज्ञासु बन गए । वे जिन वचनों को पाने के लिए तरसने लगे ।

आखिर एक दिन उन्हें जैन मुनि **घोषनंदीजी** का परिचय हुआ ।

सुधर्मास्वामी के 10 वें पट्टधर **दिन्नसूरिजी** के एक शिष्य थे, जिनका नाम **आर्य शांति श्रेणिक** था । उनसे उच्चा नागरी नाम की शाखा निकली थी । उसी उच्चा नागरी में पूर्वों के ज्ञाता वाचनाचार्य शिवजी

हुए । उनके ही शिष्य ग्यारह अंगों के धारक घोषनंदी थे । मुनि घोषनंदी के सत्संग-समागम से उमास्वाति के दिल में वैराग्य की ज्योत प्रकट हुई ।

मोहवश माता-पिता अपनी इकलौती संतान उमास्वाति को भागवती दीक्षा देने के लिए राजी नहीं थे ।

परंतु उमास्वाति के तीव्र वैराग्य भाव के आगे माता-पिता को झुकना पड़ा और आखिर वे दीक्षा दिलाने के लिए सहमत हो गए ।

एक शुभ दिन मंगलवेला में उनकी भागवती दीक्षा संपन्न हुई और वे **मुनि उमास्वाति** बने ।

तीक्ष्ण बुद्धि और ज्ञानावरणीय कर्म के तीव्र क्षयोपशम के फल स्वरूप अल्प समय में ही मुनि उमास्वाति ग्यारह अंगों के ज्ञाता हो गए ।

उपकारी गुरुदेव ने अपने पास जो ज्ञान था, वह सारा ज्ञान मुनि उमास्वाति को प्रदान किया ।

गुरुदेव ने उनकी योग्यता-पात्रता जानकर पूर्वों के अभ्यास के लिए उन्हें क्षमाश्रमण मुंडपाद के शिष्य वाचनाचार्य **श्रीमूल** के पास भेजा । पूर्वधर श्रीमूल के पास रहकर उमास्वातिजी ने पूर्वों का ज्ञान हासिल किया और पूर्वधर बने ।

–अनेक प्रमाणों से यह ज्ञात होता है कि वे **पूर्वधर** महर्षि थे ।

(1) पूर्वधर की पहिचान के लिए वादी, क्षमाश्रमण, दिवाकर तथा वाचक शब्द का प्रयोग होता था, घोषनंदी पूर्वधर नहीं थे, परंतु **वाचक उमास्वातिजी पूर्वधर** थे ।

(2) अपने गुरुदेव के पास 11 अंगों का अभ्यास कर वाचनाचार्य श्रीमूल के पास उन्होंने पूर्वों का अभ्यास किया था और वे पूर्वधर बने थे ।

(3) नगरतालु के दिगंबरीय शिलालेख में मुनीश्वर उमास्वाति को **'श्रुतकेवलि देशीय'** कहा हैं, इससे भी वे पूर्वधर सिद्ध होते हैं ।

(4) उमास्वातिजी का समय वीर निर्वाण 770 हैं, जो पूर्वधरों का युग था । वे स्वयं अपने आपको उच्च नागर वाचक के रूप में अपना परिचय देते है, इससे भी वे पूर्वधर सिद्ध होते है ।

वाचक उमास्वातिजी ने अपने जीवन काल दरम्यान 500 धर्मग्रंथों का सर्जन किया था ।

**आ. वादिदेवसूरिजी** ने **प्रमाणनय-तत्त्वालोकालंकार** की स्वोपज्ञ टीका **'स्याद्वाद रत्नाकर'** तथा **जिनदत्तसूरि ने 'गणधर सार्धशतक की 50 वीं गाथा में उमास्वाति को 500** ग्रंथों के रचयिता के रूप में बताया है ।

अपने दुर्भाग्य से उन महापुरुष के द्वारा विरचित 500 में से अधिकांश ग्रंथ लुप्त हो चूके है, उनमें से सिर्फ 7 ग्रंथ ही विद्यमान है ।

(1) तत्त्वार्थ सूत्र (2) तत्त्वार्थ भाष्य (3) प्रशमरति प्रकरण (4) जंबूद्वीप समास (5) क्षेत्र समास (6) श्रावक प्रज्ञप्ति और (7) पूजा प्रकरण ।

उनके द्वारा विरचित अनेक अनुपलब्ध ग्रंथों के अवतरण पाठ ठाणांग सूत्र की टीका, पंचाशक की टीका, उत्तराध्ययन की टीका आदि में मिलते है ।

**'क्षये पूर्वा तिथिः कार्या, वृद्धौ कार्या तथोत्तरा'** उमास्वातिजी का प्रसिद्ध प्रघोष उन्हीं के किसी ग्रंथ में उपलब्ध था, जो तिथि की हानि-वृद्धि के संदर्भ में कर्तव्य की याद दिलाता है । उनके समय में जैन पंचांग लुप्त हो चूका था, इसलिए उन्होंने तिथि की क्षयवृद्धि के संदर्भ में अंगुली निर्देश किया है । पूर्व काल में जैन पंचांग में प्रतिवर्ष 6 तिथियों की हानि होती थी, वृद्धि नहीं ।

उमास्वातिजी महान् ग्रंथकार तो थे ही, इसके साथ ही वे महान् संग्राहक भी थे । कलिकाल सर्वज्ञ हेमचन्द्राचार्यजी ने अपने व्याकरण में 2-2-39 सूत्र में उमास्वातिजी को **'उपोमास्वातिं संग्रहीतारः'** कहकर सर्व श्रेष्ठ संग्राहक की उपमा दी है ।

वर्तमान में जैनों के चार संप्रदायों में अन्य अन्य विषयों में कई मतभेद है ।

श्वेतांबर जिनागमों को प्रभु की वाणी के रूप में प्रमाणभूत मानते है, जबकि दिगंबर उन्हें प्रमाणभूत नहीं मानते है ।

श्वेतांबर मूर्तिपूजक 45 आगमों को प्रमाणभूत मानते है, जबकि स्थानकवासी और तेरापंथी 32 आगमों को ही मानते है, जबकि उमास्वातिजी विरचित **'तत्त्वार्थ सूत्र'** चारों संप्रदाय में मान्य है ।

इस लघुकाय तत्त्वार्थ सूत्र में जैन दर्शन के द्रव्यानुयोग, गणितानुयोग और चरण करणानुयोग के समस्त पदार्थों का संक्षेप में समावेश किया गया है ।

इस तत्त्वार्थ सूत्र पर आ. सिद्धसेनगणि, हरिभद्रसूरि, यशोभद्रसूरि, मलयगिरिजी, उपा. यशोविजयजी आदि अनेक श्वेतांबरीय महापुरुषों ने टीकाएँ रची है तो कुछ सूत्रों में परिवर्तनकर दिगंबर आचार्यो ने भी सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक, श्लोक वार्तिक, श्रुत सागरी आदि संस्कृत टीकाएं रची हैं ।

वि.सं. 1252 में **रत्नसूरिजी ने** अमम चरित्र में बहुत ही सुंदर बात कही है ।

**'उमास्वाति–वाचकस्य, वाचः कस्य न चेतसि ।**
**ध्वनन्त्यद्यापि घण्टावत्, तारटङ्कारसुन्दरा ।।'**

घंट की मधुरध्वनि की भांति आज भी उमास्वातिजी की वाणी किसके चित्त में नहीं गुंजती है ? जैन साहित्य के सूत्र ग्रंथों में यह प्रथम सूत्र ग्रंथ हैं । इसकी रचनाशैली अत्यंत ही गंभीर है ।

इसमें 10 अध्याय हैं, कुल 357 सूत्र है । पहले अध्याय में 33 सूत्र हैं, जिसमें ज्ञान के 5 भेदों का सुंदर वर्णन है । दूसरे अध्याय में पांच भावों और जीव तत्त्व का, तीसरे अध्याय में नरक तथा चौथे अध्याय में चारों निकाय के देवताओं का वर्णन है ।

पांचवे अध्याय में धर्मास्तिकाय आदि अजीव द्रव्य का वर्णन है । छट्ठे अध्याय में आश्रव तत्त्व, सातवें अध्याय में महाव्रत और अणुव्रत, आठवें अध्याय में बंध तत्त्व, नौवें अध्याय में संवर और निर्जरा तत्त्व व दसवें अध्याय मे मोक्ष तत्त्व का सुंदर निरूपण है ।

## परम पूज्य आचार्यदेव श्रीमद् विजय
## रत्नसेनसूरीश्वरजी म. सा. का संक्षिप्त परिचय

| | | |
|---|---|---|
| **गृहस्थ नाम** | : | राजु (राजमल चोपड़ा) |
| **माता का नाम** | : | चंपाबाई |
| **पिता का नाम** | : | छगनराजजी गेनमलजी चोपड़ा |
| **जन्मभूमि** | : | बाली (राज.) |
| **जन्मतिथि** | : | भादों सुद-3, संवत् 2014 दि. 16-9-1958 |
| **बचपन में धार्मिक अभ्यास** | : | पंच प्रतिक्रमण-नवस्मरण आदि |
| **ब्रह्मचर्यव्रत स्वीकार** | : | 18 जून 1974 |
| **व्यावहारिक अभ्यास** | : | 1st year B.Com.<br>(श्री पार्श्वनाथ उम्मेद कॉलेज फालना-राज.) |
| **दीक्षादाता** | : | पू.पं. श्री हर्षविजयजी गणिवर्य |
| **गुरुदेव** | : | अध्यात्मयोगी **पू. पंन्यास श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्य** |
| **दीक्षादिवस** | : | माघ शुक्ला 13, विक्रम संवत् 2033<br>दि. 2-2-1977 |
| **समुदाय** | : | शासन प्रभावक पू.आचार्यदेव श्रीमद् विजय **रामचन्द्रसूरीश्वरजी म.सा.** |
| **दीक्षादिवस विशेषता** | : | भारत भर में लगभग 50 से अधिक दीक्षाएँ |
| **108 मुमुक्षु वरघोड़ा** | : | 9 जनवरी 1977, मुंबई |
| **दीक्षा स्थल** | : | न्याति नोहरा-बाली राज. |
| **दीक्षा समय उम्र** | : | 18 वर्ष |
| **बड़ी दीक्षा** | : | फाल्गुन शुक्ला 12, वि.संवत् 2033, दि.1-3-1977 |
| **बड़ी दीक्षा स्थल** | : | घाणेराव (राज.) |
| **प्रथम चातुर्मास** | : | संवत् 2033 पाटण<br>पू.पं. श्री हर्षविजयजी के सान्निध्य में |

◆ **अभ्यास :** प्रकरण, भाष्य, 6 कर्मग्रंथ, कम्मपयडी, पंचसंग्रह, न्याय, काव्य, कोश, संस्कृत-प्राकृत व्याकरण, संस्कृत-प्राकृत साहित्य वाचन, ज्योतिष, आगम वाचन आदि.

◆ **भाषाबोध :** हिन्दी, अंग्रेजी, गुजराती, राजस्थानी, संस्कृत, प्राकृत, मराठी आदि

◆ **प्रथम प्रवचन :** फागुन सुदी 14, विक्रम संवत् 2034 पाटण (गुजरात)

◆ **चातुर्मासिक प्रवचन प्रारंभ :** बाली, विक्रम संवत् 2038

◆ **चातुर्मासिक प्रवचन :** बाली (दो बार), पाली (दो बार), रतलाम, अहमदाबाद (ज्ञानमंदिर), पाटण, सुरेन्द्रनगर, रानीगाँव, पिंडवाड़ा, उदयपुर, जामनगर, अहमदाबाद (गिरधरनगर), थाणा, कल्याण, दादर (मुंबई), सायन (मुंबई), धूलिया, कराड़, चिंचवड़, भायंदर, पूना, येरवड़ा, दीपक ज्योति टॉवर, श्रीपाल नगर, कर्जत, भिवंडी (दो बार), कल्याण (दो बार), रोहा, भायंदर (दो बार), पालीताणा (दो बार), नासिक, बेंगलोर, मैसूर, कोयम्बतूर, चैन्नई, विजयपुर ।

◆ **विहार क्षेत्र :** राजस्थान, गुजरात, मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र, कर्णाटक, तामिलनाडु आदि

◆ **पाद विहार :** आज तक लगभग 43,000 K.M.

◆ **छ'री पालक निश्रादाता :** उदयपुर से केशरियाजी, गिरधरनगर से शंखेश्वर, धूलिया से नेर, कराड़ से कुंभोज, सोलापुर से बार्शी, भिवंडी से महावीर धाम, कर्जत से मानस मंदिर, हस्तगिरि से शत्रुंजय-गिरनार, सेवाडी से राणकपुर पंचतीर्थी शत्रुंजय बारह गाऊ, बेंगलोर से सुशीलधाम, कोयम्बत्तूर से अव्वलपुंदरी ।

◆ **प्रथम पुस्तक आलेखन : वात्सल्य के महासागर** विक्रम संवत् 2038

◆ **अद्यावधि प्रकाशित पुस्तकें :** 230

◆ **संस्कृत साहित्य संपादन-सह संपादन :** सिद्ध हैमशब्दानुशासनम्-बृहद्वृत्ति लघु न्यास सह, पांडवचरित्र आदि

◆ **शिष्य-प्रशिष्य : स्व. मु. श्री उदयरत्नविजयजी, मुनि केवलरत्नविजयजी, स्व.मुनि कीर्तिरत्नविजयजी, मुनि प्रशांतरत्नविजयजी, मुनि शालिभद्रविजयजी, मुनि स्थूलभद्रविजयजी, स्व. मुनि यशोभद्रविजयजी, मुनि विमलपुण्यविजयजी**

◆ **उपधान निश्रा दाता :** कुर्ला, धुले, येरवडा, आदीश्वर धाम (दो बार), कर्जत, विक्रोली, मोहना, पालीताणा (दो बार), सेसली, कीर्तिस्तंभ (घाणेराव) नासिक, सुशीलधाम (बेंगलोर), मैसूर ।

◆ **गणि पदवी :** वैशाख वदी-6, संवत् 2055, दि.7-5-1999 चिंचवड गाँव, पूना ।

◆ **पंन्यास पदवी :** कार्तिक वदी-5, संवत् 2061, दि.2-12-2004 श्रीपालनगर, मुंबई ।

◆ **आचार्य पदवी :** पौष वदी-1, संवत् 2067, दि.20-1-2011 थाणा ।

# अनुक्रमणिका


| क्र. | क्या ? | पृष्ट नं |
|---|---|---|
| 1. | **प्रथम अध्याय मोक्षमार्ग** | **1** |
| | सम्यग्दर्शन का निरूपण | 5 |
| | सम्यग्दर्शन के भेद | 10 |
| | तत्त्वों का स्वरूप | 18 |
| | तत्त्वों को समझने के लिए चार निक्षेप | 19 |
| | जीव आदि के चार निक्षेप | 20 |
| | तत्त्वज्ञान के साधन | 22 |
| | अन्य साधन | 24 |
| | ज्ञान के प्रकार | 27 |
| | प्रमाण की अपेक्षा से पाँच ज्ञान | 28 |
| | मतिज्ञान के पर्यायवाची नाम | 29 |
| | मतिज्ञान के निमित्त | 30 |
| | मतिज्ञान के भेद | 31 |
| | अवग्रह आदि के भेद | 32 |
| | अवग्रह आदि के विषय | 34 |
| | व्यंजनावग्रह के विषय में अभाव | 35 |
| | श्रुतज्ञान के लक्षण और भेद | 38 |
| | चौदह पूर्व का प्रमाण | 42 |
| | श्रुतज्ञान के 20 भेद | 46 |
| | अवधिज्ञान के भेद | 48 |
| | भवप्रत्यय अवधिज्ञान | 49 |
| | क्षयोपशम प्रत्यय अवधिज्ञान | 50 |
| | मन:पर्याय ज्ञान के भेद | 52 |
| | मन:पर्याय ज्ञान के भेदों में विशेषता | 53 |
| | अवधिज्ञान और मन:पर्याय ज्ञान में भेद | 54 |
| | मतिज्ञान और श्रुतज्ञान का विषय | 55 |
| | अवधिज्ञान और मन:पर्यायज्ञान का विषय | 56 |
| | केवलज्ञान का विषय | 57 |
| | एक जीव को एक साथ कितने ज्ञान ? | 57 |
| | मतिज्ञान आदि तीन ज्ञान में विपरीतता | 58 |
| | मिथ्यादृष्टि के विपरीत ज्ञान में कारण | 59 |
| | नय का स्वरूप | 60 |
| | अध्याय 1 चार्ट | 70 |
| 2. | **द्वितीय अध्याय-जीव के भाव** | **74** |
| | भावों के भेद | 75 |
| | औपशमिक भाव के भेद | 76 |
| | क्षायिक भाव के भेद | 76 |
| | क्षायोपशमिक भाव के भेद | 77 |
| | औदयिक भाव के भेद | 78 |
| | छ लेश्याएँ | 79 |
| | पारिणामिक भाव के भेद | 83 |
| | जीव का लक्षण | 83 |
| | उपयोग के भेद | 84 |
| | जीव के मुख्य भेद | 85 |
| | मन की अपेक्षा जीव के भेद | 85 |
| | संसारी जीवों के भेद | 87 |
| | स्थावर जीव | 87 |
| | त्रस जीव | 88 |
| | इन्द्रियों की संख्या एवं भेद | 90 |
| | उपयोग भावेन्द्रिय के विषय एवं इन्द्रियों का स्वरूप | 93 |
| | मन का विषय | 96 |
| | एकेन्द्रिय आदि के उदाहरण | 97 |
| | संज्ञी जीवों की विशेषता | 98 |

| क्र. | क्या ? | पृष्ट नं |
|---|---|---|
| | विग्रह गति–चिंतन | 100 |
| | जीव व पुद्गल की गति | 101 |
| | सिद्ध आत्माओं की गति | 101 |
| | संसारी आत्मा की गति | 102 |
| | किस जीव को कौनसी गति ? | 103 |
| | अविग्रह गति का काल | 105 |
| | आहार के अभाव का काल | 105 |
| | जन्म के प्रकार | 106 |
| | योनि के भेद | 106 |
| | गर्भ रूप जन्म के प्रकार | 108 |
| | उपपात जन्म | 109 |
| | सम्मूर्च्छन जन्म | 109 |
| | शरीर के भेद | 110 |
| | स्थूल व सूक्ष्म शरीर | 113 |
| | शरीरों में प्रदेशों का विचार | 113 |
| | तैजस और कार्मण शरीर के प्रदेश | 114 |
| | तैजस और कार्मण शरीर की विशेषताएँ | 115 |
| | एक साथ कितने शरीर ? | 116 |
| | कार्मण शरीर | 117 |
| | औदारिक शरीर | 118 |
| | वैक्रिय शरीर | 118 |
| | आहारक शरीर | 119 |
| | वेद के प्रकार | 119 |
| | आयुष्य के प्रकार और उनके स्वामी | 121 |
| | आयुष्य बंध के दो प्रकार | 122 |
| | अध्ययन-2-चार्ट | 123 |
| 3. | **तृतीय अध्याय** | |
| | 7 पृथ्वियों के नाम एवं नरकावास का वर्णन | 127 |
| | नरक में लेश्यादि की अशुभता | 131 |

| क्र. | क्या ? | पृष्ट नं |
|---|---|---|
| | परस्पर-जनित पीड़ा | 137 |
| | परमाधार्मिक कृत पीडा | 137 |
| | नारकों का उत्कृष्ट आयुष्य | 140 |
| | मध्य लोक में द्वीप–समुद्र | 141 |
| | मेरुपर्वत | 145 |
| | जंबूद्वीप के क्षेत्र | 151 |
| | वर्षधर पर्वत | 157 |
| | धातकी खंड में क्षेत्र और पर्वत | 164 |
| | पुष्करार्ध द्वीप के क्षेत्र और पर्वत | 167 |
| | मनुष्य क्षेत्र की मर्यादा | 168 |
| | मनुष्य के भेद | 169 |
| | कर्मभूमि की संख्या | 170 |
| | अवसर्पिणी काल के छह आरे | 174 |
| | मनुष्य और तिर्यंच का जघन्य और उत्कृष्ट आयुष्य | 178 |
| | अध्याय-3-चार्ट | 180 |
| | चतुर्थ अध्याय-देवों के भेद | 181 |
| | ज्योतिष्क देवों की लेश्याएं | 182 |
| | देवों के भेद | 183 |
| | कल्पोपपन्न देवों के प्रकार | 183 |
| | व्यंतर–ज्योतिष देवों में विशेषता | 185 |
| | भवनपति और व्यंतर में इन्द्र | 185 |
| | भवनपति और व्यंतर निकाय में लेश्या | 190 |
| | देवताओं के काम-भोग | 190 |
| | भवनपति के दस भेद | 192 |
| | व्यंतर निकाय के आठ भेद | 195 |
| | ज्योतिष निकाय के पाँच भेद | 197 |
| | ज्योतिष विमानों का परिभ्रमण क्षेत्र | 198 |
| | ज्योतिष विमानों के परिभ्रमण से काल | 199 |
| | मनुष्यलोक के बाहर ज्योतिष की स्थिरता | 200 |

| क्र. | क्या ? | पृष्ट नं |
|---|---|---|
| | वैमानिक देवता | 201 |
| | स्थिति आदि में वृद्धि | 211 |
| | गति आदि में हीनता | 213 |
| | वैमानिक देवों में लेश्या | 215 |
| | कल्प की सीमा | 216 |
| | लोकान्तिक देवों के स्थान व नाम | 216 |
| | अनुत्तर विमानों में देवों का संसार काल | 217 |
| | तिर्यंच गति के जीव | 218 |
| | जीवों की स्थिति | 218 |
| | भवनपति इन्द्रों की उत्कृष्ट स्थिति | 219 |
| | वैमानिक देवों की उत्कृष्ट स्थिति | 219 |
| | जघन्य स्थिति | 220 |
| | नारकों का जघन्य आयुष्य | 222 |
| | भवनपति का जघन्य आयुष्य | 223 |
| | व्यंतरों की जघन्य–उत्कृष्ट स्थिति | 223 |
| | ज्योतिष देवों की उत्कृष्ट–जघन्य स्थिति | 224 |
| | अध्याय-4-चार्ट | 225 |
| 5. | **पंचम अध्याय** | |
| | अजीव तत्त्व के मुख्य भेद | 228 |
| | पंचास्तिकाय में जीव द्रव्य | 238 |
| | धर्मास्तिकाय आदि द्रव्यों में समानता–असमानता | 238 |
| | तीन द्रव्यों की एकता | 240 |
| | द्रव्यों में निष्क्रियता | 240 |
| | द्रव्यों में प्रदेशों का परिमाण | 241 |
| | पुद्गल-प्रदेशों का परिमाण | 244 |
| | परमाणु के प्रदेश | 245 |
| | धर्मास्तिकाय आदि द्रव्यों का आधार क्षेत्र | 245 |
| | धर्मास्तिकाय आदि के स्थिति-क्षेत्र | 246 |

| क्र. | क्या ? | पृष्ट नं |
|---|---|---|
| | आत्मा के संकोच और प्रसारण का हेतु | 249 |
| | धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय के लक्षण | 251 |
| | आकाशास्तिकाय का लक्षण | 253 |
| | पुद्गल द्रव्य के उपकार | 255 |
| | पुद्गल द्रव्य के अन्य उपकार | 261 |
| | जीवों के परस्पर उपकार | 264 |
| | काल का उपकार | 264 |
| | पुद्गल का लक्षण | 268 |
| | पुदगलों के शब्दादि परिणाम | 269 |
| | पुद्गल के मुख्य दो भेद | 275 |
| | स्कंध की उत्पत्ति के कारण | 276 |
| | परमाणु की उत्पत्ति | 278 |
| | भेद और संघात की विशेषता | 279 |
| | सत् का लक्षण | 280 |
| | नित्य का लक्षण | 282 |
| | स्याद्वाद की पहचान | 284 |
| | पुद्गलों के बंध में कारण | 294 |
| | बंध के विषय में प्रथम अपवाद | 295 |
| | दूसरा अपवाद | 296 |
| | तीसरा अपवाद | 297 |
| | बंध के पश्चात् स्पर्श परिणाम | 299 |
| | द्रव्य का लक्षण | 301 |
| | काल का वर्णन | 303 |
| | काल का विशेष स्वरूप | 303 |
| | गुण का लक्षण | 305 |
| | परिणाम का लक्षण | 306 |
| | परिणाम के दो भेद | 307 |
| | अनादिमान परिणाम | 307 |
| | जीवों में आदिमान परिणाम | 308 |
| | अध्याय-5-चार्ट | 309 |

# "श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्र"

## प्रथम अध्याय

### मोक्षमार्ग

**सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः ॥1-1॥**

**सामान्य अर्थ :–** सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र–ये तीनों मिलकर मोक्षमार्ग हैं ।

**विवेचन :–** 500 धर्मग्रंथों के प्रणेता वाचकवर्य श्री उमास्वातिजी महाराज ने सूत्रात्मक रूप इस तत्त्वार्थाधिगम सूत्र के सबसे पहले सूत्र में मोक्ष का मार्ग बताया है । सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनों मिलकर मोक्षमार्ग बनता है ।

इस जगत् में धर्म-अर्थ-काम और मोक्ष – ये चार पुरुषार्थ हैं । इन पुरुषार्थों में अर्थ व काम पुरुषार्थ पापकर्मबंध के मुख्य कारण और भवभ्रमण के हेतु होने से त्याग करने योग्य हैं । फिर भी संसार में रहे सभी जीव सुख प्राप्ति की इच्छा और दुःख से मुक्त होने के लिए अर्थ और काम पुरुषार्थ में ही प्रयत्नशील रहते हैं । परंतु इनसे मिलने वाला सुख क्षणिक और क्षणभंगुर होने से वास्तव में दुःखजनक ही है ।

पर्वत का दृश्य दूर से सुहावना लगता है, पास जाने पर तो मात्र पत्थर ही पत्थर मिलते हैं । शांत अथवा उछलता सागर देखने में बड़ा सुहावना लगता है, परंतु भीतर में तो खारा पानी और भयंकर जलचर प्राणियों से भरा होने से अत्यंत बिहावना है । वैसे ही संसार के भौतिक सुख प्रारंभ में मधुर लगते हैं परंतु परिणाम में तो अत्यंत ही दारुण और दुःखदायी हैं ।

संसार में भौतिक सुख अनेक रीति से कलंकित है ।

**(1) संसार का सुख पुण्य को आभारी है :–** संसार में जो भी सुख मिलता है, वह पुण्य से ही मिलता है । पुण्य का साथ है तभी तक सभी जगह सुख है और पुण्य के साथ छोड़ देने पर अपनों के बीच भी भयंकर दुःख ही है ।

**(2) संसार का सुख हमेशा अपूर्ण है :–** संसार में किसी को भी पूर्ण सुख नहीं होता है । कहीं न कहीं तो अवश्य कमी होती है । कोई धन से सुखी है तो तन से दुःखी है । कोई तन से सुखी है तो परिवार से दुःखी है । कोई परिवार से सुखी है तो धन से दुःखी है । संसार में कोई भी जीव, चाहे वह चक्रवर्ती हो या देवता, सभी तरह से सुखी नहीं है ।

**(3) सांसारिक सुख के पूर्व दुःख जरूरी है :–** जब तक पूर्व में दुःख का अनुभव नहीं हो, तब तक सुख का कोई भी साधन हमें सुखी नहीं बना सकता है । जैसे–भोजन के सुख के पहले भूख का दुःख जरूरी है । A.C. और कूलर के सुख के पहले गर्मी का दुःख जरूरी है । यदि पूर्व में दुःख न हो तो वही साधन हमें दुःख का कारण बनता है । जैसे–सर्दी के दिनों में ठंडी हवा या ठंडा पानी जुकाम और बुखार का ही कारण बनता हैं ।

**(4) संसार का सुख पापबंध का कारण है :–** जीवात्मा को सुख के भोग में आनंद आता है, जो रागभाव का वर्धक है । राग और द्वेष ही नवीन पापकर्म के मुख्य कारण हैं । प्रायः राग और द्वेष के बिना सुख का भोग शक्य नहीं है ।

**(5) संसार के भोगसुख में असंख्य जीवों की हिंसा है :–** संसार का सुख हिंसा के बिना अशक्य है । ताजगी का अनुभव करने हेतु लोग चाय पीते हैं, परंतु एक कप चाय के पीछे जल, अग्नि, वायु आदि के असंख्य जीवों की हिंसा होती है । एक सामान्य सुख में भी इतने जीवों

की हिंसा है, तो मैथुन सेवन आदि के सुखों की हिंसा का तो क्या कहना ? शास्त्रकारों ने एक बार के मैथुन-सेवन में असंख्य द्वीन्द्रिय जीवों और दो से नौ लाख तक संमूर्छिम पंचेन्द्रिय मनुष्यों की हिंसा बताई है ।

**(6) संसार का सुख, परिणाम में दुःखदायी है :–** विषमिश्रित लड्डू खाने पर स्वाद तो मीठा लगता है, परंतु परिणाम में मृत्यु ही होती है । वैसे ही पाँच इन्द्रियों के विषयभोग भी प्रारंभ में मधुर लगते हैं, परंतु परिणाम में अत्यंत दुःखदायी है । क्षणिक भोगसुख इस जन्म में रोग–शोक का कारण बनते हैं और पुनर्जन्म में नरक और निगोद की भयंकर वेदना प्रदान करते हैं ।

ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती ने मात्र 700 वर्षों तक चक्रवर्तीपने का सुख भोगा और सजा के रुप में 33 सागरोपम तक सातवीं नरक के दुःख मिले । एक मिनिट का सुख भी हजारों-लाखों वर्षों का दुःख देने वाला बना ।

**(7) संसार के सुख में पराधीनता है :–** संसार का सुख स्वाधीन नहीं है, सभी सुखों में किसी-न-किसी व्यक्ति या वस्तु की गुलामी करनी पड़ती है । जैसे-भोजन का सुख पाने के लिए खाद्य पदार्थ, चूल्हा, अग्नि, ईंधन, रसोइया, शरीर की स्वस्थता, भूख की पीड़ा, तृष्णा आदि अनेक की पराधीनता रही हुई है ।

**(8) संसार का सुख विनाशी है :–** संसार के सभी पदार्थ पुद्गलों से बने हैं और नष्ट होना पुद्गल का स्वभाव है । जगत् में जिसकी उत्पत्ति है, उसका विनाश है । जिसका उदय है, उसका अस्त है । जिसका सर्जन है, उसका विसर्जन है । जिसका प्रारंभ है, उसका अंत है । अतः संसार के सभी सुख, विनाशी हैं । विनाशी ऐसे संसार के सुखों में राग करना महामूर्खता ही है !

**(9) संसार का सुख, मात्र दुःखप्रतिकारक रूप है :–** पहले जीवन में दुःख आता है, फिर बाह्य निमित्तों को पाकर हमें दुःख में राहत का अनुभव होता है, जिसे हम सुख मान बैठते हैं । जैसे-पहले

भूख का दुःख था, फिर भोजन किया तो वह दुःख कम हो गया और हमने भोजन को सुख मान लिया। वास्तव में वह भोजन सुख रूप नहीं बल्कि भूख के दुःख के प्रतिकार स्वरूप है।

ऐसे अनेक कलंकों वाले संसार के भौतिक सुख को सच्चा सुख मानना, यह एक भ्रम ही है। सच्चा सुख तो स्वाधीन और स्वाभाविक होना चाहिए, जो मात्र मोक्ष में ही है। अतः हमारा पुरुषार्थ मोक्ष के सुखों को पाने के लिए होना चाहिए। इसलिए ज्ञानियों ने अर्थ और काम पुरुषार्थ को सर्वथा त्याज्य और धर्म व मोक्ष पुरुषार्थ को आचरणीय कहा है। जिसमें मोक्ष हमारा साध्य है और धर्म साधन है। धर्म पुरुषार्थ से ही मोक्ष पुरुषार्थ सिद्ध किया जा सकता है।

जैसे हरड़, बहेड़ा और आँवला के मिश्रण से शारीरिक रोगनिवारक त्रिफला औषधि बनती है, वैसे ही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र तीनों के संयोजन से आत्मिक रोग निवारक औषध स्वरूप मोक्ष मार्ग बनता है।

सूत्र में सम्यग् शब्द एक बार होने पर भी उसका उपयोग तीन बार करना है। अर्थात् दर्शन–ज्ञान और चारित्र, तीनों सम्यक् होने जरूरी हैं। मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र मोक्षमार्ग नहीं बन सकता। सम्यक् यानी सही अथवा प्रशस्त।

***सम्यग्दर्शन यानी जीवादि तत्त्वों पर श्रद्धा।***
***सम्यग्ज्ञान यानी जीवादि तत्त्वों का यथार्थ बोध और***
***सम्यक्चारित्र यानी तत्त्व के बोध और श्रद्धा सहित सत्क्रिया में प्रवृत्ति।***

इन तीनों में से एक का भी अभाव, पूर्ण रूप से मोक्षमार्ग नहीं बन सकता है। इनकी प्राप्ति क्रमशः होती है। उत्तर-उत्तर के लाभ में पूर्व-पूर्व के गुण का लाभ अवश्य होता है। अर्थात् सम्यक्चारित्र के लाभ होने पर पूर्व के सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान का लाभ अवश्य होता है परंतु सम्यग्दर्शन या सम्यग्ज्ञान होने पर सम्यक्चारित्र हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता है।

नीचे दिए कोष्ठक द्वारा इसे आसानी से समझ सकते हैं–

| | | |
|---|---|---|
| **सम्यग्दर्शन होने पर** | सम्यग्ज्ञान हो भी/न भी हो | सम्यक्चारित्र हो भी/न भी हो |
| **सम्यग्ज्ञान होने पर** | सम्यग्दर्शन अवश्य होता है | सम्यक्चारित्र हो भी/न भी हो |
| **सम्यक्चारित्र होने पर** | सम्यग्दर्शन अवश्य होता है | सम्यग्ज्ञान अवश्य होता है |

एक अपेक्षा से ऐसा भी कहा जाता है कि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान, दोनों एक साथ ही प्राप्त होते हैं, क्योंकि आत्मा में जब सम्यग्दर्शन गुण पैदा होता है, तब उसमें रहा ज्ञान भी सम्यग्ज्ञान हो जाता है और सम्यग्दर्शन के चले जाने पर, उसका ज्ञान भी मिथ्याज्ञान हो जाता है ।

सामान्य से भारत देश में रहे सभी दर्शनों में मोक्ष के लिए एक मान्यता है कि मोक्ष में दुःख का अत्यंत अभाव है । परंतु मोक्षमार्ग के विषय में सभी दर्शनों की मान्यताएँ भिन्न-भिन्न हैं । इसलिए ग्रंथकारश्री ने इस ग्रंथ में सबसे पहले ही सूत्र में मोक्षमार्ग का निरूपण किया है ।

## सम्यग्दर्शन का निरूपण

### तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् ।।1-2।।

**सामान्य अर्थ :–** तत्त्वभूत पदार्थों की श्रद्धा को सम्यग्दर्शन कहते हैं ।

**विवेचन :–** तत्त्वभूत जीव आदि पदार्थों का जैसा स्वरूप है, उन्हें उसी रूप में मानना, उसे सम्यग्दर्शन कहते हैं । श्रद्धा, सम्यग्दर्शन, समकित, सम्यक्त्व आदि सभी समानार्थी शब्द हैं ।

तारक तीर्थंकर परमात्मा केवलज्ञान की प्राप्ति के बाद अपने

केवलज्ञान के बल से जगत् के यथार्थ स्वरूप को जानकर जीवों के आत्म-कल्याण के लिए जीव आदि तत्त्वों का यथार्थ स्वरूप समझाते हैं ।

तारक तीर्थंकर परमात्मा पूर्णज्ञानी सर्वज्ञ थे और साथ में वीतराग भी थे ! ज्ञानी भी यदि राग–द्वेष से युक्त हो तो वे भी झूठ बोल सकते हैं ।

कई बार व्यक्ति अज्ञानता अर्थात् जानकारी के अभाव में झूठ बोलता है, तो कई बार व्यक्ति सत्य को जानने पर भी मोह के कारण झूठ बोलता है ।

जो वीतराग और सर्वज्ञ हो, उन्हें झूठ बोलने का कोई प्रयोजन नहीं है, क्योंकि एक ओर वे पूर्णज्ञानी हैं तो दूसरी ओर उनमें राग-द्वेष का अभाव है ।

ऐसे सर्वज्ञ भगवंतों के कथित वचनों को जानने से एवं उन पर श्रद्धा करने से हमें सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है ।

एक अपेक्षा से ज्ञान को सम्यक्त्व और चारित्र दोनों का हेतु कहा है । ज्यों-ज्यों ज्ञान बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों उस विषय की श्रद्धा दृढ़ होती है ।

विज्ञान का विद्यार्थी, ज्यों-ज्यों विज्ञान के विषय में जानकरी प्राप्त करता जाता है, त्यों-त्यों विज्ञान पर की उसकी श्रद्धा दृढ़ होती है ।

लोक व्यवहार में भी हम देखते हैं कि किसी व्यक्ति की एक बात पर विश्वास बैठने पर हम उसकी दूसरी बात पर भी विश्वास करते हैं । **'पुरुष विश्वासे वचन विश्वास ।'**

बस, इसी प्रकार वीतराग प्रभु के द्वारा कहे गए जीव आदि तत्त्वों का सत्य बोध होने पर, प्रभु के अन्य वचनों पर भी मन में श्रद्धा पैदा होती है ।

सद् आचरण की सफलता भी पदार्थों के सत्यबोध पर निर्भर करती है ।

**ठीक ही कहा है—**

**'विना द्रव्य अनुयोग विचार, नहीं चरण करणनो सार ।'**

सम्यग्ज्ञान के अभाव में सम्यक्चारित्र का पालन भी संभव नहीं है ।

**सम्यक्त्व की प्राप्ति के दूसरे हेतु कहते हैं :–** ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम न होने से यदि जीव आदि पदार्थों का सम्यग्बोध न भी हो परंतु दर्शन मोहनीय के क्षयोपशम के कारण जो जिनेश्वर भगवंत के वचनों पर पूर्ण श्रद्धा रखता हो, उसे भी सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है ।

***पदार्थ–बोध के लिए ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम चाहिए, जबकि जिन–वचन पर श्रद्धा के लिए दर्शन मोहनीय कर्म का क्षयोपशम चाहिए ।***

सम्यक्त्व की प्राप्ति का मुख्य आधार दर्शन मोहनीय कर्म का क्षयोपशम है । ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम तीव्र हो, परंतु दर्शन-मोहनीय का क्षयोपशम बिल्कुल न हो तो भी सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं होती है ।

ज्ञानावरणीय कर्म का उदय हो परंतु दर्शन-मोहनीय का क्षयोपशम हो जाय तो भी उस आत्मा को जिनेश्वर भगवंत के वचनों पर पूर्ण श्रद्धा हो सकती है, जिसके फलस्वरूप वह आत्मा सम्यग्दर्शन अर्थात् सम्यक्त्व प्राप्त करती है ।

मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति 70 कोड़ाकोड़ी सागरोपम की है, वह स्थिति घटकर जब अंतःकोटाकोटी सागरोपम की हो जाती है, तभी आत्मा में सम्यक्त्व के परिणाम पैदा हो सकते हैं ।

मोहनीय कर्म की स्थिति-ह्रास के बाद जब आत्मा में अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण के अध्यवसाय पैदा होते हैं, तभी आत्मा सम्यक्त्व प्राप्त कर सकती है ।

जब तक आत्मा रागद्वेष से युक्त होती है, तभी तक उस आत्मा के असत्य बोलने की संभावना रहती है । वीतराग बनी आत्मा कभी भी असत्य-उच्चार नहीं करती है ।

ऐसे परमात्मा के सभी वचन पूर्ण सत्य रूप होते हैं, उनमें असत्य का लेश भी अंश नहीं होता है। परमात्मा के सभी वचनों पर जिसके दिल में पूर्ण श्रद्धा होती है, उस आत्मा में सम्यक्त्व पैदा होता है, परंतु जिसे प्रभु के किसी एक वचन पर भी अश्रद्धा होती है, उस आत्मा में सम्यक्त्व नहीं रहता है।

प्रभु के 99% वचनों पर विश्वास हो, परंतु एक भी वचन पर अविश्वास हो तो भी आत्मा में सम्यक्त्व टिकता नहीं है।

आंशिक रूप से चारित्र का पालन करे तो भी लाभ ही होता है, परंतु सम्यक्त्व तो पूर्ण ही चाहिए। प्रभु के कुछ वचनों में श्रद्धा करे और कुछ में नहीं, तो यह नहीं चल सकता है।

ठीक ही कहा है –

**'पयमक्खरंपि इक्कं, जो न रोएइ सुत्तनिद्दिट्ठं।**
**सेसं रोयंति वि हु, मिच्छादिट्ठी मुणेयव्वो।'**

**अर्थ :–** सूत्र में निर्दिष्ट एक पद या एक अक्षर को भी नहीं माननेवाला अन्य शेष को मानने पर भी मिथ्यादृष्टि हो जाता है।

जिनवचन पर श्रद्धा 100% ही चाहिए, उसमें 1% भी अश्रद्धा को अवकाश नहीं है।

कई बार हो सकता है कि अतीन्द्रिय पदार्थों के रहस्य को समझना, हमारी बुद्धि के बाहर की बात हो। अपनी अल्पबुद्धि या अल्प क्षयोपशम के कारण जिनेश्वर परमात्मा द्वारा निर्दिष्ट सूक्ष्म पदार्थों के रहस्य को हम न भी समझें, फिर भी हमारे दिल में जिनवचनों में लेश भी शंका को स्थान नहीं होना चाहिए।

जिनेश्वर प्रभु के वचनों में शंका पैदा होते ही हम सम्यक्त्व से भ्रष्ट हो जाते हैं। हमारा सम्यक्त्व मलिन या दूषित हो जाता है। अतः

अत्यंत ही दुर्लभ ऐसे सम्यक्त्व को जीवंत रखना हो तो जिनवचनों के प्रति हमारे दिल में पूर्ण श्रद्धा और आस्था का भाव होना चाहिए ।

***जिन आत्माओं ने एक अन्तर्मुहूर्त मात्र काल के लिए भी सम्यक्त्व का स्पर्श किया हो, वे आत्माएँ अधिकतम अर्ध पुद्गल परावर्तन काल तक ही संसार में भटकती हैं, उससे अधिक नहीं ।***

पारसमणि का स्पर्श होते ही लोहा-सोना बन जाता है । बस, इसी प्रकार सम्यग्दर्शन का स्पर्श होते ही आत्मा के शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति के द्वार खुल जाते हैं ।

वास्तव में देखा जाय तो सम्यग्दर्शन यह कोई बाह्य वस्तु नहीं है कि जिसका हाथ से स्पर्श किया जा सके । सम्यग्दर्शन यह तो आत्मा का निर्मल परिणाम है ।

***दो समय को जघन्य अन्तर्मुहूर्त कहते हैं । एक समय से अधिक और दो घड़ी में एक समय न्यून काल को उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त कहा जाता है । इतने समय के लिए भी आत्मा में सम्यग्दर्शन के अध्यवसाय पैदा हो जाँय तो वह आत्मा अर्ध पुद्गल परावर्त काल से अधिक संसार में नहीं भटकती है ।***

यद्यपि सम्यग्दर्शन का स्पर्श तो आत्मा को उसी भव में भी मोक्ष दिलाने में समर्थ है, कदाचित् वह आत्मा संसार में परिभ्रमण करे तो भी 7-8 या 15-20 भवों से अधिक नहीं करती है, परंतु एक बार सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के बाद वहाँ से च्युत होकर भयंकर पाप कर्म का बंध करे, तीर्थंकर परमात्मा या प्रभु द्वारा स्थापित शासन की घोर आशातना करे तो भी वह आत्मा अर्ध-पुद्गल-परावर्त काल से अधिक संसार में नहीं भटकती है ।

अर्थात् एक बार भी सम्यक्त्व के परिणाम को प्राप्त हुई आत्मा कुछ न्यून अर्ध-पुद्गल-परावर्तन काल के भीतर ही पुनः सम्यक्त्व प्राप्त कर चारित्र धर्म प्राप्त करती है और उस चारित्र धर्म की निर्मल आराधना कर अवश्य शाश्वत अजरामर मोक्षपद प्राप्त करती है ।

## सम्यग्दर्शन के भेद

**तन्निसर्गादधिगमाद् वा ।।1-3।।**

**सामान्य अर्थ :–** वह सम्यग्दर्शन सहजता से अथवा उपदेश से प्राप्त होता है ।

**विवेचन :–** सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के दो हेतु है - निसर्ग और अधिगम ।

जैसे-पानी के फुआरे दो प्रकार के होते हैं - 1. स्वाभाविक 2. कृत्रिम । जमीन में जहाँ पर पानी की सिराएँ पसार होती हैं वहाँ हवा के दबाव के कारण छिद्रों में से वह पानी स्वतः उछलता है, जिसे Natural spring अर्थात् स्वाभाविक फुआरा कहा जाता है । तथा बाग-बगीचों में जो पंप आदि मशीनों के द्वारा फुआरा रखा जाता है, उसे Artificial spring अर्थात् कृत्रिम फुआरा कहा जाता है ।

**वैसे ही सम्यग्दर्शन की प्राप्ति दो प्रकार से होती है ।**

**(1) निसर्ग सम्यग्दर्शन :–** गुरु के उपदेश, जिनेश्वर परमात्मा की प्रतिमा या आकृति आदि बाह्य आलंबन के बिना ही तथाभव्यत्व के परिपाक से जो सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है, वह निसर्ग सम्यग्दर्शन है ।

**(2) अधिगम सम्यग्दर्शन :–** गुरु के उपदेश, जीवादि तत्त्वों के बोध अथवा जिनेश्वर परमात्मा की प्रतिमा की आकृति आदि बाह्य आलंबन से जो सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है, वह अधिगम सम्यग्दर्शन है ।

सम्यग्दर्शन की प्राप्ति में बाह्य और अंतरंग – दो प्रकार के निमित्त होते हैं । गुरु उपदेश आदि बाह्य निमित्त है और विशिष्ट शुभ परिणाम अंतरंग निमित्त है । केवल अंतरंग निमित्त से होनेवाला सम्यग्दर्शन–निसर्ग सम्यग्दर्शन है और बाह्य तथा अंतरंग निमित्तों से होने वाला सम्यग्दर्शन, अधिगम सम्यग्दर्शन है ।

# सम्यक्त्व और ग्रन्थिभेद की प्रक्रिया

1) अंतर करण के बाद जीव के निर्मल परिणाम से शुद्ध पुंज के उदय से क्षयोपशमिक समकित गुणस्थानक-4 की प्राप्ति ।
2) किसी जीव का मध्यस्थ परिणाम होने पर मिश्रमोहनीय के अर्ध शुद्ध पुंज के उदय से मिश्र गुणस्थानक-3 की प्राप्ति ।
3) किसी जीव के कलुषित परिणाम से अशुद्ध पुंज के उदय से मिथ्यात्व गुणस्थानक-1 की प्राप्ति ।

• त्रिपुंजीकरण प्रक्रिया का प्रारंभ काल
• अपूर्व आत्मानंद की अनुभूति

• अंतरकरण के अंतर्मुहुर्त की अंतिम 6 आवलिका या जघन्य से एक समय बाकी रहने से किसी मंद परिणामी जीव को अनंतानुबंधी का उदय होने से दूसरा सास्वादन गुणस्थानक प्राप्त करके अन्तरकरण के बाद मिथ्यात्व को प्राप्त करता है ।

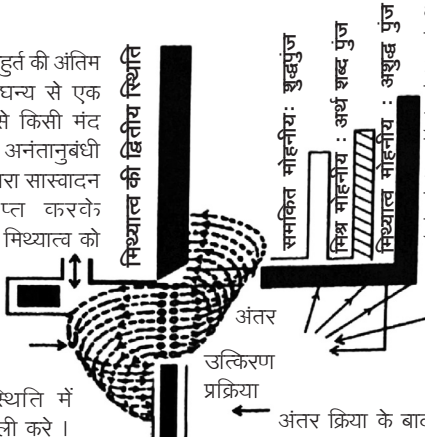


• अंतरकरण काल में अंतर स्थिति गत दलिकों की उपर और नीचे की स्थिति में डालकर संपूर्ण खाली करे ।

• अनिवृत्तिकरण का संख्यातवाँ भाग

• अंतरकरण क्रिया काल संख्यात

बहुभाग
• प्रति समय अध्यवसाय की अनंत गुणविशुद्धि
**अनिवृत्तिकरण में प्रवेश**

**उपशम सम्यक्त्व** की प्राप्ति के साथ कोई जीवको
• देशविरति - 5 वां गुण
• सर्वविरति - 6 ठां गुण
• अप्रमत्त - 7 वां गुण
की स्पर्शना होती है ।

एक साथ प्रवेशक जीवों का समान अध्यवसाय-अनिवृत्ति

४ अपूर्व
१ अपूर्व स्थिति-बंध
२ अपूर्व रसबंध
३ अपूर्व स्थितिघात
४ अपूर्व गुणश्रेणि

**अपूर्वकरण में प्रवेश**

विशुद्ध यथा प्रवृत्तिकरण
• तीव्र संवेग-निर्वेद से ग्रंथिभेद
• भव्य जीवका चरमावर्त में प्रवेश

**ग्रन्थि देश**

निबीड राग द्वेष की गूढ-घन-ग्रंथि

• अर्ध पुद्गल परावर्त काल से अधिक संसार भ्रमण नहीं ।

यथा प्रवृत्तिकरण से भव्य, अभव्य, दुर्भव्य जीव, कर्म की लघुता से अनंती बार ग्रंथी देश पर आकर अपूर्वकरण की विशुद्धि के अभाव से वापस लौटते है ।

चरमावर्ते हो चरमकरणे तथा भवपरिणति परिपाक, दोष टळे वली दृष्टि खुले भली, प्राप्ति प्रवचन वाक् ।।

**संसार के सुख प्रति तीव्र राग**
• नदी-घोल पाषाण न्याय से अनंत यथा प्रवृत्तिकरण के द्वारा आयुष्य कर्म के सिवाय सात कर्मों की स्थिति एक कोडा कोडी सागरोपम में पल्योपम का असंख्यात वा भाग न्युन करे अर्थात् अंत:कोडा कोडी सागरोपम बनाए ।

• गाढ मिथ्यात्व के योग से जीव का संसार में परिभ्रमण
• 84 लाख योनि में
• 14 राजलोक में
• 4 गतियों में अनंत जन्म मरण की परंपरा

• गाढ मिथ्यात्वी 70 कोडा कोडी मिथ्यात्व की स्थिति का बार बार बांधे ।
• भविष्य में मात्र दो बार बांधे वह द्विबंधक, एक बार बांधे वह, सुकृत्बंधक और न बांधे वह अपुनर्बंधक !

**('जैन तत्त्वज्ञान चित्रावली प्रकाश' पुस्तक से साभार ।)**

**सम्यग्दर्शन की प्राप्ति का क्रम–**

अनादिकाल से संसार में परिभ्रमण कर रही आत्मा संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त के भव में तथाभव्यत्व के परिपाक होने पर सर्वप्रथम सम्यक्त्व की प्राप्ति के लिए तीन करण करती है ।

**1) यथा-प्रवृत्तिकरण :–**पर्वत से टूटा हुआ पत्थर नदी में टकराते टकराते गोल-मटोल हो जाता है, इसे **'नदी घोल पाषाण'** कहते हैं । अर्थात् नदी में रहे इस गोल पत्थर को किसी व्यक्ति ने गोल नहीं किया बल्कि सहज हो गया । बस, इसी **'नदी घोल पाषाण न्याय'** की तरह संसार में भटकते–भटकते जब आयुष्य कर्म को छोड़कर शेष कर्मों की स्थिति अंतः कोड़ा कोड़ी सागरोपम हो जाती है अर्थात् पल्योपम के असंख्यातवें भाग न्यून एक कोड़ाकोड़ी सागरोपम की स्थिति होती है, उस समय अनाभोग से अनायास उत्पन्न हुए आत्मा के शुभ परिणाम को यथाप्रवृत्तिकरण कहा जाता है ।

आत्मा जब यथाप्रवृत्तिकरण करती है, उसे **'ग्रंथिदेश'** भी कहा जाता है । ग्रंथि अर्थात् गाँठ ! राग–द्वेष के तीव्र परिणाम को ग्रंथि कहा जाता है ।

अभव्य आत्मा भी अनेकबार इस ग्रंथिदेश तक आती है, परंतु इस ग्रंथि का भेद कभी नहीं करती है । ग्रंथि भेद करने की शक्ति सिर्फ भव्य आत्मा में ही है ।

भव्य आत्मा भी अनेक बार ग्रंथिदेश तक आकर वापस चली जाती है । ग्रंथिदेश तक आनेवाली आत्मा ग्रंथिभेद करेगी ही, ऐसा एकांत नियम नहीं है ।

**2) अपूर्व-करण :–** पहले कभी नहीं आए हुए ऐसे विशुद्ध अध्यवसाय को अपूर्वकरण कहते हैं । इसका काल अन्तर्मुहूर्त जितना ही है ।

जिस प्रकार तीक्ष्ण कुल्हाड़े से लकड़ी में रही गाँठ को भेदा जाता है, उसी प्रकार अपूर्वकरण द्वारा आत्मा राग-द्वेष की तीव्र ग्रंथि (गाँठ) को भेदकर अनिवृत्तिकरण में प्रवेश करती है ।

**3) अनिवृत्तिकरण :–** अनिवृत्ति अर्थात् वापस नहीं लौटना !

जो अध्यवसाय सम्यक्त्व को प्राप्त कराए बिना नहीं रहता हो, उस अध्यवसाय को अनिवृत्तिकरण कहा जाता है अर्थात् अनिवृत्तिकरण के बाद आत्मा अवश्य सम्यक्त्व प्राप्त करती है । इस करण का काल अन्तर्मुहूर्त जितना है ।

**4) अंतर-करण :–** अनिवृत्तिकरण में से संख्याता भाग व्यतीत होने पर जब एक संख्यातवाँ भाग बाकी रहता है, तब जीव अंतरकरण करता है ।

**'अनिवृत्तिकरण के एक संख्यातवें भाग प्रमाण स्थिति के ऊपर अन्तर्मुहूर्त काल प्रमाण स्थिति में रहे मिथ्यात्व के दलिकों को वहाँ से हटाकर कुछ दलिकों को नीचे की स्थिति में तथा कुछ दलिकों को ऊपर की स्थिति में डालकर घास रहित भूमि की तरह मिथ्यात्व के दलिकों से रहित करने की क्रिया को अंतरकरण कहा जाता है ।**

फिर जीव प्रथम स्थिति (नीचे) में रहे दलिकों का भोगकर क्षय करता है और द्वितीय स्थिति में रहे दलिकों को प्रति-समय उपशांत करता रहता है । इस प्रकार करने से जब प्रथम स्थिति में रहे सब दलिक क्षय हो जाते हैं तो उसके ऊपर के अन्तर्मुहूर्त प्रमाण काल में मिथ्यात्व का एक भी दलिक नहीं होता है ।

मिथ्यात्व के दलिक से रहित भूमिका में प्रवेश करते ही जीव उपशम सम्यक्त्व प्राप्त करता है ।

**किसी जन्मांध व्यक्ति को अचानक आँखें प्राप्त होने से जो आनंद होता है...अथवा किसी असाध्य रोग से पीड़ित व्यक्ति को असाध्य रोग दूर होने पर जिस आनंद की अनुभूति होती है, उससे भी अधिक आनंद की अनुभूति सम्यक्त्व की प्राप्ति के समय जीवात्मा को होती है ।**

**सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के आनंद को शब्दों में व्यक्त नहीं किया जा सकता है ।**

उपशम सम्यक्त्व की प्राप्ति होने पर आत्मा अपने विशुद्ध अध्यवसाय द्वारा द्वितीय स्थिति में रहे मिथ्यात्व मोहनीय के दलिकों में से न्यूनाधिक प्रमाण में रस को घटा देती है, जिससे मिथ्यात्व मोहनीय के वे दलिक तीन भागों में विभक्त हो जाते हैं ।

**1) समकित मोहनीय :–** कोद्रव नाम का एक धान्य होता है, जिसको खाने से नशा चढ़ता है, परंतु उस कोद्रव धान्य के छिलके उतार दिए जाँय और उन्हें छाछ से धो दिया जाय तो उनमें रही मादक शक्ति बहुत कम हो जाती है ।

बस, कोद्रव के धान्य समान मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के पुद्गल होते हैं, जो आत्मा को हिताहित की परीक्षा करने में बाधक होते हैं । इनमें सर्वघाती रस होता है, परंतु जीव अपने विशुद्ध अध्यवसायों द्वारा उन कर्मपुद्गलों की सर्वघाती रस शक्ति को घटा देता है, फिर एक स्थानक रस बाकी रहता है, उस एक स्थानक शक्तिवाले मिथ्यात्व मोहनीय के पुद्गलों को सम्यक्त्व मोहनीय कहा जाता है ।

इस कर्म का उदय जीव को औपशमिक और क्षायिक भाववाली तत्त्वरुचि में प्रतिबंध पैदा करता है । यद्यपि यह कर्म शुद्ध होने के कारण तत्त्वरुचि रूप सम्यक्त्व में व्याघात नहीं पहुँचाता है, फिर भी इस कर्म के उदय काल में औपशमिक या क्षायिक सम्यक्त्व नहीं होता है । सूक्ष्म पदार्थ के विचार में शंका रहती है, जिससे सम्यक्त्व में मलिनता आती है ।

**2. मिश्र मोहनीय :–** कोद्रव के धान्य को आधा साफ किया जाय तो उसमें कुछ अंश में मादक शक्ति होती है और कुछ अंश में नहीं । इस प्रकार अध्यवसायों द्वारा अर्धशुद्ध बने मिथ्यात्व के दलिकों को मिश्र मोहनीय कहा जाता है । इस कर्म के उदय में जीव को न तो तत्त्व पर यथार्थ रुचि होती है और न ही अरुचि ।

**3. मिथ्यात्व मोहनीय :–** कोद्रव के अशुद्ध धान्य के पुंज को खाने से जिस प्रकार विकार पैदा होता है बस, इसी प्रकार अशुद्ध कोद्रव के धान्य

समान मिथ्यात्व मोहनीय कर्म है, इस कर्म के उदय से जीव को सर्वज्ञ-प्रणीत मार्ग में श्रद्धा नहीं होती है । सर्वज्ञप्रणीत जीव आदि तत्त्वों पर विश्वास नहीं होता है ।

मिथ्यात्व मोहनीय के पुद्गल सर्वघाती रसवाले होते हैं । उसके एक स्थानक, द्वि स्थानक, त्रिस्थानक और चतुःस्थानक ये चार भेद कर सकते हैं ।

**उदा.** नीम के 1 किलो रस में जो कड़वापन होता है, उसे एक स्थानक रस कह सकते हैं ।

उसी रस को अग्नि पर तपा कर आधा कर दिया जाय तो उसे द्विस्थानक रस कहते हैं ।

उसी रस के 2/3 भाग को तपाकर जला दिया जाय तो उसे त्रिस्थानक रस कहते हैं और 3/4 भाग को जला दिया जाय तो उसे चतुःस्थानक रस कहा जाता है ।

शुभ अथवा अशुभ कर्म में फल देने की तीव्रतम शक्ति को चतुःस्थानक, तीव्रतर शक्ति को त्रिस्थानक, तीव्र शक्ति को द्विस्थानक और मंद शक्ति को एकस्थानक कहा जा सकता है ।

समकित मोहनीय में फल देने की एकस्थानक, मिश्र मोहनीय में द्विस्थानक तथा मिथ्यात्व मोहनीय में द्विस्थानक, त्रिस्थानक व चतुःस्थानक तीनों प्रकार की शक्ति होती है ।

### सर्वप्रथम बार कौनसा सम्यक्त्व ?

**कर्मग्रंथ** के मत से अनादि मिथ्यादृष्टि सर्वप्रथम बार उपशम सम्यक्त्व ही प्राप्त करता है, जबकि **सिद्धांत** के मत से अनादि मिथ्यादृष्टि जीव सर्वप्रथम बार उपशम अथवा क्षयोपशम सम्यक्त्व में से कोई भी प्राप्त कर सकता है ।

(1) सिद्धांत के मत से जब अनादि मिथ्यादृष्टि जीव उपशम सम्यक्त्व प्राप्त करता है, तब यथाप्रवृत्तिकरण आदि तीन करण कर उपशम सम्यक्त्व प्राप्त–स्थिति में रहे मिथ्यात्व के कर्मदलिकों के तीन

पुंज नहीं करता है । अतः उपशम सम्यक्त्व का काल पूरा होने पर वह आत्मा अवश्य मिथ्यात्व गुणस्थानक को प्राप्त करती है ।

(2) अनादि मिथ्यादृष्टि जीव क्षयोपशम सम्यक्त्व प्राप्त करता है, तब अपूर्वकरण के द्वारा ग्रंथिभेद करके, ऊपर मिथ्यात्व की अंतः कोड़ाकोड़ी सागरोपम प्रमाण स्थिति में रहे मिथ्यात्व के कर्मदलिकों के तीन पुंज करता है । अपूर्वकरण के बाद जब शुभ पुंज का उदय होता है, तब जीव क्षयोपशम सम्यक्त्व प्राप्त करता है ।

## सम्यक्त्व के 5 लक्षण

मिथ्यात्व के क्षय, उपशम या क्षयोपशम को चर्म-चक्षु द्वारा देख नहीं सकते हैं, परंतु निम्नलिखित लक्षणों से अनुमान कर सकते हैंः

**(1) शम :-** अनंतानुबंधी कषाय के उदय का अभाव ।

**(2) संवेग :-** मोक्षसुख की तीव्र अभिलाषा ।

**(3) निर्वेद :-** संसार के सुखों के प्रति वैराग्य भाव ।

**(4) अनुकंपा:-**दुःखी प्राणियों को देख हृदय द्रवित हो जाना ।

**(5) आस्तिक्य :-** वीतराग के वचनों पर अविचल श्रद्धा ।

यह सम्यक्त्व अनेक प्रकार का है–

## सम्यक्त्व के दो भेद

**1) व्यवहार सम्यक्त्व :–** सुदेव, सुगुरु और सुधर्म पर श्रद्धा रखना उसे व्यवहार सम्यक्त्व कहते हैं ।

**2) निश्चय सम्यक्त्व :–** चौथे गुणस्थानक के योग्य विशुद्ध अध्यवसायों की प्राप्ति को निश्चय सम्यक्त्व कहते हैं ।

## दूसरी अपेक्षा से सम्यक्त्व के दो भेद

**1) निसर्ग सम्यक्त्व :–** किसी के उपदेश बिना सहजतया आत्मा में सम्यक्त्व के योग्य अध्यवसाय पैदा हो, उसे निसर्ग सम्यक्त्व कहते है ।

**2) अधिगम सम्यक्त्व :–** गुरु के उपदेश से जीव आदि तत्त्वों के बोध से होनेवाले सम्यक्त्व को अधिगम सम्यक्त्व कहते है ।

## सम्यक्त्व के तीन भेद

**1)औपशमिक सम्यक्त्व :–** अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया और लोभ तथा समकित मोहनीय, मिश्र मोहनीय और मिथ्यात्व मोहनीय के उपशम से जिस सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है, उसे **औपशमिक सम्यक्त्व** कहते हैं, यह सम्यक्त्व अन्तर्मुहूर्त तक रहता है ।

**2) क्षायिक सम्यक्त्व :–** अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया और लोभ रूप चार कषाय तथा समकित मोहनीय, मिश्र मोहनीय और मिथ्यात्व मोहनीय के संपूर्ण क्षय से जिस सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है, उसे **क्षायिक सम्यक्त्व** कहते हैं, यह सम्यक्त्व आने के बाद कभी जाता नहीं है अर्थात् अनंतकाल तक रहता है ।

**3) क्षायोपशमिक सम्यक्त्व :–** अनंतानुबंधी चार कषाय तथा समकित मोहनीय, मिश्र मोहनीय और मिथ्यात्व मोहनीय इन सात प्रकृतियों में से उदय में आई प्रकृति का क्षय और सत्ता में रही प्रकृतियों का विपाक से उपशम होने पर जो सम्यक्त्व प्रकट होता है, उसे **क्षायोपशमिक सम्यक्त्व** कहते हैं । इस सम्यक्त्व का उत्कृष्ट काल 66 सागरोपम है ।

औपशमिक व क्षायिक सम्यक्त्व निरतिचार होता है जबकि क्षायोपशमिक सम्यक्त्व में अतिचार दोष लगता है ।

## सम्यक्त्व के अन्य तीन भेद

**1. मिश्र सम्यक्त्व :–** उपर्युक्त 7 प्रकृतियों में से सिर्फ मिश्र मोहनीय कर्म का उदय हो और अन्य शेष प्रकृतियों का उदय न हो तो उसे मिश्र सम्यक्त्व कहते हैं । यह सम्यक्त्व अन्तर्मुहूर्त तक रहता है । तीसरे गुणस्थानक में रहे इस सम्यक्त्व में जिनप्रणीत तत्त्वों पर न तो राग होता है और न ही द्वेष ।

**2. वेदक सम्यक्त्व :–** क्षायिक सम्यक्त्व की प्राप्ति के पूर्व समकित मोहनीय के अंतिम दलिकों का जब वेदन होता है, उसे वेदक सम्यक्त्व कहते हैं ।

**3. सास्वादन सम्यक्त्व :–** उपशम सम्यक्त्व से च्युत होकर मिथ्यात्व में जाते समय 1 समय से लेकर 6 आवलिका तक जो सम्यक्त्व होता है, उसे **सास्वादन सम्यक्त्व** कहते हैं ।

## तत्त्वों का स्वरूप

### जीवाजीवाश्रव-बन्ध-संवर-निर्जरा-मोक्षास्तत्त्वम् ।।1-4।।

**सामान्य अर्थ :–** जीव, अजीव, आश्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष – ये सात तत्त्व हैं ।

**विवेचन :–** प्रस्तुत सूत्र में जीव आदि सात तत्त्वों का निर्देश किया है ।

**1) जीव :–** जिसमें चेतना हो, उसे जीव कहते हैं अथवा जो प्राणों को धारण करे, उसे जीव कहते हैं ।

प्राण दो प्रकार के हैं 1) द्रव्य प्राण और 2) भाव प्राण । मोक्ष में गई आत्माओं के सिर्फ भाव प्राण होते हैं । संसारी जीवों के द्रव्य और भाव, दोनों प्राण होते हैं ।

**2) अजीव :–** जिसमें चेतना नहीं हो, उसे अजीव कहते हैं । अजीव तत्त्व के धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय आदि भेद हैं ।

**3) आश्रव :–** आत्मा में शुभ अथवा अशुभ कर्म के आगमन के द्वार को आश्रव कहते हैं ।

**4) बंध :–** आस्त्रव के द्वारा आए हुए कर्म पुद्गलों का आत्मा के साथ क्षीर–नीर की तरह परस्पर मिल जाना, उसे बंध कहते हैं ।

**5) संवर :–** आश्रव के निरोध को संवर कहते है ।

**6) निर्जरा :–** आत्मा पर लगे हुए कर्मों का आत्मा से अलग होना, उसे निर्जरा कहते हैं ।

**7) मोक्ष :–** आत्मा पर लगे हुए संपूर्ण कर्मों के क्षय को मोक्ष कहते हैं ।

इन सात तत्त्वो में जीव-अजीव ज्ञेय स्वरूप हैं। आश्रव और बंध हेय स्वरूप हैं तथा संवर, निर्जरा और मोक्ष उपादेय स्वरूप हैं।

## तत्त्वों को समझने के लिए चार निक्षेप

**नाम–स्थापना–द्रव्य–भावतस्तन्न्यासः ।।1-5।।**

**सामान्य अर्थ :–** जीवादि तत्त्वों को समझने के लिए प्रत्येक तत्त्व के नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव निक्षेप किये जाते हैं।

**विवेचन :–** वस्तु में रहे विभिन्न स्वरूप को जानने के लिए वस्तु की नाम आदि के द्वारा जो रचना की जाती है उसे निक्षेप कहते हैं। निक्षेप करना अर्थात् न्यास करना, रचना करना। ये निक्षेप जघन्य से चार प्रकार के हैं– नाम निक्षेप, स्थापना निक्षेप, द्रव्य निक्षेप और भाव निक्षेप।

**1) नाम निक्षेप –** वस्तु का जो नाम है, वह नाम निक्षेप कहलाता है। जैसे-देव-देवता का नाम निक्षेप है। अथवा वस्तु में उस नाम का अर्थघटन न होता हो वह नाम निक्षेप है। जैसे किसी सामान्य मनुष्य का नाम **'देव'** हो परंतु उसमें देवता के कोई भी गुण न हों उसे नाम मात्र से देव कहते हैं।

**2) स्थापना निक्षेप –** जिस वस्तु में अन्य वस्तु की स्थापना की जाय वह उस वस्तु का स्थापना निक्षेप है। स्थापना निक्षेप के दो प्रकार हैं–

**i) सद्भूत–स्थापना निक्षेप :–** जिस वस्तु में अन्य वस्तु की स्थापना की जाय, उस वस्तु में स्थापना होनेवाली वस्तु का आकार हो तो वह वस्तु की सद्भूतस्थापना है। उदा. देवता के चित्र, मूर्ति अथवा पुतले आदि में देव की स्थापना की जाय तो वह चित्र, मूर्ति अथवा पुतला आदि देव का सद्भूतस्थापना निक्षेप है।

**ii) असद्भूत–स्थापना निक्षेप :–** जिस वस्तु में अन्य वस्तु की स्थापना की जाय, उस वस्तु में स्थापना होनेवाली वस्तु का आकार न हो तो वह अन्य वस्तु की असद्भूत स्थापना है। उदा. पुस्तक, लकड़ी,

पत्थर, ईंट आदि में देव की स्थापना करें तो वह पुस्तक, लकड़ी, पत्थर, ईंट आदि देव का असद्भूतस्थापना निक्षेप है ।

**3) द्रव्य निक्षेप :–** वस्तु की भूतकालीन अथवा भविष्यकालीन अवस्था, वह वस्तु का द्रव्य निक्षेप है । उदा. देवगति से आये मनुष्य को अथवा देवगति में जाने वाले मनुष्य को देव कहा जाता है। वह मनुष्य में देव का द्रव्य निक्षेप है । अथवा वस्तु के भावनिक्षेप का जो कारण हो वैसा द्रव्य – उदा. `मिट्टी' यह घट का द्रव्य निक्षेप है ।

अथवा, वस्तु का अप्रधान अर्थ जिसमें हो वह द्रव्य – उदा. बंध का मुख्य अर्थ है कर्म का बंध होना, परंतु डोरी आदि से बँधना, बंध का गौण अर्थ है । इससे `डोरी' यह बंध का द्रव्य निक्षेप है ।

**4) भावनिक्षेप :–** वस्तु का वर्तमान स्वरूप, वह वस्तु का भाव निक्षेप है । उदा. देवलोक में रहे असंख्य देवता, देव का भाव निक्षेप है । अथवा वस्तु के नाम का मुख्य अर्थ जिसमें हो वह वस्तु का भाव निक्षेप है । उदा. बंध का मुख्य अर्थ कर्म का बंध होना वह कर्मबंध का भाव निक्षेप है ।

## जीव आदि के चार निक्षेप

**1) जीव :–** किसी का **'जीव'** इस प्रकार नाम होना, वह **'नाम जीव'** ।

किसी चित्र, मूर्ति, लकड़े, पत्थर आदि में जीव की स्थापना करना वह **'स्थापना जीव'** ।

अनादि काल से पारिणामिक भाव वाला और गुण–पर्याय से रहित, बुद्धि से कल्पित जीव – वह **'द्रव्य जीव'** । अथवा भविष्य में जीव बनने वाला अजीव – वह **'द्रव्य जीव'** – जो अशक्य है इसलिए यह निक्षेप शून्य है ।

औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक भावों से युक्त, उपयोग लक्षण वाला जीव वह **'भाव जीव'** ।

**2) अजीव :–** किसी का **'अजीव'** इस प्रकार नाम होना, वह **'नाम अजीव'** । किसी चित्र, मूर्ति, लकड़े, पत्थर आदि में अजीव की स्थापना करना वह **'स्थापना अजीव'** । अजीव के गुण–पर्याय रहित, बुद्धि से कल्पित अजीव - वह **'द्रव्य अजीव'** । स्वयं के गुण–पर्याय से युक्त धर्मास्तिकाय आदि पदार्थ वह **'भाव अजीव'** ।

**3) आश्रव :–** किसी का **'आश्रव'** इस प्रकार नाम होना, वह **'नाम आश्रव'** । किसी चित्र आदि में आश्रव की स्थापना करना, वह **'स्थापना आश्रव'** । आत्मा के साथ जुड़े हुए और उदय में नहीं आये हुए कर्मपुद्गल, वह **द्रव्य आश्रव ।** आत्मा के साथ जुड़े हुए और उदय में आये हुए कर्म पुद्गुल - वह **'भाव आश्रव'** ।

**4) बंध :–** किसी का **'बंध'** इस प्रकार नाम होना, वह **'नामबंध'** । किसी चित्र आदि में बंध की स्थापना करना–वह **'स्थापना बंध'** । जिस द्रव्य से वस्तु को बाँधा जाय वह **'द्रव्यबंध'** । आत्मा के साथ कर्म का संबन्ध होना, वह **'भावबंध'** । जैसे प्रकृतिबंध आदि ।

**5) संवर :–** किसी का संवर इस प्रकार नाम होना, वह **'नामसंवर'** । किसी चित्र आदि में संवर की स्थापना करना वह **'स्थापना संवर'** । जिस द्रव्य से वस्तु पर आवरण किया जाय वह **'द्रव्य संवर'** । जैसे ढक्कन, पर्दा आदि । समिति–गुप्ति आदि के परिणाम को प्राप्त जीव– वह **'भावसंवर'** है ।

**6) निर्जरा :–** किसी का निर्जरा इस प्रकार का नाम होना, वह **'नाम निर्जरा'** । किसी चित्र आदि में निर्जरा की स्थापना करना, वह **'स्थापना निर्जरा'** । किसी द्रव्य का किसी द्रव्य से अलग होना, वह **'द्रव्य निर्जरा'** । आत्मा से कर्म का अलग होना, वह **'भाव निर्जरा'** ।

**7) मोक्ष :–** किसी का **'मोक्ष'** इस प्रकार का नाम होना, वह **'नाममोक्ष'** । किसी चित्र आदि में मोक्ष की स्थापना करना, वह **स्थापना मोक्ष ।** किसी के बंधन (गुलामी) से मुक्त होना वह **'द्रव्यमोक्ष'** । समस्त कर्मो का क्षय होना – वह **'भावमोक्ष'** ।

**8) सम्यग्दर्शन :–** किसी का **'सम्यग्दर्शन'** इस प्रकार का नाम होना – वह **'नाम सम्यग्दर्शन'** । किसी चित्र आदि में सम्यग्दर्शन की स्थापना करना वह **'स्थापना सम्यग्दर्शन'** । भव्य जीवों में मिथ्यात्व मोहनीय के जो पुद्गल हैं उनका सम्यक्त्व मोहनीय के रूप में परिवर्तन होना, वह **'द्रव्य सम्यग्दर्शन'** । सम्यक्त्व मोहनीय, मिश्र मोहनीय और मिथ्यात्व मोहनीय के क्षय, उपशम और क्षयोपशम से आत्मा में उत्पन्न होने वाला परिणाम – वह **'भाव सम्यग्दर्शन'** ।

**9) सम्यग्ज्ञान :–** किसी का **'सम्यग्ज्ञान'** इस प्रकार का नाम होना –वह **'नाम सम्यग्ज्ञान'** । किसी चित्र आदि में सम्यग्ज्ञान की स्थापना करना, वह **'स्थापना सम्यग्ज्ञान'** । किसी पुस्तक आदि में आलेखित श्रुतज्ञान अथवा आत्मा में अनुपयुक्त श्रुतज्ञान – वह **'द्रव्य सम्यग्ज्ञान'** । आत्मा में परिणत सम्यग्ज्ञान अथवा शास्त्र पढ़ते समय उपयुक्त श्रुतज्ञान, वह **'भाव सम्यग्ज्ञान'** ।

**10) सम्यक्चारित्र :–** किसी का **'सम्यक्चारित्र'** इस प्रकार का नाम होना – वह **'नाम सम्यक्चारित्र'** । किसी चित्र आदि में सम्यक्चारित्र की स्थापना करना, वह **'स्थापना सम्यक्चारित्र'** । अभव्यजीव का चारित्र अथवा भव्यजीव का अनुपयुक्त चारित्र, वह **'द्रव्य सम्यक्चारित्र'** । भव्य जीव का उपयुक्त सम्यक्चारित्र – वह **'भाव सम्यक्चारित्र'** ।

## तत्त्वज्ञान के साधन

**प्रमाणनयैरधिगमः ॥1-6॥**

**सामान्य अर्थ :–** प्रमाण और नय से तत्त्व का बोध होता है ।

**विवेचन :–** पदार्थ के निर्णयात्मक बोध को ज्ञान कहते हैं । यह बोध प्रमाण और नय से होता है ।

किसी भी वस्तु का यथार्थ बोध प्रमाण द्वारा प्राप्त होता है, तो वस्तु के आंशिक स्वरूप का बोध नय से प्राप्त होता है ।

जिस प्रकार प्रमाण शुद्ध ज्ञान है, उसी प्रकार नय भी शुद्ध ज्ञान ही है । इन दोनों में फर्क इतना ही है कि प्रमाण से वस्तु के विस्तृत

स्वरूप का बोध होता है, जब कि नय द्वारा वस्तु के आंशिक स्वरूप का ज्ञान होता है ।

दुनिया की प्रत्येक वस्तु में अनेक धर्म होते हैं । नय द्वारा किसी भी वस्तु में रहे एक गुण या धर्म का बोध होता है ।

जिस प्रकार किसी भी भाषा को जानने–समझने के लिए उसके व्याकरण का बोध जरूरी है, उसी प्रकार जैनदर्शन के स्याद्वाद के स्वरूप को समझना हो तो उसके लिए नय का ज्ञान बहुत जरूरी है ।

जिस प्रकार जल की एक बुंद न तो समुद्र कहलाती है और न ही असमुद्र कहलाती है, उसी प्रकार नय भी न प्रमाणभूत है और न ही अप्रमाणभुत है ।

***जिस प्रकार सभी नदियाँ सागर में मिलती हैं, उसी प्रकार सभी नय स्याद्वाद रूपी महासागर में मिल जाते हैं ।***

नय के 7 प्रकार हैं । ये सातों नय परस्पर विरोधी अभिप्राय को बतानेवाले होने पर भी ये सभी नय स्याद्वाद के ही सेवक तुल्य हैं ।

प्रमाण के मुख्य चार भेद हैं – प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और आगम ।

**प्रश्न :-** प्रत्येक नय वस्तु के एक ही स्वरूप को स्वीकार करता है तो वह एकांत या मिथ्याज्ञान नहीं कहलाएगा ?

**उत्तर :-** वस्तु के एक स्वरूप को स्वीकार करते हुए जब वस्तु के अन्य स्वरूप के स्वीकार का निषेध करते हैं, तब वह ज्ञान, एकांत या मिथ्याज्ञान हो जाता है, परंतु नय के विषय में ऐसा नहीं है ।

एक नय वस्तु के एक स्वरूप को स्वीकार करता है, परंतु वस्तु के अन्य स्वरूप का निषेध नहीं करता है ।

जब एक नय वस्तु के अन्य स्वरूप का निषेध करने लगता है, तब वह नय, दुर्नय अथवा नयाभास हो जाता है ।

## अन्य साधन

**निर्देश-स्वामित्व-साधनाऽधिकरण-स्थिति-विधानतः ।।1-7।।**

**सत्-संख्या-क्षेत्र-स्पर्शन-कालान्तर-भावाऽल्प-बहुत्वैश्च ।।1-8।।**

**सामान्य अर्थ :–** निर्देश, स्वामित्व, साधन, अधिकरण, स्थिति और विधान से तथा सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन–काल–अंतर–भाव तथा अल्पबहुत्व आदि से सम्यग्दर्शन आदि पदार्थों का बोध होता है ।

**विवेचन :–** पहले कभी नहीं देखी हुई या नहीं सुनी हुई वस्तु के बारे में जानने के लिए जब मन में कई जिज्ञासाएँ पैदा होती हैं, तो उन जिज्ञासाओं के समाधान के लिए मन में कई प्रश्न पैदा होते हैं ।

उपर्युक्त दो सूत्रों में किसी भी पदार्थ के बोध के संदर्भ में उठनेवाले प्रश्नों का संकेत किया है ।

किसी भी पदार्थ के विषय में उठनेवाले इन प्रश्नों के समाधान से पदार्थ का स्पष्ट बोध प्राप्त किया जा सकता है ।

उदाहरण के रूप में **'सम्यग्दर्शन'** पदार्थ को जानने की जिज्ञासा पैदा हुई तो उसे इन प्रश्नों के समाधान से स्पष्ट कर सकते हैं ।

**(1) निर्देश :–** किसी भी वस्तु का स्वरूप बताना, उसे निर्देश कहते हैं । उदा. सम्यग्दर्शन का स्वरूप बताते समय कहना कि **'सम्यग्दर्शन तत्त्व की रुचि रूप है ।'**

इसी प्रकार अन्य पदार्थ का भी स्वरूप बताना, उसे निर्देश कहते हैं ।

**(2) स्वामित्व :–** किसी भी वस्तु के अधिकारी की बात करना, उसे स्वामित्व कहते हैं । उदा. सम्यग्दर्शन का अधिकारी भव्य जीव ही है, अभव्य या अजीव को सम्यग्दर्शन नहीं होता है ।

**(3) साधन :–** किसी भी वस्तु की उत्पत्ति के कारण को साधन

कहते हैं । उदा. सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति का अंतरंग साधन दर्शन-मोहनीय का क्षय, क्षयोपशम और उपशम है, और बाह्य कारण प्रभुदर्शन, जिनपूजा, जिनवाणी श्रवण तथा सत्संग आदि हैं ।

**(4) अधिकरण :–** किसी भी वस्तु के आधार को अधिकरण कहते हैं । उदा. सम्यग्दर्शन का आधार जीव है । सम्यग्दर्शन आत्मा का ही परिणाम है, जो आत्मा में रहता है ।

**(5) स्थिति :–** स्थिति अर्थात् काल मर्यादा ।

उदा. सम्यग्दर्शन की स्थिति का विचार किया जाय तो सम्यग्दर्शन की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट स्थिति सादि - अनंत है ।

***औपशमिक व क्षायोपशमिक सम्यक्त्व की स्थिति सादि-सांत है, क्योंकि औपशमिक सम्यक्त्व प्राप्त होने के अन्तर्मुहूर्त बाद चला जाता है, और क्षायोपशमिक सम्यक्त्व उत्कृष्ट से 66 सागरोपम तक रहता है ।***

***क्षायिक सम्यक्त्व सादि - अनंत है, क्योंकि वह सम्यक्त्व आने के बाद वापस जाता नहीं है, मोक्ष में भी कायम रहता है ।***

**(6) विधान :–** वस्तु के भेद, प्रकार को विधान कहते हैं । उदा. सम्यग्दर्शन तीन प्रकार का है औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक !

**(7) सत् :–** सत् अर्थात् सत्ता !

उदा. सत्ता रूप में सभी जीवों में सम्यग्दर्शन विद्यमान है, परंतु उसका प्रकटीकरण सिर्फ भव्य जीव में ही होता है, अभव्य में नहीं ।

**(8) संख्या :–** सम्यग्दर्शन की गिनती उसे प्राप्त करनेवालों की संख्या पर निर्भर है । भूतकाल में अनंत आत्माओं ने सम्यग्दर्शन प्राप्त किया है, अतः उनकी संख्या अनंत है । भविष्य में भी अनंत आत्माएँ सम्यग्दर्शन प्राप्त करेगी ।

**(9) क्षेत्र :–** क्षेत्र अर्थात् लोकाकाश !

सम्यग्दर्शन का क्षेत्र लोक का असंख्यातवाँ भाग ही है । एक जीव की अपेक्षा विचार करे या अनंत जीवों की अपेक्षा से, वह लोक का असंख्यातवाँ भाग ही आएगा । हाँ ! एक जीव की अपेक्षा अनंत जीवों का

क्षेत्र बड़ा होगा–फिर भी वह लोकाकाश का तो असंख्यातवाँ भाग प्रमाण ही होगा ।

**(10) स्पर्शन :–** निवासस्थान रूप आकाश के चारों ओर के आकाशप्रदेशों को छूना, स्पर्शन कहलाता है । क्षेत्र में केवल आधारभूत आकाश ही आता है, जब कि स्पर्शन में आधार क्षेत्र के चारों ओर के आधेय द्वारा स्पर्शित आकाशप्रदेश भी आते हैं ।

सम्यग्दर्शन का स्पर्शन क्षेत्र भी लोक का असंख्यातवाँ भाग ही होता है, परंतु वह भाग, क्षेत्र की अपेक्षा कुछ बड़ा होता है ।

**(11) काल :–** एक जीव की अपेक्षा सम्यग्दर्शन का काल सादि–सांत व सादि अनंत है, जब कि सभी जीवों की अपेक्षा अनादि अनंत है ।

भूतकाल में ऐसा कभी काल नहीं था कि एक भी सम्यग्दर्शनी आत्मा न हो । अनादि काल से सम्यग्दर्शन का आविर्भाव चालू है और अनंतकाल तक रहेगा ।

**(12) अंतर :–** एक जीव की अपेक्षा सम्यग्दर्शन-प्राप्ति का अंतर काल जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट से कुछ न्यून अर्ध पुद्गल परावर्त काल है ।

एक बार सम्यक्त्व के वमन के बाद पुनः जघन्य से अन्तर्मुहूर्त बाद और उत्कृष्ट से कुछ न्यून अर्ध पुद्गल परावर्त काल बाद प्राप्त कर सकते हैं ।

नाना जीवों की अपेक्षा सम्यग्दर्शन-प्राप्ति का विरह काल नहीं है, क्योंकि किसी-न-किसी जीव को सम्यग्दर्शन प्राप्त होता रहता है ।

**(13) भाव :–** औपशमिक, क्षायोपशमिक व क्षायिक इन तीन भावों में सम्यग्दर्शन प्राप्त हो सकता है ।

ये भाव सम्यग्दर्शन के आवरणभूत दर्शनमोहनीय कर्म के क्षय, क्षयोपशम व उपशम से उत्पन्न होते हैं ।

इन भावों से सम्यक्त्व की शुद्धि की तरतमता जान सकते हैं ।

क्षायोपशमिक की अपेक्षा औपशमिक सम्यक्त्व और औपशमिक की अपेक्षा क्षायिक सम्यक्त्व ज्यादा विशुद्ध है ।

दर्शनमोहनीय के औदयिक भाव में सम्यग्दर्शन नहीं होता है ।

सम्यग्दर्शन पारिणामिक भाव रुप भी नहीं है ।

**(14) अल्पबहुत्व :–** तीनों प्रकार के सम्यग्दर्शन में औपशमिक भाव के सम्यग्दृष्टि सबसे कम हैं, औपशमिक की अपेक्षा क्षायोपशमिक भाव के सम्यग्दृष्टि असंख्य गुणा हैं और क्षायोपशमिक की अपेक्षा क्षायिक भाव के सम्यग्दृष्टि अनंतगुणा हैं ।

क्षायिक सम्यक्त्व मुक्त जीवों में भी होता है, जो संख्या में अनंत हैं ।

## ज्ञान के प्रकार

**मति–श्रुता–ऽवधि–मनःपर्याय–केवलानि ज्ञानम् ।।1-9।।**

**सामान्य अर्थ :–** सम्यग्ज्ञान के पाँच भेद हैं - मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यायज्ञान और केवलज्ञान ।

**विवेचन :–** मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यायज्ञान और केवलज्ञान ये ज्ञान के पाँच प्रकार हैं ।

**1) मतिज्ञान :–** मन और इन्द्रियों की मदद से जो ज्ञान होता है, उसे मतिज्ञान कहते हैं । इसे **आभिनिबोधक ज्ञान** भी कहा जाता है ।

**2) श्रुतज्ञान :–** शास्त्र या शब्द के श्रवण के बाद शब्द के पर्यालोचन से पदार्थ का जो बोध होता है, उसे श्रुतज्ञान कहते हैं ।

जैसे-कान से **'घट'** शब्द सुनने पर मात्र **'घट'** शब्द का जो ज्ञान हुआ, वह मतिज्ञान कहलाता है और **'घट'** शब्द सुनने के बाद **'जलधारण'** की क्रिया करनेवाले अमुक आकार वाले पदार्थ को **'घट'** कहा जाता है, इस प्रकार घट शब्द से वाच्य **'घट'** पदार्थ का जो बोध होता है, उसे श्रुतज्ञान कहा जाता है ।

**3) अवधिज्ञान :–** मन और इन्द्रियों की अपेक्षा नहीं रखते हुए

सिर्फ आत्मा द्वारा रूपी द्रव्यों का जो बोध होता है, उसे अवधिज्ञान कहते हैं ।

**4) मनःपर्यायज्ञान :–** मन और इन्द्रियों की सहायता बिना ढाई द्वीप में रहे हुए संज्ञी पंचेन्द्रिय प्राणियों के मनोगत विचारों को जिस ज्ञान से जाना जाता है, उसे मनःपर्याय ज्ञान कहते हैं ।

संज्ञी पंचेन्द्रिय प्राणी जब किसी भी वस्तु का विचार करता है, तब वह अपने काययोग द्वारा आकाशप्रदेश में रहे मनोवर्गणा के पुद्गलों को अपनी ओर खींचकर उन पुद्गलों को चिंतनीय वस्तु के अनुरूप परिणत करता है । किसी आकार में परिणत हुए उन पुद्गल द्रव्यों को मनःपर्यायज्ञानी स्पष्ट रूप से देख सकता है ।

संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव जिस वस्तु संबंधी विचार करता है, उस वस्तु के आकार में परिणत मनोद्रव्य को ही मनःपर्यायज्ञानी प्रत्यक्ष जान सकता है, परंतु वस्तु को नहीं । वस्तु का ज्ञान तो अनुमान से होता है ।

**5) केवलज्ञान :–** जगत् में रहे सभी ज्ञेय रूपी-अरूपी पदार्थों के भूत, भविष्य और वर्तमान की समस्त पर्यायों को एक साथ में जिस ज्ञान द्वारा जाना जाता है, उसे केवलज्ञान कहते हैं । इस ज्ञान में इन्द्रियों व मन की अपेक्षा नहीं होती है, अर्थात् यह आत्म-प्रत्यक्ष ज्ञान है ।

## प्रमाण की अपेक्षा से पाँच ज्ञान

**तत्प्रमाणे ।।1-10।।**

**आद्ये परोक्षम् ।।1-11।।**

**प्रत्यक्षमन्यत् ।।1-12।।**

**सामान्य अर्थ :–** ये ज्ञान दो प्रमाण रूप है ।
पहले दो ज्ञान परोक्ष प्रमाण रूप हैं ।
शेष तीन ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण रूप हैं ।

**विवेचन :–** मति आदि पाँच ज्ञान दो प्रमाण रूप हैं- परोक्ष और प्रत्यक्ष । इनमें मतिज्ञान और श्रुतज्ञान परोक्ष प्रमाण रूप हैं और अवधिज्ञान,

मन:पर्यायज्ञान और केवलज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण रूप हैं ।

सामान्य से जिस विषय को हमने अपनी इन्द्रियों या मन से ग्रहण किया हो, सुना हो, देखा हो या अनुभव किया हो उसे हम प्रत्यक्ष कहते हैं और बीच में कोई माध्यम हो उसे परोक्ष कहते हैं । जैसे–कोई बात हमने स्वयं सुनी हो, उसे हम प्रत्यक्ष कहते हैं और किसी माध्यम से सुनी हो, उसे परोक्ष कहते हैं । किसी चोर को अपने सामने चोरी करते देखा हो तब कहते हैं **''इसे मैंने चोरी करते प्रत्यक्ष देखा है''** और C.C.T.V. कैमरा आदि में देखा हो तो उसे परोक्ष मानते हैं ।

परंतु व्यवहार में मानी जाने वाली प्रत्यक्ष और परोक्ष की व्याख्याएँ इन्द्रियों और मन प्रत्यक्ष तक ही सीमित हैं । ज्ञान तो आत्मा का धर्म है, इसलिए यहाँ प्रमाण में आत्मपरोक्ष और आत्मप्रत्यक्ष की व्याख्याएँ स्वीकार करनी होगी ।

इन्द्रियां और मन की सहायता से होने वाला ज्ञान आत्मपरोक्ष ज्ञान है । मतिज्ञान और श्रुतज्ञान आत्मपरोक्ष ज्ञान हैं क्योंकि पाँच इन्द्रियां और मन की सहायता के बिना ये दोनों ज्ञान नहीं हो सकते हैं ।

इन्द्रियां और मन की सहायता के बिना होने वाला ज्ञान आत्म-प्रत्यक्ष ज्ञान है । अवधिज्ञान, मन:पर्यायज्ञान और केवलज्ञान आत्म-प्रत्यक्ष ज्ञान हैं । क्योंकि इनके लिए इन्द्रियों और मन की कोई आवश्यकता नहीं है । इन्द्रियों की विकलता होने पर भी मात्र ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से ये तीनों ज्ञान होते है ।

इन ज्ञानों में भी अवधिज्ञान और मन:पर्यायज्ञान के लिए विशेष उपयोग देना पड़ता है, जबकि केवलज्ञान में सदा, सर्वकाल सर्व पदार्थों की सभी पर्यायों का ज्ञान हाथ में रहे स्वच्छ जल की भाँति होता है ।

## मतिज्ञान के पर्यायवाची नाम

**मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताऽभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम् ।।1-13।।**

**सामान्य अर्थ :–** मति, स्मृति, संज्ञा, चिंता और अभिनिबोध ये

मतिज्ञान के पर्यायवाची नाम हैं ।

**विवेचन :– 1) मति :–** वर्तमान विषयक ज्ञान को मतिज्ञान कहते हैं, उदा. यह घोड़ा है ।

**2) स्मृति :–** भूतकाल में हुई घटना को याद करना, उसे स्मृति कहते हैं, स्मृति अतीत विषयक होती है ।

**3) संज्ञा–प्रत्यभिज्ञान :–** पहले अनुभव की गई वस्तु को वर्तमान में अनुभव की जा रही वस्तु से जोड़ना, उसे संज्ञा या प्रत्यभिज्ञान कहते हैं । यह ज्ञान अतीत व वर्तमान उभयविषयक होता है । जैसे–**यह वही मोहन है, जिसे मैंने पाँच वर्ष पूर्व देखा था ।** (यहाँ प्रत्यक्ष व स्मृति दोनों हैं ।)

**4) चिंता :–** किसी पदार्थ के भविष्य के बारे में विचार करना, उसे चिंता कहते हैं ।

**5) अभिनिबोध :–** अभिनिबोध मतिज्ञान बोधक सामान्य शब्द है, जो मति, स्मृति, चिंता व संज्ञा सभी में प्रयुक्त होता है ।

मतिज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से होनेवाले सभी प्रकार के ज्ञान में इस शब्द का प्रयोग होता है ।

मति–स्मृति आदि विशेष शब्द हैं और अभिनिबोध सामान्य शब्द है ।

सामान्य–विशेष के भेद की विवक्षा न करने पर इन सभी को मतिज्ञान के पर्यायवाची शब्द कहा गया है ।

## मतिज्ञान के निमित्त

### तदिन्द्रियाऽनिन्द्रियनिमित्तम् ।।1-14।।

**सामान्य अर्थ :–** यह मतिज्ञान इन्द्रिय और अनिन्द्रिय (मन) की सहायता से उत्पन्न होता है ।

**विवेचन :–** मतिज्ञान की उत्पत्ति स्पर्शनेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, श्रोत्रेन्द्रिय एवं मन द्वारा होती है । इन पाँच इन्द्रियों द्वारा

क्रमशः स्पर्श, रस, गंध, रूप और शब्द का ज्ञान होता है। सबसे पहले इन्द्रिय का विषय के साथ में संपर्क होता है, फिर इन्द्रिय के ज्ञानतंतु मन और आत्मा से जुड़कर उस विषय का मतिज्ञान पैदा करते हैं। ज्ञानतंतु द्वारा होने वाला यह कार्य इतना तेज और सूक्ष्म होता है कि हम इसके भेद को जान नहीं सकते।

## मतिज्ञान के भेद

**अवग्रहेहापायधारणाः ।।1-15।।**

**सामान्य अर्थ :–** मतिज्ञान के अवग्रह, ईहा, अपाय और धारणा ये मुख्य चार भेद होते हैं।

**विवेचन :–** मतिज्ञान के चार भेद हैं–

**(1) अवग्रह –** स्पर्शनेन्द्रिय आदि इन्द्रियों के साथ अपने–अपने विषयों के संपर्क से जो अस्पष्ट बोध होता है, उसे अवग्रह कहते हैं। इन्द्रिय और पदार्थ का संबंध होने मात्र से ही विषय का बोध नहीं होता है। प्रारंभ में इन्द्रिय को सामान्य असर होती है फिर धीरे–धीरे असर बढ़ती जाती है और उत्तरोत्तर असर बढ़ने पर **'यहाँ कुछ है'** ऐसा अस्पष्ट सामान्य ज्ञान होता है। अवग्रह के दो भेद हैं व्यंजनावग्रह और अर्थावग्रह। इनका विस्तार से वर्णन सूत्र 17 और 18 में होगा।

**(2) ईहा –** अवग्रह के द्वारा ग्रहण किए गए सामान्य विषय का विशेष रूप से निश्चय करने के लिए जो विचारणा की जाती है, उसे **ईहा** कहते हैं। ईहा द्वारा अन्वय धर्म की घटना और व्यतिरेक धर्म के निराकरण द्वारा वस्तु का निश्चय किया जाता है। जैसे **'यह रस्सी है या सर्प ?'** इस प्रकार का संशय उत्पन्न होने पर दोनों के गुण–धर्म के बारे में विचार किया जाता है। जैसे–यह रस्सी का स्पर्श होना चाहिए, क्योंकि यदि सर्प का स्पर्श होता तो आघात लगने पर फुत्कार किए बिना नहीं रहता, इत्यादि विचारणा को ईहा कहा जाता है। ईहा का काल अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है।

**(3) अवाय –** ईहा के द्वारा वस्तु का निर्णयाभिमुख बोध होने के बाद जो निश्चयात्मक बोध होता है, उसे अवाय कहते हैं। जैसे **'पहले जो स्पर्श हुआ था, वह रस्सी का ही था, सर्प का नहीं।'** इस प्रकार जो निश्चय होता है, वह अवाय है। अवाय का काल अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है।

**(4) धारणा –** अवाय के द्वारा जाने गए पदार्थ का भविष्य में विस्मरण न हो, ऐसा जो दृढ़ ज्ञान होता है, उसे धारणा कहा जाता है। अपेक्षा से इसके तीन भेद हैं –

**1) अविच्युति धारणा :–** अवाय से निर्णीत वस्तु का उपयोग अन्तर्मुहूर्त काल तक वैसा ही बना रहे, उसे अविच्युति धारणा कहते हैं, इसका काल अन्तर्मुहूर्त है।

**2) वासना धारणा :–** अविच्युति से आत्मा में उस वस्तु के संस्कार पड़ते हैं, उस संस्कार को वासना कहते हैं। इसका काल संख्यात-असंख्यात वर्ष जितना है।

**3) स्मृति धारणा :–** आत्मा में दृढ़ बने संस्कार, जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट से असंख्य वर्ष बीतने पर भी **'यह वही वस्तु है जो मैंने पहले देखी थी।'** इस प्रकार के ज्ञान को स्मृति कहा जाता है। जातिस्मरण का समावेश इसी **'स्मृति'** में होता है।

## अवग्रह आदि के भेद

### बहु–बहुविध–क्षिप्रा–ऽनिश्रिता–ऽसंदिग्ध–ध्रुवाणां सेतराणाम् ।।1-16।।

**सामान्य अर्थ :–** बहु, बहुविध, क्षिप्र, अनिश्रित, असंदिग्ध और ध्रुव– ये छह भेद एवं इनसे इतर अर्थात् विपरीत–अबहु, अबहुविध, अक्षिप्र, निश्रित, संदिग्ध और अध्रुव ये छह भेद मिलकर अवग्रह आदि के भेद बनते हैं।

**विवेचन :–** क्षयोपशम की विचित्रता और विषय की विविधता के कारण सभी को सदा काल एक समान मतिज्ञान नहीं होता है।

**1-2 बहुग्राही – अबहुग्राही (अल्पग्राही) –** बहु अर्थात् अनेक और अबहु अर्थात् अल्प ।

उदा. अनेक वाद्ययंत्र एक साथ बज रहे हों, तब तीव्र बुद्धिशाली व्यक्ति अनेक वाद्ययंत्रों के शब्द समूह में से अलग-अलग वाद्ययंत्र के शब्द को जान लेता है उसे बहुग्राही मतिज्ञान कहते है । जैसे **'यह वीणा की आवाज है' 'यह तबले की आवाज है ।'**

मंदबुद्धिवाला मनुष्य अनेक वाद्य यंत्रों के शब्द समूह को अलग अलग ग्रहण नहीं कर पाता है, उसे अबहुग्राही कहते हैं ।

**3-4 बहुविध – अबहुविध –** बहुविध अर्थात् अनेक प्रकार से और अबहुविध अर्थात् अल्प प्रकार से ।

जैसे– तीव्र बुद्धिवाला मनुष्य अनेक वाद्ययंत्रों के शब्दसमूह में से अलग–अलग शब्दों को अनेक गुणयुक्त जान सकता है उसे बहुविध मतिज्ञान कहते है । जैसे... **'यह शंख की आवाज किसी युवा पुरुष से जन्य है ।'**

मंद बुद्धिवाला मनुष्य अनेक वाद्ययंत्रों के शब्दसमूह में अलग-अलग शब्दों को अनेक गुणयुक्त नहीं जानता है, उसे अबहुविध मतिज्ञान कहा जाता है ।

**5-6 क्षिप्रग्राही – अक्षिप्रग्राही –** क्षिप्र अर्थात् जल्दी और अक्षिप्र अर्थात् विलंब से । उदा. वाद्ययंत्र की आवाज आदि को जल्दी पहिचान लेते हैं उसे क्षिप्रग्राही मतिज्ञान और जो विलंब से पहिचान पाते हैं, उसे अक्षिप्रग्राही मतिज्ञान कहते हैं ।

**7-8 निश्रितग्राही – अनिश्रितग्राही –** निश्रित अर्थात् चिह्न और अनिश्रित अर्थात् चिह्न का अभाव ।

उदा. किसी चिह्न को देखकर वस्तु का बोध होता हो उसे निश्रितग्राही मतिज्ञान कहते हैं । जैसे ध्वजा देखकर निश्चय करे कि **'यह जैन मंदिर होना चाहिए ।'**

तीव्र बुद्धिशाली व्यक्ति चिह्न को देखे बिना ही वस्तु को पहिचान

ले उसे अनिश्रितग्राही मतिज्ञान कहते हैं – जैसे : ध्वजा देखे बिना निश्चय कर ले कि **'यह जैन मंदिर है ।'**

**9-10 असंदिग्धग्राही – संदिग्धग्राही –** असंदिग्ध अर्थात् संदेह रहित और संदिग्ध अर्थात् संदेह युक्त । जैसे शब्दों की आवाज सुनाई देने पर यह निश्चित करना कि **'यह मेघगर्जना ही है सिंहनाद नहीं'** यह असंदिग्धग्राही मतिज्ञान है । और शब्द सुनाई देने पर भी **'यह सिंहगर्जना है या मेघनाद ?'** इस प्रकार का संदेहयुक्त ज्ञान संदिग्धग्राही मतिज्ञान कहलाता है ।

**11-12 ध्रुवग्राही – अध्रुवग्राही –** ध्रुवग्राही अर्थात् दीर्घकाल तक स्मृति रहना । अध्रुवग्राही अर्थात् समय व्यतीत होने पर भूल जाना । उदा. एक ही बार सुना हुआ भाषण हमेशा के लिए याद रह जाय, उसे ध्रुवग्राही मतिज्ञान कहते हैं और अनेकबार सुनने पर भी याद नहीं रहना अथवा भूल जाना, उसे अध्रुवग्राही मतिज्ञान कहते हैं ।

## अवग्रह आदि के विषय

**अर्थस्य ।।1-17।।**

**व्यंजनस्यावग्रहः ।।1-18।।**

**सामान्य अर्थ :–** अवग्रह, ईहा, अपाय और धारणा–अर्थ (पदार्थ) के होते हैं । व्यंजन का सिर्फ अवग्रह ही होता है ।

**विवेचन :–** अवग्रह, ईहा, अपाय और धारणा रूप ज्ञान – अर्थ का होता है । यहाँ **'अर्थ'** शब्द का मतलब पदार्थ होता है । पद अर्थात् शब्द और पदार्थ अर्थात् पद से वाच्य अर्थ यानी वस्तु। जबकि व्यंजन का सिर्फ अवग्रह ही होता है । यहाँ व्यंजन शब्द का मतलब उपकरणेन्द्रिय और विषय का संयोग है ।

ज्ञान का विषय व्यंजन और अर्थ, ये दो होने से अवग्रह भी दो प्रकार का है ।

**1) व्यंजनावग्रह :** उपकरण–इन्द्रिय के साथ पदार्थ का संबंध होने पर जो अत्यंत ही अस्पष्ट बोध होता है, वह व्यंजनावग्रह कहलाता है ।

**2) अर्थावग्रह :** इन्द्रिय और पदार्थ का संयोग पुष्ट होने पर **'यह कुछ है !'** ऐसा जो विषय का सामान्य बोध होता है, उसे अर्थावग्रह कहते हैं ।

जैसे सोए हुए व्यक्ति को नाम देकर चिल्लाने पर पहले सामान्य असर होता है, फिर दो–चार बार चिल्लाने पर जब वे शब्द पुद्गल कान में भर जाते हैं, तब **'कहीं से आवाज आ रही है'** ऐसा अस्पष्ट बोध होता है । उसी को शास्त्रीय भाषा में **'अर्थावग्रह'** कहते हैं । इस **'अर्थावग्रह'** के पहले होनेवाले अव्यक्त ज्ञान को **'व्यंजनावग्रह'** कहते हैं ।

## व्यंजनावग्रह के विषय में अभाव

**न चक्षुरनिन्द्रियाभ्याम् ।।1-19।।**

**सामान्य अर्थ :–** चक्षुरिन्द्रिय और मन से होने वाले मतिज्ञान में व्यंजनावग्रह का अभाव होता है ।

**विवेचन :–** मन और चक्षु इन्द्रिय को छोड़कर शेष चार इन्द्रियों का व्यंजनावग्रह होता है ।

पदार्थ को प्राप्त कर–संबंध कर स्व विषय का बोध करनेवाली इन्द्रिय को **'प्राप्यकारी इन्द्रिय'** कहते हैं तथा पदार्थ के साथ संबंध किए बिना स्व विषय का बोध करनेवाली इन्द्रिय को **'अप्राप्यकारी'** कहते हैं ।

मन और चक्षु अप्राप्यकारी इन्द्रिय हैं, क्योंकि मन का विषय चिंतन–मनन का है । घटादि पदार्थों का विचार करते समय मन के साथ घटादि पदार्थ का संयोग नहीं होता है, उसी प्रकार आँख सैकड़ों मील दूर रही वस्तु को देखती है, उस समय उस पदार्थ का आँख के साथ कोई संयोग संबंध नहीं होता है ।

**पदार्थ के साथ संयोग हुए बिना ही स्व विषय का बोध हो जाने से अप्राप्यकारी इन्द्रियों को व्यंजनावग्रह नहीं होता है ।**

स्पर्शनेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय और कर्णेन्द्रिय के व्यंजनावग्रह होता है, क्योंकि शब्द पुद्गल कान का स्पर्श करते हैं, तभी सुनाई देता है। खाने के पदार्थ जीभ का स्पर्श करते हैं, तभी स्वाद का बोध होता है। फूल आदि की सुगंध के परमाणु नाक का स्पर्श करते हैं, तभी सुगंध आदि का पता चलता है। तथा पानी आदि का स्पर्श स्पर्शनेन्द्रिय को होता है, तभी उसकी शीतलता आदि का पता चलता है। इस प्रकार **व्यंजनावग्रह के चार भेद हैः–**

1) स्पर्शनेन्द्रिय व्यंजनावग्रह 2) रसनेन्द्रिय व्यंजनावग्रह 3) घ्राणेन्द्रिय व्यंजनावग्रह और 4) श्रोत्रेन्द्रिय व्यंजनावग्रह।

इन्द्रिय द्वारा पदार्थ का जो अस्पष्ट बोध होता है, उसे **'अर्थावग्रह'** कहते हैं। जैसे **'कुछ दिखाई देता है'** इस प्रकार का जो अस्पष्ट बोध होता है, वह अर्थावग्रह है।

**मन और 5 इन्द्रियों से होने के कारण अर्थावग्रह छह भेद हैः–**

1) स्पर्शनेन्द्रिय अर्थावग्रह 2) रसनेन्द्रिय अर्थावग्रह 3) घ्राणेन्द्रिय अर्थावग्रह 4) चक्षुरिन्द्रिय अर्थावग्रह 5) श्रोत्रेन्द्रिय अर्थावग्रह 6) मनोजन्य अर्थावग्रह।

**ईहा के कुल छह भेद हैं –**

1) स्पर्शनेन्द्रियजन्य ईहा 2) रसनेन्द्रियजन्य ईहा 3) घ्राणेन्द्रियजन्य ईहा 4) चक्षुरिन्द्रियजन्य ईहा 5) श्रोत्रेन्द्रियजन्य ईहा 6)मनोजन्य ईहा।

**अवाय के छह भेद हैं –**

1) स्पर्शनेन्द्रिय अवाय 2) रसनेन्द्रिय अवाय 3) घ्राणेन्द्रिय अवाय 4) चक्षुरिन्द्रिय अवाय 5) श्रोत्रेन्द्रिय अवाय 6) मनोजन्य अवाय।

**पाँच इन्द्रियों व मन की अपेक्षा धारणा के भी छह भेद हैं।**

1) स्पर्शनेन्द्रिय धारणा 2) रसनेन्द्रिय धारणा 3) घ्राणेन्द्रिय धारणा 4) चक्षुरिन्द्रिय धारणा 5) श्रोत्रेन्द्रिय धारणा 6) मनोजन्य धारणा।

इस प्रकार मतिज्ञान के कुल 28 भेद हुए ।

| | |
|---|---|
| व्यंजनावग्रह के | 4 भेद |
| अर्थावग्रह के | 6 भेद |
| ईहा के | 6 भेद |
| अवाय के | 6 भेद |
| धारणा के | 6 भेद |
| कुल | 28 भेद |

मतिज्ञान के इन 28 भेद के बहुग्राहि आदि 12–12 भेद होते हैं । अतः 28 x 12 = 336 भेद होते हैं । इन्द्रिय और मन की अपेक्षा से होने वाले भेद इस प्रकार हैं–

| | |
|---|---|
| श्रोत्रेन्द्रियजन्य मतिज्ञान के | 60 भेद हुए |
| चक्षुरिन्द्रियजन्य मतिज्ञान के | 48 भेद हुए |
| घ्राणेन्द्रियजन्य मतिज्ञान के | 60 भेद हुए |
| रसनेन्द्रियजन्य मतिज्ञान के | 60 भेद हुए |
| स्पर्शनेन्द्रियजन्य मतिज्ञान के | 60 भेद हुए |
| मनोजन्य मतिज्ञान के | 48 भेद हुए |
| कुल | 336 भेद |

मतिज्ञान के उपर्युक्त 336 भेद श्रुत निश्रित कहलाते हैं ।

**1) श्रुत–निश्रित–मतिज्ञान :** यहाँ श्रुत का अर्थ आगम ग्रंथ नहीं लेने का है, परंतु परोपदेश या आगम–ग्रंथ आदि से जो कुछ सुना–जाना गया हो वह श्रुत कहलाता है । इस श्रुत से संस्कारित बना ज्ञान, श्रुत–निश्रित कहलाता है अर्थात् पहले उपदेश आदि द्वारा जाना हो परंतु व्यवहार काल में श्रुत का उपयोग करते समय उपदेश आदि के उपयोग बिना होने वाली मति, श्रुतनिश्रित है ।

उदा. जिंदगी में पहली बार हाथी को देखने वाले बालक को समझाया कि **'इसे हाथी कहते हैं ।'** बालक ने उस हाथी को ध्यान से

देखा । फिर काफी समय व्यतीत होने के बाद बालक ने पुनः उस हाथी को देखा और बोल उठा **'यह हाथी है ।'** बालक का यह ज्ञान श्रुत की अपेक्षा होने से इस ज्ञान को **'श्रुतनिश्रित'** मतिज्ञान कहते हैं ।

**2) अश्रुत निश्रित मतिज्ञान :** व्यवहार काल के पूर्व, श्रुतज्ञान द्वारा जिसकी बुद्धि संस्कारवाली नहीं बनी हो, ऐसे जीवों को मतिज्ञानावरणीय कर्म के विशिष्ट क्षयोपशम से स्वाभाविक जो बुद्धि उत्पन्न होती है, उसे **अश्रुतनिश्रित** मतिज्ञान कहते हैं ।

इसके चार भेद हैं–

**1) औत्पत्तिकी बुद्धि :** जिस बुद्धि से पहले नहीं जाने–सुने पदार्थ का तत्काल ज्ञान हो जाता है, उसे औत्पत्तिकी बुद्धि कहते हैं । इस प्रकार की बुद्धि से प्रसंग उत्पन्न होते ही योग्य मार्ग मिल जाता है ।

**2) वैनयिकी बुद्धि :** गुरुजनों का विनय, सेवा–भक्ति करने से प्राप्त बुद्धि को वैनयिकी बुद्धि कहते हैं । यह बुद्धि कार्य को वहन करने में समर्थ होती है और इहलोक परलोक में फल देनेवाली होती है ।

**3) कार्मिकी बुद्धि :** उपयोग पूर्वक चिंतन, मनन और अभ्यास करने से प्राप्त होने वाली बुद्धि को कार्मिकी बुद्धि कहते हैं ।

**4) पारिणामिकी बुद्धि :** वय के परिपाक से वृद्ध मनुष्य को आगे–पीछे के अनुभव से जो ज्ञान होता है, उसे पारिणामिकी बुद्धि कहते हैं । यह बुद्धि अनुमान, हेतु व दृष्टांत से कार्य सिद्ध करनेवाली और लोकहित करनेवाली होती है ।

इस प्रकार श्रुतनिश्रित मतिज्ञान के 336 भेद एवं अश्रुतनिश्रित मतिज्ञान के चार भेद होने से मतिज्ञान के कुल 340 भेद हुए ।

## श्रुतज्ञान के लक्षण और भेद

### श्रुतं मतिपूर्वं द्व्यनेक–द्वादशभेदम् ।।1-20।।

**सामान्य अर्थ :–** श्रुतज्ञान, मतिज्ञान पूर्वक होता है । उसके अंगबाह्य

और अंगप्रविष्ट रूप दो भेद हैं । अंगबाह्य के अनेक प्रकार है और अंगप्रविष्ट के बारह भेद हैं ।

**विवेचन :–** श्रुतज्ञान होने से पहले मतिज्ञान अवश्य होता है । मतिज्ञान के बिना श्रुतज्ञान नहीं होता है । जैसे – शब्द सुनने से हमें जो श्रुतज्ञान होता है, उसके पहले कर्णेन्द्रिय के द्वारा हमें मतिज्ञान होता है । शब्द सुनने के बाद जो अर्थबोध होता है, वह श्रुतज्ञान होता है । यदि शब्द के विषय का मतिज्ञान न हुआ हो तो श्रुतज्ञान भी नहीं हो सकता है । इसी प्रकार सभी इन्द्रियों के विषय में समझना चाहिए ।

श्रुतज्ञान होने के पहले मतिज्ञान जरुरी है, परंतु मतिज्ञान होने पर श्रुतज्ञान हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता है । जैसे किसी अज्ञात वस्तु को देखने पर मतिज्ञान अवश्य होता है, परंतु वस्तु के बोध के अभाव में उस विषय का श्रुतज्ञान नहीं भी होता है ।

**श्रुतज्ञान का स्वरूप –** मतिज्ञान से पैदा होनेवाले पदार्थ के यथार्थ बोध को श्रुतज्ञान कहते हैं । श्रुत शब्द का व्युत्पत्ति अर्थ है – जो सुना जाता है, वह श्रुत । इसी तरह श्रुतज्ञान के समानार्थी शब्द हैं– आप्तवचन, आगम, उपदेश, ऐतिह्य, आम्नाय, प्रवचन, जिनवचन आदि ।

श्रुतज्ञान के दो भेद हैं –

**1) अंग बाह्य –** द्वादशांगी रूप 12 अंग सिवाय जो भी श्रुतज्ञान है, वह अंग बाह्य श्रुतज्ञान है । इसके – सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वंदन, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग, प्रत्याख्यान, दशवैकालिक सूत्र, उत्तराध्ययन सूत्र, दशा, कल्पव्यवहार, निशीथसूत्र, ऋषिभाषित आदि अनेक भेद हैं ।

**2) अंग प्रविष्ट –** द्वादशांगी रुप 12 अंगों का श्रुतज्ञान अंग प्रविष्ट श्रुतज्ञान है ।

## 12 अंग

**1) आचारांग सूत्र :** इस आगम में साधु के आचारमार्ग का विस्तार से वर्णन है । साधु के आहार–विहार–निहार–भाषा– शय्या–वस्त्र,

सुख–दुःख आदि का वर्णन है । इसके साथ ही भगवान महावीर की घोरातिघोर साधना का वर्णन है। प्राचीन समय में इस आगम में 18,000 पद थे। (1 पद में 51, 08, 86, 040 श्लोक एवं 26 अक्षर होते थे।) वर्तमान समय में आचारांग सूत्र में 25 अध्ययन 2554 श्लोक प्रमाण है। इस सूत्र पर 12,000 श्लोक प्रमाण शीलांकाचार्य की टीका भी है ।

**2) सूत्रकृतांग :** इस आगम में 180 क्रियावादी, 84 अक्रियावादी, 67 अज्ञानवादी, 32 विनयवादी इत्यादि कुल 363 पाखंडियों का वर्णन है। प्राचीन सूत्रकृतांग में 36,000 पद थे। वर्तमान में 2,100 श्लोक प्रमाण है। इस आगम पर 12,850 श्लोक प्रमाण शीलांकाचार्य विरचित टीका है ।

**3) स्थानांग सूत्र :** इस आगम में 1 से 10 तक की संख्यावाले पदार्थों का वर्णन है। इस आगम के 10 अध्ययन हैं। प्राचीन समय में इस आगम में 72,000 पद थे, वर्तमान में यह आगम 3,700 श्लोक प्रमाण है, इसमें 31 अध्ययन हैं। 14,250 श्लोक प्रमाण टीका है ।

**4) समवायांग सूत्र :** इस आगम में 1 से 100 की संख्या वाले विविध पदार्थों के वर्णन के बाद 150, 250, 300, 400, 500, 600, 700, 800, 900, 1000, 1100, 2000 से 10,000 तक की संख्या वाले पदार्थ, उसके बाद 1 लाख से 10 लाख, फिर करोड़ आदि की संख्या वाले पदार्थों का विस्तृत वर्णन है। इस आगम के दो अध्ययन हैं। यह आगम 1660 श्लोक प्रमाण है। इस सूत्र पर 3574 श्लोक प्रमाण टीका उपलब्ध है ।

**5) व्याख्या प्रज्ञप्ति :** इसे भगवती सूत्र भी कहते है। गौतम स्वामी द्वारा पूछे गए और प्रभु महावीर द्वारा उत्तर दिए गए 36000 प्रश्नों का संकलन इस आगम में है। इसमें 41 शतक और 10,000 उद्देशा हैं। वर्तमान में यह आगम 1575 श्लोक प्रमाण उपलब्ध है। इस आगम में जीव, कर्म, विज्ञान, खगोल, भूगोल आदि की विस्तृत जानकारी दी गई है। इस आगम पर वर्तमान में 18,616 श्लोक प्रमाण टीका उपलब्ध है ।

**6) ज्ञाताधर्म कथा :** इस छठे अंग के दो श्रुतस्कंध हैं । 1) ज्ञातश्रुतस्कंध और 2) धर्मकथा श्रुतस्कंध । पहले श्रुतस्कंध में 19 अध्ययन हैं । दूसरे श्रुतस्कंध के 10 वर्ग के 206 अध्ययन हैं । वर्तमान में इस आगम पर 800 श्लोक प्रमाण टीका उपलब्ध है ।

**7) उपासक दशांग :** इस 7वें अंग में आनंद, कामदेव, चुलनीपिता, सुरादेव, चुल्लशतक, कुंडकोलिक, सद्दालपुत्र, महाशतक और नंदिनी आदि 10 मुख्य श्रावकों के विस्तृत चरित्रों का वर्णन है । वर्तमान में इस आगम पर अभयदेवसूरिजी म. की 800 श्लोक प्रमाण टीका उपलब्ध है ।

**8) अंतकृद् दशांग :** केवलज्ञानप्राप्ति के तुरंत बाद जो मोक्ष में जाते हैं, वे अंतकृत् केवली कहलाते हैं । इसमें आठ वर्ग में 92 अध्ययन हैं । इसमें अंतकृत् केवली के चरित्र हैं ।

**9) अनुत्तरोपपातिक :** इसके दो द्वार के 10 अध्ययनों में अनुत्तर देव विमान में उत्पन्न होनेवाले मुनिवरों का वर्णन है । इस आगम पर 5100 श्लोक प्रमाण टीका उपलब्ध है ।

**10) प्रश्नव्याकरण :** इसके 1 श्रुतस्कंध के 10 अध्ययन हैं । प्रथम 5 अध्ययन में हिंसा आदि 5 आस्रव द्वारों का तथा शेष 5 अध्ययनों में अहिंसा आदि 5 संवरों का वर्णन है । इस आगम पर 5330 श्लोक प्रमाण टीका उपलब्ध है ।

**11) विपाक सूत्र :** इस आगम में पुण्य–पाप के विपाकों का वर्णन है । इसके दो श्रुत स्कंध हैं । पहले श्रुत स्कंध में 10 अध्ययन हैं । जिसमें दुःख विपाक का वर्णन है । । दूसरे श्रुत स्कंध में सुख विपाक का वर्णन है ।

**12) दृष्टिवाद :** इसके पाँच विभाग है– (1) परिकर्म, (2) सूत्र (3) 14 पूर्व (4) चुलिका (5) अनुयोग ।

## चौदह पूर्व का प्रमाण

| संख्या | पूर्वों के नाम | हाथी प्रमाण सूकी स्याही से लिखे जा सके |
|---|---|---|
| 1. | उत्पाद पूर्व | 1 |
| 2. | अग्रायणीय पूर्व | 2 |
| 3. | वीर्यप्रवाद पूर्व | 4 |
| 4. | अस्ति नास्ति प्रवाद पूर्व | 8 |
| 5. | ज्ञानप्रवाद पूर्व | 16 |
| 6. | सत्यप्रवाद पूर्व | 32 |
| 7. | आत्मप्रवाद पूर्व | 64 |
| 8. | कर्मप्रवाद पूर्व | 128 |
| 9. | प्रत्याख्यान प्रवाद पूर्व | 256 |
| 10. | विद्या प्रवाद पूर्व | 512 |
| 11. | कल्याण प्रवाद पूर्व | 1024 |
| 12. | प्राणायाम पूर्व | 2048 |
| 13. | क्रियाविशाल पूर्व | 4096 |
| 14. | लोकबिंदुसार | 8192 |
| **कुल** | | **16383 हाथी प्रमाण** |

14 पूर्वधर महात्मा श्रुतकेवली कहलाते हैं। वे श्रुत के पारगामी होते हैं। केवली भगवंत अपने केवलज्ञान द्वारा किसी भी पदार्थ का सूक्ष्म निरूपण कर सकते हैं, उसी प्रकार 14 पूर्वधर महर्षि भी कर सकते हैं। अर्थात् केवली भगवंत की देशना और श्रुतकेवली की धर्मदेशना में कोई फर्क नहीं होता है।

14 पूर्वधर महर्षि एक अन्तर्मुहूर्त जितने काल में पूर्वों का स्वाध्याय कर सकते हैं।

आहारक लब्धि पूर्वधर महर्षि को ही होती है, जिस लब्धि के द्वारा वे 1 हाथ प्रमाण आहारक शरीर बनाकर उस शरीर को महाविदेह क्षेत्र में भेज सकते हैं और तीर्थंकर परमात्मा के मुख से अपनी शंकाओं का समाधान प्राप्त कर सकते हैं ।

12 अंगो में से आज 11 अंग विद्यमान हैं, जो 45 आगमों में मुख्य कहलाते है । 12 वें अंग–दृष्टिवाद का विच्छेद हो गया है ।

**कर्मग्रंथ में बताए श्रुतज्ञान के 14 और 20 भेद :**

1) अक्षर श्रुत 2) अनक्षर श्रुत 3) संज्ञी श्रुत 4) असंज्ञी श्रुत 5) सम्यक् श्रुत 6) मिथ्या श्रुत 7) सादि श्रुत 8) अनादि श्रुत 9) सपर्यवसित श्रुत 10) अपर्यवसित श्रुत 11) गमिक श्रुत 12) अगमिक श्रुत 13) अंग प्रविष्ट श्रुत 14) अंग बाह्य श्रुत

यद्यपि श्रुतज्ञान के उपर्युक्त 14 भेदों का समावेश अक्षर श्रुत और अनक्षर श्रुत में हो जाता है, फिर भी मंद बुद्धिवाले जिज्ञासु की अपेक्षा श्रुतज्ञान के 14 भेद किए गए हैं ।

**1) अक्षर श्रुत :** अक्षरों से अभिलाप्य (वचन द्वारा कहे जा सके) ऐसे पदार्थों का जो बोध होता है, उसे अक्षर श्रुत कहते हैं । इस अक्षर श्रुत के तीन भेद हैं–

**अ) संज्ञाक्षर :** 18 प्रकार की लिपि (अक्षरों) को संज्ञाक्षर कहा जाता है ।

**आ) व्यंजनाक्षर : 'अ से ह'** तक के अक्षरों के उच्चारण से जो ज्ञान होता है, उसे व्यंजनाक्षर कहते हैं ।

**इ) लब्ध्यक्षर :** शब्द अथवा अक्षर को पढ़ने–सुनने से जो बोध होता है, उस बोध में हेतुभूत क्षयोपशम को लब्ध्यक्षर कहते हैं ।

संज्ञाक्षर और व्यंजनाक्षर दोनों द्रव्य श्रुत हैं और लब्ध्यक्षर भाव श्रुत है । द्रव्य श्रुत अज्ञान स्वरूप होने पर भी भाव श्रुत का कारण होने से उसे श्रुतज्ञान कहा गया है ।

**प्रश्न : अभिलाप्य–अनभिलाप्य भाव किसे कहते हैं ?**

**उत्तर :** शास्त्र में दो प्रकार के भाव बतलाए गए हैं। जिन भावों को शब्दों द्वारा कहा जा सकता हो, उसे **अभिलाप्य** भाव कहते हैं और जिन्हें शब्दों में न कहा जा सके, उसे **अनभिलाप्य** भाव कहते हैं ।

अभिलाप्य भाव से अनभिलाप्य भाव अनंत गुणे हैं । गणधर भगवंत अभिलाप्य भावों का अनंतवाँ भाग ही चौदह पूर्व के रूप में रचते हैं ।

**2) अनक्षर श्रुत :** अक्षर के बिना हाथ के इशारे, खाँसी आदि के संकेत से होनेवाले ज्ञान को अनक्षर श्रुतज्ञान कहते हैं ।

**3) संज्ञी श्रुत :** मनवाले पंचेन्द्रिय जीवों को संज्ञी कहते हैं । संज्ञी जीवों के ज्ञान को संज्ञी श्रुत कहा जाता है ।

**संज्ञा के तीन भेद हैं–**

**क) दीर्घकालिकी संज्ञा :** दीर्घकाल तक विचार करने की शक्ति। **'मैंने अमुक कार्य किया, अमुक कार्य करूंगा, अमुक कार्य कर रहा हूँ'** इस प्रकार भूत, भविष्य और वर्तमान का विचार करने की शक्ति को दीर्घकालिकी संज्ञा कहते हैं । देव, नारक व गर्भज तिर्यंच मनुष्य को यह संज्ञा होती है ।

**ख) हेतुवादोपदेशिकी संज्ञा :** अपने शरीर के रक्षण के लिए इष्ट में प्रवृत्ति और अनिष्ट से निवृत्ति रूप वर्तमान काल का विचार करने की शक्ति को हेतुवादोपदेशिकी संज्ञा कहते हैं । यह संज्ञा बेइन्द्रिय आदि असंज्ञी जीवों को होती है ।

**ग) दृष्टिवादोपदेशिकी संज्ञा :** विशिष्ट श्रुतज्ञान के क्षयोपशमवाले और हेयोपादेय की प्रवृत्तिवाले सम्यग्दृष्टि जीव की विचारणा को दृष्टिवादोपदेशिकी संज्ञा कहा जाता है ।

**4) असंज्ञी श्रुत :** जिन जीवों के मन नहीं होता है, उन्हें असंज्ञी कहा जाता है । असंज्ञी प्राणियों के श्रुत को असंज्ञी श्रुत कहा जाता है ।

**5) सम्यग्श्रुत :** सम्यग्दृष्टि जीवों के श्रुत को सम्यग्श्रुत कहा जाता है ।

**6) मिथ्याश्रुत :** मिथ्यादृष्टि जीवों के श्रुत को मिथ्याश्रुत कहा जाता है ।

**7) सादि श्रुत :** जिस श्रुतज्ञान का प्रारंभ होता है, उसे सादि श्रुत कहते हैं ।

**8) अनादि श्रुत :** जिस श्रुत की आदि न हो, उसे अनादि श्रुत कहा जाता है ।

**9) सपर्यवसित श्रुत :** जिस श्रुतज्ञान का अंत होता हो, उसे सपर्यवसित श्रुत कहा जाता है ।

**10) अपर्यवसित श्रुत :** जिस श्रुतज्ञान का अंत न हो, उसे अपर्यवसित अनंत श्रुत कहा जाता है ।

पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा श्रुतज्ञान सादि, सपर्यवसित और द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा अनादि अपर्यवसित है ।

**11) गमिक श्रुत :** जिस सूत्र में एक समान आलावें (पाठ) आते हों उसे गमिक श्रुत कहा जाता है । जैसे दृष्टिवाद ।

**12) अगमिक श्रुत :** जिस सूत्र में एक समान आलावें नहीं आते हो, वह अगमिक श्रुत कहलाता है । जैसे–कालिक श्रुत ।

**13) अंगप्रविष्ट श्रुत :** गणधर भगवंत विरचित द्वादशांग रूप श्रुत को अंगप्रविष्ट श्रुत कहा जाता हे ।

**14) अंगबाह्य श्रुत :** गणधरों से अतिरिक्त स्थविर मुनियों द्वारा अंगों के आधार से जो श्रुत रचा जाता है, उसे अंगबाह्य श्रुत कहा जाता है । जैसे–दशवैकालिक, आवश्यक–निर्युक्ति आदि ।

**द्रव्य–क्षेत्र–काल–भाव की अपेक्षा**

**1) द्रव्य :** जब कोई जीव सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है, तब उस जीव की अपेक्षा श्रुतज्ञान का प्रारंभ हुआ कहलाता है, वो ही जीव सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट होता है, तब उसके श्रुतज्ञान का अंत कहलाता है। इस प्रकार एक जीव की अपेक्षा श्रुतज्ञान सादि–सांत हुआ ।

अनेक जीवों की अपेक्षा श्रुतज्ञान अनादिकाल से चला आ रहा है और अनंतकाल तक रहेगा, अतः अनादि अनंत कहलाता है ।

**2) क्षेत्र :** भरत और ऐरावत में तीर्थ का प्रारंभ होता है, अतः श्रुतज्ञान का भी प्रारंभ होता है और तीर्थ के उच्छेद के साथ श्रुतज्ञान का भी अंत होता है, अतः भरत–ऐरावत में श्रुतज्ञान सादि–सांत हुआ, जबकि महाविदेह में सदाकाल तीर्थ रहता है, अतः वहाँ की अपेक्षा सम्यग्श्रुत अनादि–अनंत है ।

**3) काल :** भरत–ऐरावत क्षेत्र में उत्सर्पिणी अवसर्पिणी के तीसरे आरे के अंत में श्रुतज्ञान का प्रारंभ होता है और उत्सर्पिणी के चौथे आरे का अमुक अंश व्यतीत होने पर तथा अवसर्पिणी के पाँचवें आरे के अंत में श्रुतज्ञान का नाश होता है, अतः यहाँ अमुक काल की अपेक्षा सादि–सांत है, जबकि महाविदेह क्षेत्र में सदा एक काल होने से वहाँ श्रुतज्ञान अनादि–अनंत है ।

**4) भाव :** क्षायोपशमिक सम्यक्त्व की अपेक्षा श्रुतज्ञान सादि–सांत है । क्षायोपशमिक सम्यक्त्व के प्रारंभ से श्रुतज्ञान का प्रारंभ होता है और वह सम्यक्त्व चला जाय, तब श्रुतज्ञान का अंत हो जाता है, अतः सादिसांत है ।

## श्रुतज्ञान के 20 भेद

पर्याय-श्रुत, अक्षर-श्रुत, पद-श्रुत, संघात-श्रुत, प्रतिपत्ति-श्रुत, अनुयोगश्रुत, प्राभृत श्रुत, प्राभृत-प्राभृत श्रुत, वस्तु श्रुत, पूर्व श्रुत इन दस भेदों के साथ **'समास'** शब्द जोडने से अन्य दश (कुल बीस) भेद होते हैं ।

**1) पर्याय श्रुत :** श्रुतज्ञान के एक सूक्ष्म अविभाज्य अंश को पर्याय कहा जाता है । लब्धि अपर्याप्ता सूक्ष्म निगोद के जीव को उत्पत्ति के प्रथम समय में जो सर्व जघन्य श्रुतज्ञान होता है उस श्रुतज्ञान में एक अंश की जो वृद्धि होती है, उसे पर्यायश्रुत कहते हैं ।

**2) पर्याय समास श्रुत :** अनेक पर्याय श्रुत को पर्यायसमास श्रुत कहते हैं ।

**3) अक्षर श्रुत : 'अ से ह'** तक के किसी एक अक्षर का ज्ञान, अक्षर–श्रुत कहलाता है ।

**4) अक्षर समास श्रुत :** एक से अधिक अक्षरों के ज्ञान को अक्षर समास–श्रुत कहा जाता है ।

**5) पद श्रुत :** आचारांग सूत्र के 18,000 पद हैं, उनमें से किसी एक पद का ज्ञान, पदश्रुत कहलाता है ।

**6) पद समास श्रुत :** आचारांग आदि के 1 से अधिक पदों के ज्ञान को पदसमास श्रुत कहते हैं ।

**7) संघात श्रुत :** गति, इन्द्रिय आदि 14 मूल मार्गणाओं में से किसी भी एक मार्गणा के भेद के ज्ञान को संघातश्रुत कहते हैं । जैसे गति मार्गणा के चार भेद हैं । 1) देवगति 2) नरकगति 3) तिर्यंचगति और 4) मनुष्य गति ।

इनमें से किसी भी प्रभेद के ज्ञान को संघातश्रुत कहा जाता है ।

**8) संघात समास श्रुत :** गति आदि 14 मूल मार्गणाओं में से किसी भी एक मार्गणा के एक से अधिक प्रभेद के ज्ञान को संघात समास श्रुत कहते हैं । जैसे चार गतियों में एक से अधिक गति का ज्ञान ।

**9) प्रतिपत्ति श्रुत :** गति आदि 14 मूल मार्गणाओं में से किसी भी एक मार्गणा के संपूर्ण ज्ञान को प्रतिपत्ति श्रुत कहा जाता है ।

**10) प्रतिपत्ति समास श्रुत :** एक से अधिक मार्गणाओं के संपूर्ण ज्ञान को प्रतिपत्ति समास श्रुत कहते हैं ।

**11) अनुयोग श्रुत :** सत्पद आदि द्वारा जीव आदि तत्त्वों के विचार को अनुयोग कहा जाता है ।

उदा. मोक्ष तत्त्व का विचार सत्पद आदि नौ द्वारों से हो सकता है, अतः सत्पद आदि नौ अनुयोग द्वार कहलाते हैं । उन नौ में से किसी भी एक द्वार के ज्ञान को अनुयोग श्रुत कहा जाता है ।

**12) अनुयोग समास श्रुत :** सत्पद आदि एक से अधिक अनुयोग द्वार के ज्ञान को अनुयोग समास श्रुत कहा जाता है ।

**13) प्राभृत प्राभृत श्रुत :** दृष्टिवाद नाम के बारहवें अंग में प्राभृत प्राभृत नाम का अधिकार है । उनमें से किसी एक का ज्ञान प्राभृत–प्राभृत श्रुत कहलाता है ।

**14) समास श्रुत :** एक से अधिक प्राभृत–प्राभृत का ज्ञान, प्राभृत प्राभृत समास श्रुत कहलाता है ।

**15) प्राभृत श्रुत :** जैसे कई उद्देशों का एक अध्ययन होता है, उसी प्रकार कई प्राभृत–प्राभृतों का एक प्राभृत होता है । उसके ज्ञान को प्राभृत श्रुत कहते हैं ।

**16) प्राभृत समास श्रुत :** एक से अधिक प्राभृत के ज्ञान को प्राभृत समास श्रुत कहा जाता है ।

**17) वस्तु श्रुत :** कई प्राभृत मिलकर **'वस्तु'** अधिकार होता है । उनमें से किसी एक के ज्ञान को वस्तु श्रुत कहा जाता है ।

**18) वस्तु समास श्रुत :** एक से अधिक वस्तु अधिकार के ज्ञान को वस्तु समास श्रुत कहा जाता है ।

**19) पूर्वश्रुत :** अनेक वस्तुओं का एक पूर्व कहलाता है, उनमें से एक का ज्ञान **'पूर्वश्रुत'** कहलाता है ।

**20) पूर्व समास श्रुत :** एक से अधिक पूर्व के ज्ञान को पूर्व समास श्रुत कहा जाता है ।

## अवधिज्ञान के भेद

**द्विविधोऽवधिः ।।1-21।।**

**सामान्य अर्थ :–** अवधिज्ञान के दो भेद हैं –1) भव प्रत्यय 2) क्षयोपशम प्रत्यय ।

**विवेचन :–** मतिज्ञान और श्रुतज्ञान, परोक्ष ज्ञान हैं, जबकि अवधिज्ञान आदि तीनों ज्ञान, प्रत्यक्ष ज्ञान हैं । मति व श्रुतज्ञान में इन्द्रिय व मन की

अपेक्षा रहती है, जबकि अवधिज्ञान आदि प्रत्यक्ष ज्ञान हैं, उनमें मन व इन्द्रिय की अपेक्षा नहीं रहती है, ये आत्मप्रत्यक्ष ज्ञान हैं ।

इस अवधिज्ञान के मुख्य दो भेद हैं–

1) भव प्रत्यय और 2) क्षयोपशम प्रत्यय

प्रत्यय यानी निमित्त । जो अवधिज्ञान निश्चित गति में जन्म से ही होता है, अर्थात् भव के निमित्त से होनेवाला अवधिज्ञान भव प्रत्यय है । तथा अवधिज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से होनेवाला अवधिज्ञान क्षयोपशम प्रत्यय है ।

## भवप्रत्यय अवधिज्ञान

**भवप्रत्ययो नारक-देवानाम् ।।1-22।।**

**सामान्य अर्थ :–** भवप्रत्यय अवधिज्ञान नारक और देवों को होता है ।

**विवेचन :–** भव के निमित्त को पाकर जो अवधिज्ञान पैदा होता है, उसे भवप्रत्ययिक अवधिज्ञान कहते हैं । जैसे कोई जीव पंखी के रूप में पैदा होता है तो उस भव के कारण उसे उड़ने की कला हासिल हो जाती है । कोई जीव जलचर प्राणी, मछली आदि के रूप में पैदा होता है तो उसे तैरना आ जाता है, बस, इसी प्रकार देव और नरक के भव को प्राप्त करते ही जो अवधिज्ञान हो जाता है, उसे **भवप्रत्ययिक अवधिज्ञान** कहते हैं ।

देव और नारक को होनेवाले अवधिज्ञान में अवधिज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम भी काम करता है, परंतु उसकी गौणता होने से भव की मुख्यता कही गई है ।

भवप्रत्यय अवधिज्ञान के क्षेत्र का मुख्य आधार आयुष्य है । परंतु देव और नारक के अवधिज्ञान क्षेत्र में मुख्य भेद है कि देवों का आयुष्य बढने पर उनका अवधिज्ञान क्षेत्र भी बढ़ता है जबकि नारकों का आयुष्य बढ़ने पर उनका अवधिज्ञान क्षेत्र भी कम होता जाता है ।

**देवों का अवधिज्ञान क्षेत्र–**

भवनपति, व्यंतर और ज्योतिष देवों का–

चारों दिशा में उत्कृष्ट – आधे सागरोपम से कम आयुष्यवाले देवों का संख्यात योजन। उससे अधिक आयुष्य वाले देवों का असंख्यात योजन।

ऊर्ध्व दिशा में उत्कृष्ट – भवनपति देवों का सौधर्म देवलोक तक एवं व्यंतर–ज्योतिष का संख्यात योजन।

अधो दिशा में उत्कृष्ट – भवनपति देवों का तीसरी नरक तक एवं व्यंतर ज्योतिष का संख्यात योजन।

सभी दिशाओं में जघन्य – भवनपति और व्यंतर का 25 योजन एवं ज्योतिष देवों का संख्यात योजन।

**नारकों के अवधिज्ञान का क्षेत्र–**

| नरक | जघन्य | उत्कृष्ट |
|---|---|---|
| पहली | 3 ½ कोस | 4 कोस |
| दूसरी | 3 कोस | 3 ½ कोस |
| तीसरी | 2 ½ कोस | 3 कोस |
| चौथी | 2 कोस | 2 ½ कोस |
| पाँचवीं | 1 ½ कोस | 2 कोस |
| छठी | 1 कोस | 1 ½ कोस |
| सातवीं | ½ कोस | 1 कोस |

वैमानिक देवों का अवधिज्ञान क्षेत्र चौथे अध्ययन के 21 वें सूत्र में बताया गया है।

## क्षयोपशम प्रत्यय अवधिज्ञान

**यथोक्तनिमित्तः षड्विकल्पः शेषाणाम् ।।1-23।।**

**सामान्य अर्थ :–** शेष गतियों में जीवों को शास्त्रों में कहे क्षयोपशम निमित्त से उत्पन्न होने वाले क्षयोपशम प्रत्यय अवधिज्ञान छह प्रकार के होते हैं।

**विवेचन :–** रत्नत्रयी की आराधना के फलस्वरूप मनुष्य और तिर्यंचों को जो अवधिज्ञान पैदा होता है, उसे **क्षयोपशम प्रत्यय अवधिज्ञान** कहते हैं ।

**इस अवधिज्ञान के छह भेद हैं–**

**1) अनुगामी अवधिज्ञान :** जो अवधिज्ञान उत्पत्ति क्षेत्र को छोड़कर अन्य क्षेत्र में जाने पर भी नष्ट नहीं होता है, बल्कि साथ में ही चलता है, उसे अनुगामी अवधिज्ञान कहते हैं ।

इस अवधिज्ञान द्वारा जीव अपने चारों ओर के संख्य-असंख्य योजनों में रहे रूपी द्रव्यों को जान सकता है ।

**2) अननुगामी अवधिज्ञान :** जिस स्थल में जीव को अवधिज्ञान उत्पन्न हुआ हो, उसी क्षेत्र में रहने पर जो अवधिज्ञान रहता हो, उसे अननुगामी कहते हैं अर्थात् उत्पत्ति क्षेत्र से अन्य क्षेत्र में जाने पर जो अवधिज्ञान साथ में नहीं चलता हो उसे अननुगामी अवधिज्ञान कहते हैं ।

**3) वर्धमान अवधिज्ञान :** जो अवधिज्ञान उत्पत्ति के समय अल्प विषयवाला हो और बाद में क्रमशः बढ़ता जाता हो, उसे वर्धमान अवधिज्ञान कहते हैं ।

**4) हीयमान अवधिज्ञान :** जो अवधिज्ञान उत्पत्ति के समय अधिक विषयवाला होने पर भी परिणामों की अशुद्धि के कारण धीरे–धीरे अल्प–अल्पतर विषयवाला बनता हो, उसे हीयमान अवधिज्ञान कहते हैं ।

**5) प्रतिपाती अवधिज्ञान :** जो अवधिज्ञान उत्पन्न होने के बाद हवा के झोंके से बुझनेवाले दीपक की भाँति समाप्त होनेवाला हो उसे प्रतिपाती अवधिज्ञान कहते हैं ।

**6) अप्रतिपाती अवधिज्ञान :** जो अवधिज्ञान उत्पत्ति के बाद कभी नष्ट होनेवाला नहीं हो, उसे अप्रतिपाती अवधिज्ञान कहते हैं । ऐसा अवधिज्ञानी संपूर्ण लोक तथा अलोक के एक आकाश प्रदेश को भी देख–जान सकता है । यह अप्रतिपाती अवधिज्ञान बारहवें गुणस्थानकवर्ती जीवों को अंत समय में होता है और उसके बाद तेरहवाँ गुणस्थान प्राप्त

होने के प्रथम समय के साथ केवलज्ञान पैदा हो जाता है। इसका दूसरा नाम अवस्थित अवधिज्ञान भी है।

सामान्य से चारों गतियों के जीवों को अवधिज्ञान हो सकता है, परंतु मनुष्य को अवधिज्ञान के सभी छह भेद घट सकते हैं। तिर्यंचों को अप्रतिपाती अवधिज्ञान नहीं होता है।

***द्रव्य से अवधिज्ञानी अनंत रूपी द्रव्यों को जानते–देखते हैं और उत्कृष्ट से सभी रूपी द्रव्यों को जानते हैं।***

***क्षेत्र से अवधिज्ञानी जघन्य से अंगुल के असंख्यातवें भाग जितने क्षेत्र को जानते हैं और उत्कृष्ट से लोक जितने असंख्य खंडों को जान सकते हैं।***

***काल से अवधिज्ञानी आवलिका के असंख्यातवें भाग प्रमाण काल में हुए रूपी द्रव्यों को जान–देख सकते हैं तथा उत्कृष्ट से असंख्य उत्सर्पिणी अवसर्पिणी में हुए पदार्थों को जान–देख सकते हैं।***

***भाव से अवधिज्ञानी जघन्य से रूपी द्रव्यों की अनंत पर्यायों को और उत्कृष्ट से भी रूपी द्रव्यों की अनंत पर्यायों को देख–जान सकते है।***

## मनःपर्याय ज्ञान के भेद

### ऋजु–विपुलमती मनःपर्यायः ॥1-24॥

**सामान्य अर्थ :–** मनःपर्याय ज्ञान के दो भेद हैं– 1)ऋजुमति मनःपर्याय ज्ञान, 2) विपुलमति मनःपर्याय ज्ञान।

**विवेचन :–** मनःपर्याय और मनःपर्यव–दोनों शब्द समानार्थी हैं। मनःपर्याय का अर्थ है–मन के विचार।

ढ़ाई द्वीप में रहे संज्ञी प्राणियों के मनोगत भावों को मनःपर्यायज्ञानी जान सकता है। इसके दो भेद हैं–

**1) ऋजुमति :** दूसरे के मन में रहे पदार्थ के सामान्य स्वरूप को जानना, अर्थात् विषय के सामान्य स्वरूप को जानना, उसे ऋजुमति

मन:पर्यायज्ञान कहते है ।

**2) विपुलमति :** दूसरे के मन में रहे पदार्थ के विशेष स्वरूप को जानना, उसे विपुलमति मन:पर्यायज्ञान कहलाते है ।

मन:पर्याय ज्ञानी अपने ज्ञान से अन्य के मन के विचार–प्रत्यक्ष जान सकता हैं परंतु विचारणीय वस्तु को नहीं जान सकता हैं । विचारणीय वस्तु को अनुमान से जानते हैं । मन जब विचार करता है तब विचारणीय वस्तु के अनुसार मनोवर्गणा के पुद्गलों के अलग–अलग आकार बनते हैं । मन:पर्याय ज्ञानी इन्हें प्रत्यक्ष देखकर विचारणीय वस्तु का अनुमान करते हैं जिससे उन्हें अन्य के विचारों का ज्ञान होता है ।

## मन:पर्याय ज्ञान के भेदों में विशेषता

**विशुद्ध्यऽप्रतिपाताभ्यां तद्विशेषः ।।1-25।।**

**सामान्य अर्थ :–** ऋजुमति और विपुलमति में विशुद्धि और अप्रतिपात की विशेषता है ।

**विवेचन :–** ऋजुमति मन:पर्याय ज्ञान से विपुलमति मन:पर्यायज्ञान अधिक विशुद्ध और अप्रतिपाती है । ऋजुमति मन:पर्याय ज्ञान अतिशुद्ध और प्रतिपाती है । एक बार प्राप्त होने के बाद वह नष्ट भी हो सकता है । जबकि विपुलमति मन:पर्याय ज्ञान विशुद्ध और अप्रतिपाती है । विपुलमति मन:पर्याय ज्ञान होने के बाद अवश्य ही केवलज्ञान की प्राप्ति होती है ।

द्रव्य–क्षेत्र–काल और भाव की अपेक्षा से इनकी विशुद्धि इस प्रकार है–

द्रव्य से ऋजुमति मन:पर्यवज्ञान, मनोवर्गणा के अनंत प्रदेशवाले स्कंधों को जानता है, जबकि विपुलमति, ऋजुमति की अपेक्षा अधिक प्रदेशवाले स्कंधों को विशुद्ध रूप से जानता–देखता है ।

क्षेत्र से ऋजुमति मन:पर्यवज्ञानी जघन्य से अंगुल के असंख्यातवें भाग मात्र क्षेत्र को और उत्कृष्ट से रत्नप्रभा पृथ्वी के नीचे क्षुल्लक प्रतर को और ऊपर ज्योतिष चक्र के ऊपरीतल पर्यंत और तिरछे ढाई द्वीप

पर्यंत संज्ञी जीवों के मनोगत भावों को जानता है, जब कि विपुलमति ऋजुमति की अपेक्षा तिरछी दिशा में ढाई अंगुल अधिक, संज्ञी जीवों के मनोगत भावों को जानता है ।

काल से ऋजुमति जघन्य से पल्योपम के असंख्यातवें भाग को और उत्कृष्ट से भी पल्योपम के असंख्यातवें भाग भूत, भविष्य के मनोगत भावों को जानता देखता है और विपुलमति, ऋजुमति की अपेक्षा कुछ अधिक काल के मनोगत भावों को विशुद्ध रूप में देखता है ।

भाव से ऋजुमति मनोगत भावों के असंख्य पर्यायों को जानता देखता है और विपुलमति, ऋजुमति की अपेक्षा कुछ अधिक पर्यायों को विशुद्ध रूप में जानता–देखता है ।

***ऋजुमति ज्ञान उत्पन्न होने के बाद कभी नष्ट भी हो सकता है जबकि विपुलमति ज्ञान जाता नहीं है, अर्थात् विपुलमति मनःपर्यवज्ञान के बाद अवश्य केवलज्ञान की प्राप्ति होती है ।***

तारक अरिहंत परमात्मा जब दीक्षा अंगीकार करते हैं, तब उन्हे चौथा मनःपर्यवज्ञान पैदा होता है ।

## अवधिज्ञान और मनःपर्याय ज्ञान में भेद

**विशुद्धि–क्षेत्र–स्वामि–विषयेभ्योऽवधि-मनःपर्याययोः ।।1-26।।**

**सामान्य अर्थ :–** अवधिज्ञान से मनःपर्याय ज्ञान में विशुद्धि, क्षेत्र, स्वामी और विषय में विशेषता होने से अंतर है ।

**विवेचन :– अवधिज्ञान और मनःपर्याय ज्ञान में अंतर**

**1) विशुद्धि :** अवधिज्ञानी रूपी द्रव्यों को स्पष्ट जानता है, अतः विशुद्ध है, जबकि मनःपर्यायज्ञानी मनोगत भावों को अत्यंत स्पष्ट जानता है, अतः विशुद्धतर है ।

**2) क्षेत्र :** अवधिज्ञानी अंगुल के असंख्यातवें भाग से लेकर संपूर्ण लोक में रहे रूपी द्रव्यों को जान सकता है, जबकि मनःपर्यायज्ञानी ढ़ाई द्वीप में रहे संज्ञी जीवों के मन के विचारों को जान सकता है ।

**3) स्वामी :** अवधिज्ञानी चारों गतियों में हो सकता है, जबकि मनःपर्यायज्ञान अप्रमत्त संयमी मनुष्य को ही होता है ।

**4) विषय :** अवधिज्ञानी कतिपय पर्यायों के साथ संपूर्ण रूपी द्रव्यों को जानता है जबकि मनःपर्यायज्ञानी अवधिज्ञान की अपेक्षा अनंतवें भाग प्रमाण, मात्र मनोद्रव्य को जानते हैं ।

अवधिज्ञान परभव में साथ में जा सकता है, जब कि मनःपर्यायज्ञान एक ही भव में रहता है ।

सम्यक्त्व भ्रष्ट होने पर अवधिज्ञान, विभंगज्ञान में बदल जाता है, जबकि मनःपर्यायज्ञान कभी विपरीत नहीं होता है ।

मनोद्रव्य रूपी होने से विशुद्ध अवधिज्ञान से मन के विचारों को भी जाना जा सकता है । तारक अरिहंत परमात्मा, अनुत्तर देवों को द्रव्य मन से ही उत्तर प्रदान करते हैं ।

## मतिज्ञान और श्रुतज्ञान का विषय

**मति-श्रुतयोर्निबन्धःसर्वद्रव्येष्वऽसर्वपर्यायेषु ।।1-27।।**

**सामान्य अर्थ :–** मतिज्ञान और श्रुतज्ञान के विषय सभी द्रव्य और कुछ पर्याय है ।

**विवेचन :–** जगत् में रहे सभी रूपी और अरूपी द्रव्यों को मतिज्ञान और श्रुतज्ञान से जान सकते हैं परंतु द्रव्य के अनंत पर्याय होने से मतिज्ञान और श्रुतज्ञान के द्वारा सभी पर्याय नहीं जान सकते हैं । मात्र कुछ पर्याय ही जान सकते हैं ।

सर्वाधिक मतिज्ञान और श्रुतज्ञान गणधर भगवंत या चौदहपूर्वी को होता है । परंतु वे भी सभी द्रव्यों की सभी पर्यायों को नहीं जान सकते है क्योंकि उनके ज्ञान का मूल तीर्थंकर भगवान की धर्मदेशना है ।

केवलज्ञान के प्रकाश में तीर्थंकर परमात्मा जगत् के सभी रूपी–अरूपी द्रव्यों की समस्त पर्यायों को प्रत्यक्ष देखते हैं परंतु उन सभी पर्यायों को शब्दों के द्वारा व्यक्त नहीं कर सकते हैं । वे जितना जानते हैं उसमें

अनभिलाप्य भाव ऐसे हैं जिनको शब्दों में व्यक्त नहीं किया जा सकता है, जैसे शक्कर की मिठास । जिन भावों को शब्दों में व्यक्त कर सकते हैं ऐसे अभिलाप्य भावों को भी वे पूर्ण रूप से व्यक्त नहीं कर सकते हैं क्योंकि उनका आयुष्य सीमित है ।

अनभिलाप्य भावों का अनंतवाँ भाग ही अभिलाप्य भाव है । उस अनंतवें भाग का भी मात्र अनंतवाँ भाग तीर्थंकर भगवान अपनी धर्मदेशना में बोल सकते हैं । जो धर्मदेशना में बोला गया है, उसका भी मात्र अनंतवाँ भाग ही गणधर भगवंत सूत्र के रूप में रचना कर सकते हैं । इसलिए चौदह पूर्व के ज्ञाता श्रुतकेवली भी सभी द्रव्यों की सभी पर्यायों को नहीं जान सकते हैं । अतः मतिज्ञान और श्रुतज्ञान का विषय सर्वद्रव्य होने पर भी पर्याय का मात्र कुछ भाग ही है ।

## अवधिज्ञान और मनःपर्यायज्ञान का विषय

**रूपिष्ववधेः ।।1-28।।**

**तदनन्तभागे मनःपर्यायस्य ।।1-29।।**

**सामान्य अर्थ :–** अवधिज्ञान का विषय रूपी द्रव्य ही है ।
उससे भी अनन्तवाँ भाग मनःपर्याय ज्ञान का विषय है ।

**विवेचन :–**अवधिज्ञानी अपने अवधिज्ञान से सभी रूपी पदार्थों को जान सकते हैं जबकि मनःपर्याय ज्ञानी मात्र उसका अनन्तवाँ भाग ही जान सकते हैं ।

अवधिज्ञान का क्षेत्र अंगुल के असंख्यातवें भाग से लेकर संपूर्ण चौदह राजलोक है । जबकि मनःपर्याय ज्ञान का क्षेत्र मात्र ढ़ाई द्वीप ही है । उसमें भी मनःपर्याय ज्ञानी मात्र संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के मनोगत भावों को ही जान सकते हैं ।

मनोवर्गणा के सभी पुद्गल भी सर्व रूपी द्रव्यों के अनंतवें भाग जितने ही हैं तो ढ़ाई द्वीप में रहे संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के मनोगत भाव तो अवश्य ही रूपी द्रव्य के अनंत भाग जितने होंगे । अंतः मनःपर्याय ज्ञान का विषय अवधिज्ञान से अनंतवाँ भाग ही है ।

## केवलज्ञान का विषय

**सर्वद्रव्य-पर्यायेषु केवलस्य ।।1-30।।**

**सामान्य अर्थ :–** केवलज्ञान का विषय सभी द्रव्य और सभी पर्याय हैं ।

**विवेचन :–** केवलज्ञान अर्थात् संपूर्ण ज्ञान । केवलज्ञान के द्वारा समस्त द्रव्यों की समस्त पर्यायों को प्रत्यक्ष देखा–जाना जा सकता है । केवलज्ञान संपूर्ण होने से इसके कोई भेद–प्रभेद नहीं हैं । मन और इन्द्रियों की सहायता के बिना जगत् में सभी रूपी–अरूपी पदार्थों की सभी पर्यायों को केवलज्ञानी सदा के लिए देखते हैं । इसलिए केवलज्ञानी को सर्वज्ञ भी कहते हैं ।

केवलज्ञान की प्राप्ति के बाद आत्मा उसी भव में मोक्ष में जाती है । वहाँ आत्मा अपने आत्मिक गुणों में सदा आनंद में लीन रहती है ।

## एक जीव को एक साथ कितने ज्ञान ?

**एकादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्नाचतुर्भ्यः ।।1-31।।**

**सामान्य अर्थ :–** एक जीव को एक साथ में एक से लेकर चार ज्ञान हो सकते हैं ।

**विवेचन:–** एक जीव को एक साथ में चार ज्ञान ही हो सकते हैं । किसी जीव को एक साथ में पाँच ज्ञान नहीं हो सकते हैं । जीव को जब एक ज्ञान होता है, तब उसे मतिज्ञान अथवा केवलज्ञान हो सकता है । जब दो ज्ञान होते हैं, तब मतिज्ञान और श्रुतज्ञान हो सकते हैं । जब तीन ज्ञान होते हैं तब मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान हो सकते हैं । जब चार ज्ञान होते हैं तब मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्याय ज्ञान हो सकते हैं । परंतु केवलज्ञान के साथ मतिज्ञान आदि नहीं हो सकते हैं । इसका कारण है कि मति आदि चार ज्ञान क्षायोपशमिक हैं जबकि केवलज्ञान क्षायिक है ।

ज्ञानावरणीय कर्म को आँखों पर लगी पट्टी की उपमा दी है ।

जैसे आँख पर मोटी पट्टी हो तब कुछ भी दिखता नहीं है । पट्टी पतली हो तो अस्पष्ट रूप से कुछ दिखता है । परंतु पट्टी हटा देने पर स्पष्ट रूप से दिखता है । वैसे ही ज्ञानावरणीय कर्म आत्मा के ज्ञान गुण को रोकता है । मति आदि ज्ञानावरणीय के क्षयोपशम से मति आदि ज्ञान होता है । वह क्षयोपशम पट्टी पर छिद्र के समान है । जबकि केवलज्ञान ज्ञानावरणीय के संपूर्ण क्षय से होता है । जब पट्टी ही नहीं हो तब पट्टी पर छिद्र किस बात का ? वैसे ही ज्ञानावरणीय के संपूर्ण क्षय में मतिज्ञानावरणीय आदि का क्षयोपशम किस बात का ? अतः केवलज्ञान के साथ अन्य चार ज्ञानों का अभाव कहा गया है ।

इस विषय में अन्य आचार्यों का मत हे कि जैसे सूर्य के प्रकाश में चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र, तारा आदि का अस्तित्व होने पर भी उसका प्रकाश अलग से नहीं दिखता, वैसे ही केवलज्ञान के साथ मतिज्ञान आदि होने पर भी उनके कार्य का अभाव होता है । परंतु इतने मात्र से मति आदि चार ज्ञान का सर्वथा अभाव नहीं कह सकते है ।

## मतिज्ञान आदि तीन ज्ञान में विपरीतता

**मतिश्रुतावधयो विपर्ययश्च ।।1-32।।**

**सामान्य अर्थ :–** मति, श्रुत और अवधिज्ञान–अज्ञान रूप भी होते है ।

**विवेचन :–** मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान जब सम्यक्त्व के साथ होते हैं तब वे ज्ञान कहलाते हैं । अन्यथा सम्यक्त्व के अभाव में – अर्थात् मिथ्यात्व के उदय में वे अज्ञान रूप कहलाते हैं ।

सम्यक्त्व के अभाव में मतिज्ञान को मति अज्ञान कहते हैं । श्रुतज्ञान को श्रुत अज्ञान कहते हैं एवं अवधिज्ञान को विभंग ज्ञान कहते हैं ।

यहाँ अज्ञान का अर्थ ज्ञान का अभाव नहीं बल्कि विपरीत ज्ञान है । बाह्य दृष्टि से ज्ञान होने पर भी आध्यात्मिक दृष्टि से अज्ञान ही है । सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि जीव किसी पदार्थ को एक रूप में ही देखते हैं परंतु आध्यात्मिक विकास की अपेक्षा उनके ज्ञान और अज्ञान का

निश्चय होता है । जो ज्ञान आध्यात्मिक विकास में सहायक हो, ऐसा यथार्थ बोध ही ज्ञान स्वरूप है । मिथ्यादृष्टि का ज्ञान आध्यात्मिक विकास में सहायक न होने से वह ज्ञान भी अज्ञान स्वरूप ही है ।

लौकिक दृष्टि से मिथ्यादृष्टि चाहे कितना भी सुशिक्षित क्यों न हो, आध्यात्मिक दृष्टि से तो वह अज्ञानी है । अनादि मिथ्यादृष्टि अभव्य जीव नौ पूर्व तक का श्रुतज्ञान प्राप्त कर सकता है परंतु ज्ञानियों की दृष्टि में उसका ज्ञान भी अज्ञान रूप है एवं चारित्र भी मात्र कायाकष्ट ही है ।

कदाचित् ज्ञानावरणीय कर्म के उदय के कारण सम्यग्दृष्टि आत्मा मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा अल्पज्ञानी हो सकती है । फिर भी उसे वीतराग परमात्मा के वचनों पर पूर्ण विश्वास होता है । वह किसी बात में कदाग्रह नहीं रखती है एवं सत्यासत्य का निर्णय अपनी मतिकल्पना से नहीं, बल्कि सर्वज्ञ वीतराग परमात्मा के वचनों से करती है । वह मानता है कि छद्मस्थ जीवों की बुद्धि परिमित है । परिमित बुद्धि से सत्यासत्य का यथार्थ निर्णय नहीं हो सकता । इन कारणों से समकिती का अल्पज्ञान भी ज्ञान स्वरूप है । जबकि मिथ्यात्वी सत्यासत्य का निर्णय अपनी मतिकल्पना से करता है एवं उस पर कदाग्रह रखता है । इसलिए उसका उच्च ज्ञान भी अज्ञान स्वरूप है ।

## मिथ्यादृष्टि के विपरीत ज्ञान में कारण

**सदसतोरविशेषाद् यदृच्छोपलब्धेरुन्मत्तवत् ।।1-33।।**

**सामान्य अर्थ :–** सत् और असत् पदार्थ की विशेषता को जाने बिना अपनी मतिकल्पना के अनुसार अर्थ करने के कारण उन्मत्त की तरह मिथ्यादृष्टि का ज्ञान भी अज्ञानस्वरूप है ।

**विवेचन :–** जैनदर्शन अनेकान्त और स्याद्वाद पर आधारित है । इसके कारण प्रत्येक वस्तु सत् भी है और असत् भी है । सत् अर्थात् वस्तु का उस रूप में विद्यमान रहना और असत् अर्थात् वस्तु का उस रूप में विद्यमान नहीं रहना ।

प्रत्येक पदार्थ स्व रूप से सत् है और पर रूप से असत् है । जैसे मिट्टी से बना घड़ा, घड़े के रूप में विद्यमान है परंतु कपड़े के रूप में असत् होने से विद्यमान नहीं है ।

पूरे विश्व के लिए अनेकांतवाद जैनदर्शन की सबसे बड़ी भेंट है । जैसे संस्कृत भाषा का कोई विद्वान पंडित, संस्कृत भाषा की अपेक्षा ज्ञानी है परंतु तमिल, तेलगू, कन्नड या अन्य कोई विदेशी भाषा की अपेक्षा अज्ञानी भी है ।

प्रत्येक वस्तु स्व–द्रव्य, स्व–क्षेत्र, स्व–काल और स्व–भाव की अपेक्षा सत् है और पर–द्रव्य, पर–क्षेत्र, पर–काल और पर–भाव की अपेक्षा असत् भी है । जैसे प्रातःकाल में मुंबई में पड़ा हुआ लाल रंग का मिट्टी का घड़ा, घट रूप स्व–द्रव्य से, मुंबई रूप स्व–क्षेत्र से, प्रातःकाल रूप स्व–काल से एवं लाल रंग रूप स्व–भाव से सत् है, जबकि इनसे विपरीत सभी द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा असत् ही है ।

इसी प्रकार जगत् में रही प्रत्येक वस्तु में सत्–असत्, नित्यत्व–अनित्यत्व, आदि अनेक धर्म होने पर भी मिथ्यादृष्टि उन्हें मात्र एक ही धर्म से स्वीकार करता है । अन्य धर्म के प्रति निरपेक्षता के कारण एक पागल व्यक्ति की तरह मिथ्यादृष्टि मात्र एक धर्म को स्वीकार कर अन्य धर्मों को नहीं स्वीकारता है । इसी कारण उनका मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान भी मतिअज्ञान, श्रुतअज्ञान और विभंगज्ञान है ।

## नय का स्वरूप

**नैगम–संग्रह–व्यवहारर्जुसूत्रशब्दा नयाः ।।1-34।।**

**आद्य–शब्दौ द्वि–त्रिभेदौ ।।1-35।।**

**सामान्य अर्थ :–** नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र और शब्द – ये पाँच नय हैं । नैगम नय के सामान्य और विशेष–दो भेद हैं । शब्द नय के सांप्रत, समभिरूढ़ और एवंभूत–ये तीन भेद हैं ।

**विवेचन :–** नय यानी वस्तु को देखने का एक विशेष दृष्टिकोण। अपेक्षा, अभिप्राय, दृष्टि ये सभी नय के समानार्थी शब्द हैं। किसी वस्तु को हम एक नजरिये से देखते हैं तब हमें उसमें रहे मर्यादित धर्मों का ही ख्याल आता है परंतु जब उसे अलग–अलग नजरिये से देखते हैं, तब उसमें रहे अमर्यादित धर्मों का ख्याल आता है। ऐसे करने से हमें एक ही वस्तु में परस्पर विरोधी धर्मों का भी ख्याल आता है।

जैसे – 1) हाथ में रही अनामिका उंगली, मध्यमा से छोटी है और अंतिम उंगली से बड़ी भी है।

2) घट में रहा हुआ जल, बर्फ से गर्म है और उबलते हुए पानी की अपेक्षा से ठंडा है।

3) मछली के पास पानी में गति करने की शक्ति है, जबकि जलबिना वह गति करने में शक्तिहीन है।

4) रामचंद्रजी दशरथ की अपेक्षा पुत्र हैं और लव–कूश की अपेक्षा पिता हैं।

जब एक ही व्यक्ति या वस्तु में अनंत सकारात्मक और नकारात्मक धर्म रहे हुए हों, तब उसे एकांत स्वीकार करके मात्र मर्यादित धर्मों का जानकर उसका निश्चय करना कितना योग्य है ? वस्तु के यथार्थ बोध के लिए उसे हर दृष्टिकोण से देखना आवश्यक है। ये दृष्टिकोण हमें नय से प्राप्त होते हैं।

अनेकान्तवाद के गूढ़ रहस्यों को जानने के लिए नैगम आदि नयों का ज्ञान अति आवश्यक है। विवक्षाभेद से नय के अनेक भेद हैं। इनमें मुख्य रूप से नय के पाँच प्रकार हैं– 1) नैगम नय, 2) संग्रह नय, 3) व्यवहार नय,4) ऋजुसूत्र नय, 5) शब्द नय।

पुनः नैगम नय के सामान्य और विशेष रूप दो भेद हैं। तथा शब्द नय के सांप्रत, समभिरूढ़ और एवंभूत रूप से तीन भेद हैं।

**नैगम आदि नयों का स्वरुप और उदाहरण–**

**1) नैगम नय :** गम अर्थात् दृष्टि । जिस नय में पदार्थ को देखने की अनेक दृष्टियाँ हो, उसे नैगम नय कहते है ।

**नैगम नय के मुख्य तीन भेद है–**

**i) संकल्प नैगम नय–** संकल्प को सिद्ध करने के लिए जो कुछ भी अन्य प्रवृत्ति की जाय, तो उसे संकल्प की प्रवृत्ति ही कही जाती है ।

मेडिकल कॉलेज में पढ़नेवाले विद्यार्थी को भी डॉक्टर कहा जाता है । यद्यपि वह विद्यार्थी आज डॉक्टर नहीं है, भविष्य में होनेवाला है, फिर भी यहाँ संकल्प की बात होने से यह **'संकल्प नैगम'** कहलाता हैं ।

**ii) अंश नैगम नय–** कार्य का एक अंश होने पर भी उसे पूर्ण में उपचार करना, अंश नैगम कहलाता है ।

जैसे–1) गाड़ी से Accident होनेपर व्यक्ति जिंदा होने पर भी बोल देता है, **'मैं मर गया ।'**

2) कपड़े का एक भाग जलने पर भी व्यक्ति बोलता है, **'मेरा कपड़ा जल गया ।'**

यद्यपि कपड़ा पूरा जला नहीं है, एक भाग ही जला है, फिर भी यह नय अंश को भी पूर्ण रूप में स्वीकार करता है ।

3) मकान का एक भाग टूटने पर भी बोला जाता है **'मेरा मकान टूट गया, मेरा मकान गिर गया ।'**

**iii) उपचार नैगम नय–** भूतकाल और भविष्य काल का वर्तमान काल के कार्यों को वर्तमानवत् मानना, कारण में कार्य का अथवा कार्य में कारण का उपचार करना, आधेय का आधार में उपचार करना उसे उपचार नैगम नय कहते है ।

जैसे–1) राकेशभाई मुंबई से अमदाबाद जाने के लिए अभी मुंबई सेंट्रल स्टेशन पर पहुँचे । अब उनके बोरीवली के फ्लेट में कोई उनके पुत्र को पूछता है, **'राकेश भाई कहाँ गए हैं ?'**

उनका पुत्र जवाब देता है **'वे अमदाबाद गए हैं ।'** यद्यपि राकेश भाई अभी मुंबई में ही हैं, फिर भी उनको पूछने पर कहा जाता

है, **'वे अमदाबाद गए है ।'** इस नैगम नय की अपेक्षा यह वचन सत्य ही है, क्योंकि यह नय भविष्य में भी वर्तमान का उपचार करता है ।

2) महेश भाई को राकेश ने पूछा, **'आज यह किसका प्रोग्राम है ?'** महेश भाई ने कहा, **आज मेरा जन्मदिन है, 'उसका यह प्रोग्राम है ।'**

यद्यपि महेश भाई का जन्म तो 30 साल पहले हुआ है फिर भी वे कहते हैं, आज मेरा जन्मदिन है – यह वचन भी सत्य ही माना जाता है । नैगम नय भूतकाल में भी वर्तमान का उपचार करता है ।

3) रसोई में शाक बनाने का प्रारंभ किया हो और पूछा जाता है, **'आज कौनसा शाक बनाया है ।'** जवाब मिलता है, **'आज दूधी का शाक बनाया है ।'** अभी तो शाक बननेवाला है, फिर भी भविष्य में भूत का आरोप किया जाता है । इसे **'आरोप नैगम कहते है ।'**

4) राकेश अपने विश्वसनीय मैनेजर के लिए कहता है, **'यह तो मेरा दाहिना हाथ है ।'**

यद्यपि मैनेजर तो आदमी है, वह कोई हाथ नहीं है, फिर भी मैनेजर में **'हाथ'** का आरोप किया जाता है ।

5) **'आज महावीर स्वामी का निर्वाण दिन है ।'** इस वाक्य में भूतकाल में वर्तमान का आरोप किया है ।

अन्य अपेक्षा से यह नय वस्तु के सामान्य और विशेष उभय स्वरूप को स्वीकार करता है ।

उदा. राकेश भाई अपनी शादी के Albumको बताते हुए कहते हैं, **'यह मेरे मित्रमंडल का फोटो है ।'** यद्यपि उस फोटो में अनेक मित्रों के फोटो होने पर सामान्य धर्म को आगेकर **'मित्रमंडल'** का फोटो है ।

फिर उसी Album को बताते हुए राकेश कहता है, **'यह रमेश का फोटो है, यह महेश का फोटो है ।'** इस प्रकार उसी फोटो में विशेष धर्म का भी उल्लेख किया है ।

**2) संग्रह नय :** यह नय वस्तु में रहे सामान्य धर्म को स्वीकार करता है । नैगम नय वस्तु के सामान्य, विशेष दोनों का स्वीकार करता है, जबकि यह नय वस्तु में रहे विशेष धर्म को गौण कर मात्र सामान्य धर्म का ही स्वीकार करता है ।

यह नय कहता है, **'वृक्ष को छोडकर आम, नीम आदि कोई अलग नहीं है ।'**

**(i) 'कौन आ रहा है ?'**

तो यह नय कहता है, **'मनुष्य आ रहा है ।'**

**'पशु आ रहे हैं ।'**

**(ii)** कपाट में क्या है ?

तो यह नय कहता है, **'कपड़े भरे हैं ।'**

**(iii)** गोदाम में क्या भरा है ?

यह नय कहता है, **'अनाज भरा है ।'**

**3) व्यवहार नय :** यह नय वस्तु में रहे विशेष धर्म को ही स्वीकार करता है । यह नय कहता है कि विशेष को छोडकर **'सामान्य'** कोई पदार्थ नहीं है ।

उदा. सिर्फ **'फल'** कहने से व्यवहार नहीं चलता है, आखिर पूछना ही पड़ता है –

**(i) 'क्या लेंगे ?'**

आम लेंगे ? चीकू लेंगे ? टमाटर लेंगे ? सीताफल लेंगे ?

**(ii)** रसोई में साग बनाया है, इतना कहने से काम नहीं चलता है । आखिर कहना ही पड़ता है, **'भिंडी का साग बनाया है, दूधी का साग बनाया है, ककड़ी की सब्जी बनाई है ।'**

**(iii)** भोजन पिरसते समय सिर्फ **'मिठाई'** कहने से काम नहीं चलता है । आखिर बोलना ही पड़ता है –

काजू की कतली लेंगे ?

बादाम की कतली लेंगे ?

सूरत की घारी लेंगे ?

लड्डू लेंगे ? बर्फी लेंगे ? पेड़ा लेंगे ? इत्यादि ।

**4) ऋजुसूत्र नय :** यह नय वस्तु की भूत–भावी अवस्था को स्वीकार नहीं करता है । यह नय सिर्फ वस्तु की वर्तमान अवस्था को ही स्वीकार करता है । अन्य वस्तु की पर्याय को यह नय स्वीकार नहीं करता है । भूत, भावी और अन्य वस्तु की पर्याय कुछ भी करने में समर्थ नहीं है, अतः यह नय उन्हें असत् ही मानता है ।

जो चीज वर्तमान में न हो वह चीज कुछ भी करने में समर्थ नहीं होती है । भूतकाल में रही वस्तु भी अब विद्यमान नहीं है, अतः उस वस्तु का भी कोई उपयोग नहीं हो सकता है ।

जिस वस्तु पर अपनी मालिकी नहीं है, स्वामित्व नहीं है, वह वस्तु भी क्या काम की है ।

**उदा.–** जो वर्तमान में राज्य सत्ता का मालिक है, वही राज्य का राजा है । व्यवहार नय तो भविष्य में होने वाले राजा को भी राजा कहता है, परंतु ऋजुसूत्र नय सूक्ष्म होने से उसे राजा के रूप में नहीं स्वीकार करता है ।

**5) शब्द नय :** शब्द नय के तीन भेद हैं – 1) सांप्रत नय 2) समभिरूढ़ नय और 3) एवंभूत नय ।

**1) सांप्रत नय :** एक ही वस्तु को समझने–समझाने के लिए अनेक पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग किया जाता है । जैसे पानी को जल, नीर, वारि कहते हैं, अंग्रेजी में Water भी कहते हैं ।

यह नय उन सभी पदार्थों को एक ही मानता है । हाँ ! लिंग, वचन, काल और संख्या आदि की अपेक्षा उन्हें अलग-अलग भी मानता है । उदा. मनुष्य शब्द लें तो नर, नारी और नपुंसक तीनों का समावेश हो जाता है । परंतु नर या नारी शब्द का प्रयोग करेंगे तो यह नय दोनों को भिन्न-भिन्न पदार्थ के रूप में स्वीकार करेगा ।

इस नय में भाषा के व्याकरण का अधिक महत्त्व होने से इस नय को Grammatical Approach वाला भी कह सकते हैं ।

**ऋजुसूत्र और सांप्रत शब्द नय में भेद :–** ऋजुसूत्र नय शब्द के लिंग, वचन, काल आदि में भेद नहीं मानता है और नाम आदि चारों निक्षेपों को स्वीकार करता है । जबकि सांप्रत शब्द नय लिंग आदि के भेद से शब्द के अर्थ में भेद मानता है और वस्तु के मात्र भाव निक्षेप को ही स्वीकार करता है ।

**2) समभिरूढ़ नय :** यह नय शब्द से अर्थ भेद मानता है । प्रत्येक शब्द का व्युत्पत्ति अर्थ भिन्न-भिन्न होता है ।

यह नय भिन्न-भिन्न अर्थ को मान्य करके शब्द भेद से वस्तु को अलग मानता है ।

शब्द नय कुंभ, कलश, घड़ा आदि शब्दों को एक ही मानता है । जबकि यह नय शब्दभेद से वस्तु को भी अलग-अलग रूप में स्वीकार करता है ।

अंग्रेजी में इस नय को Specific knowledge भी कह सकते हैं ।

**3) एवंभूत नय :** यह नय शब्द के क्रियात्मक अर्थ को ग्रहण करता है । जिस समय जिस शब्द का प्रयोग करते हैं, उस समय उसके संदर्भ की क्रिया होनी चाहिए ।

यदि उस समय वह क्रिया नहीं होती हो तो यह नय उस शब्द का प्रयोग करने से इन्कार कर देगा ।

शब्द नय, व्याकरण के भेद से अर्थभेद बताता है ।

समभिरूढ़ नय व्युत्पत्ति के भेद से अर्थभेद बताता है ।

जबकि एवंभूत नय क्रियाभेद से अर्थभेद बताता है ।

उदा. किसी व्यक्ति को हम **'गायक'** कहते हैं । परंतु इस नय से वह व्यक्ति गायक तभी कहलाएगा, जब वह गीत गाता हो । यदि वह व्यक्ति गीत नहीं गाता हो और अन्य क्रिया कर रहा हो तो वह गायक नहीं कहलाएगा ।

यह नय किसी को **'वक्ता'** तभी कहेगा जब वह बोल रहा है। बोल नहीं रहा हो, उसे यह नय **'वक्ता'** नहीं कहेगा।

जीवन-व्यवहार में भी कई बार इस नय के अनुसार प्रवृत्ति देखने को मिलती है।

उदा. कोई व्यक्ति किसी सेठ के यहाँ नौकरी करता हो तो नौकरी के समय के दरम्यान उस नौकर को कुछ भी Accident आदि हो जाता है, उसकी ट्रीटमेंट आदि की जवाबदारी सेठ की होती है, परंतु वह नौकरी पर नहीं हो अथवा नौकरी छोड़ दी हो तो उससे संबंधित कोई भी जवाबदारी सेठ की नहीं होती है।

ये सातों नय ज्ञेय पदार्थ संबंधी भिन्न–भिन्न अध्यवसाय विशेष को बतलाते हैं।

ये सातों नय एक–एक से अधिक विशुद्ध और सूक्ष्म हैं।

एक ही वस्तु को भिन्न भिन्न Angle से समझने की दृष्टि इन नयों से प्राप्त होती है। ये सातों नय मिलकर जो श्रुत होता है, वह **'प्रमाणश्रुत'** कहलाता है, परंतु हाँ, ये नय परस्पर सापेक्ष हों, तभी **'सत्य'** कहलाते हैं। यदि ये नय परस्पर विरोध करते हों तो ये दुर्नय बन जाते हैं।

वस्तु के अन्य स्वरूप का खंडन किए बिना अपनी मान्यता को जो स्वीकार करता है, वह सुनय कहलाता है।

**नय के दो भेद :–**

**1) व्यवहार नय :**

**2) निश्चय नय :**

**निश्चय का अर्थ होता है 'साध्य' और व्यवहार का अर्थ होता है – 'साधन।'** साधन द्वारा साध्य की सिद्धि होती है।

साधन द्वारा जो साध्य सिद्ध होता है, वे **'साधन'** व्यवहार के क्षेत्र में आते हैं और सिद्ध होनेवाला जो **'साध्य'** है, वह निश्चय के क्षेत्र में आता है।

उदा. **'सामायिक से समता की सिद्धि होती है ।'** इस वाक्य में सामायिक की क्रिया साधन (व्यवहार) है और समभाव की प्राप्ति साध्य (निश्चय) है ।

***वस्तु के तात्त्विक स्वरूप को निश्चय कहते हैं । उस स्वरूप की अनुकूल प्रवृत्ति को व्यवहार कहते हैं ।***

उदा. आत्मा में तत्त्वश्रद्धा की परिणति को निश्चय सम्यक्त्व कहते हैं और सुदेव, सुगुरु और सुधर्म की श्रद्धा को व्यवहार सम्यक्त्व कहते हैं ।

आत्मिक साधना मार्ग में आगे बढ़ने के लिए व्यवहार निश्चय का स्पष्ट बोध खूब जरूरी है ।

**'ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः'** इस वाक्य में ज्ञान यह निश्चय है और क्रिया यह व्यवहार है ।

***आत्मा का मूलभूत स्वभाव शुद्ध है, उस शुद्ध स्वरूप को समझानेवाली दृष्टि 'निश्चयनय' है और निश्चयनय की अपेक्षा निश्चित स्थान पर पहुँचने के लिए जो आचरणमार्ग है, वह व्यवहार नय है ।***

व्यवहार शुद्ध हो लेकिन निश्चय का लक्ष्य न हो तो भी कार्यसिद्धि नहीं होती है ।

निश्चय का लक्ष्य हो किंतु व्यवहार शुद्ध न हो तो भी कार्यसिद्धि नहीं होती है ।

साधना मार्ग में व्यवहार और निश्चय का घनिष्ट संबंध है । निश्चय को छोड़ सद्व्यवहार नहीं हो सकता है और सद्व्यवहार को छोडकर निश्चय शुद्ध नहीं हो सकता ।

**नय के अन्य दो भेद :–**

**1) द्रव्यार्थिक नय :** वस्तु में रहे सामान्य धर्म को ग्रहण करनेवाला नय द्रव्यार्थिक नय कहलाता है । जैसे – यह मनुष्य है, इसका अर्थ है, जैसे दूसरा मनुष्य है, वैसे यह भी मनुष्य है ।

पशु – अन्य पशुओं की तरह यह भी पशु है । नैगम, संग्रह और व्यवहार ये तीन नय द्रव्यार्थिक नय कहलाते हैं । जो वस्तु में रहे सामान्य अर्थ का अनुसरण करते हैं ।

**2) पर्यायार्थिक नय :** पर्याय अर्थात् विशेष । वस्तु में रहे विशेष धर्म को मुख्य करनेवाला नय पर्यायार्थिक नय कहलाता है ।

किसी भी वस्तु को हम **'द्रव्य'** के रूप में पहचानते हैं और उसी मूल द्रव्य की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं को पर्याय कहा जाता है ।

जैसे 1) किसी मनुष्य को हम सामान्य से **'मनुष्य'** कहते हैं, परंतु किसी देश विशेष में रहने के कारण उसे भारतीय, अमेरिकन, रसियन, जापानी आदि भी कहते हैं ।

2) उसी मनुष्य को युद्ध करते समय **'योद्धा'** कहते हैं । क्रोध करते समय क्रोधी कहते हैं ।

पर्यायार्थिक नय के चार भेद हैं – ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत ।

| सात नयों के विषय | |
|---|---|
| **नय** | **विषय** |
| नैगम नय | सामान्य – विशेषग्राही |
| संग्रह नय | मात्र सामान्यग्राही |
| व्यवहार नय | मात्र विशेषग्राही |
| ऋजुसूत्र नय | वर्तमानकालिक वस्तुग्राही |
| शब्द – सांप्रत नय | शब्द के लिंग, काल, विभक्ति आदि के भेद से अर्थभेद |
| समभिरूढ नय | पर्यायवाची शब्द भेद से अर्थभेद |
| एवंभूत नय | व्युत्पत्ति का अर्थ जब वस्तु में घटित हो |

# तत्त्वार्थाधिगम सूत्र (चार्ट)

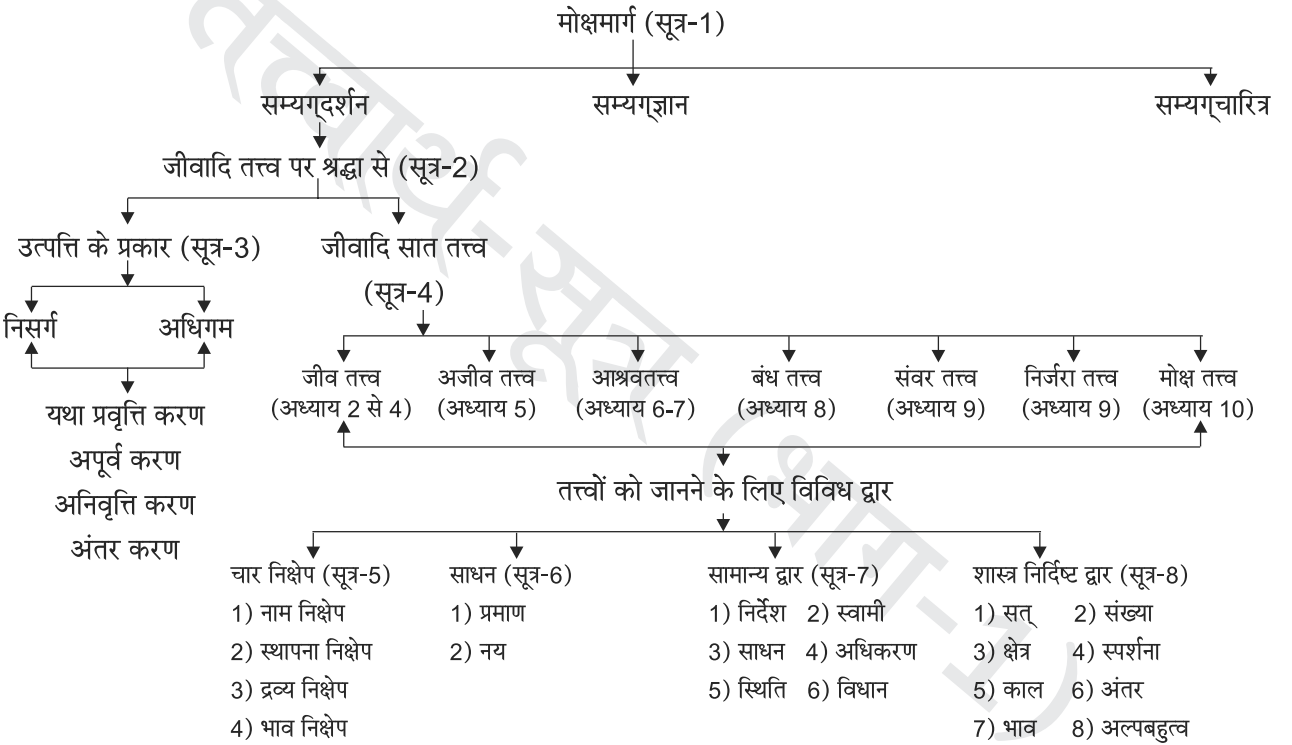

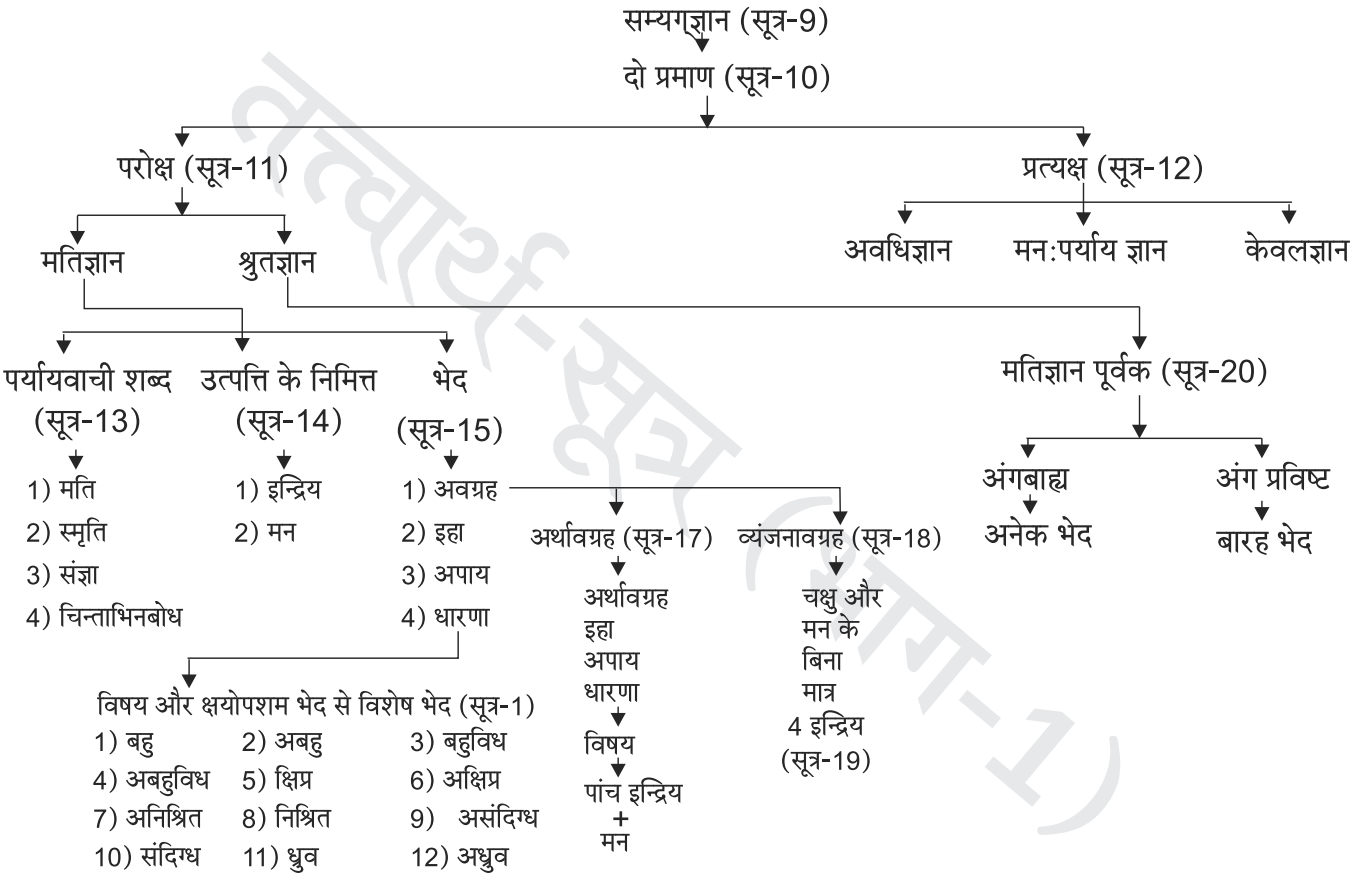
सम्यग्ज्ञान (सूत्र-9)
दो प्रमाण (सूत्र-10)
परोक्ष (सूत्र-11)
प्रत्यक्ष (सूत्र-12)
मतिज्ञान
श्रुतज्ञान
अवधिज्ञान
मन:पर्याय ज्ञान
केवलज्ञान
पर्यायवाची शब्द (सूत्र-13)
उत्पत्ति के निमित्त (सूत्र-14)
भेद (सूत्र-15)
मतिज्ञान पूर्वक (सूत्र-20)
1) मति
2) स्मृति
3) संज्ञा
4) चिन्ताभिनबोध
1) इन्द्रिय
2) मन
1) अवग्रह
2) इहा
3) अपाय
4) धारणा
अर्थावग्रह (सूत्र-17)
व्यंजनावग्रह (सूत्र-18)
अंगबाह्य
अंग प्रविष्ट
अनेक भेद
बारह भेद
अर्थावग्रह
इहा
अपाय
धारणा
विषय
पांच इन्द्रिय + मन
चक्षु और मन के बिना मात्र 4 इन्द्रिय (सूत्र-19)
विषय और क्षयोपशम भेद से विशेष भेद (सूत्र-1)
1) बहु
2) अबहु
3) बहुविध
4) अबहुविध
5) क्षिप्र
6) अक्षिप्र
7) अनिश्रित
8) निश्रित
9) असंदिग्ध
10) संदिग्ध
11) ध्रुव
12) अध्रुव

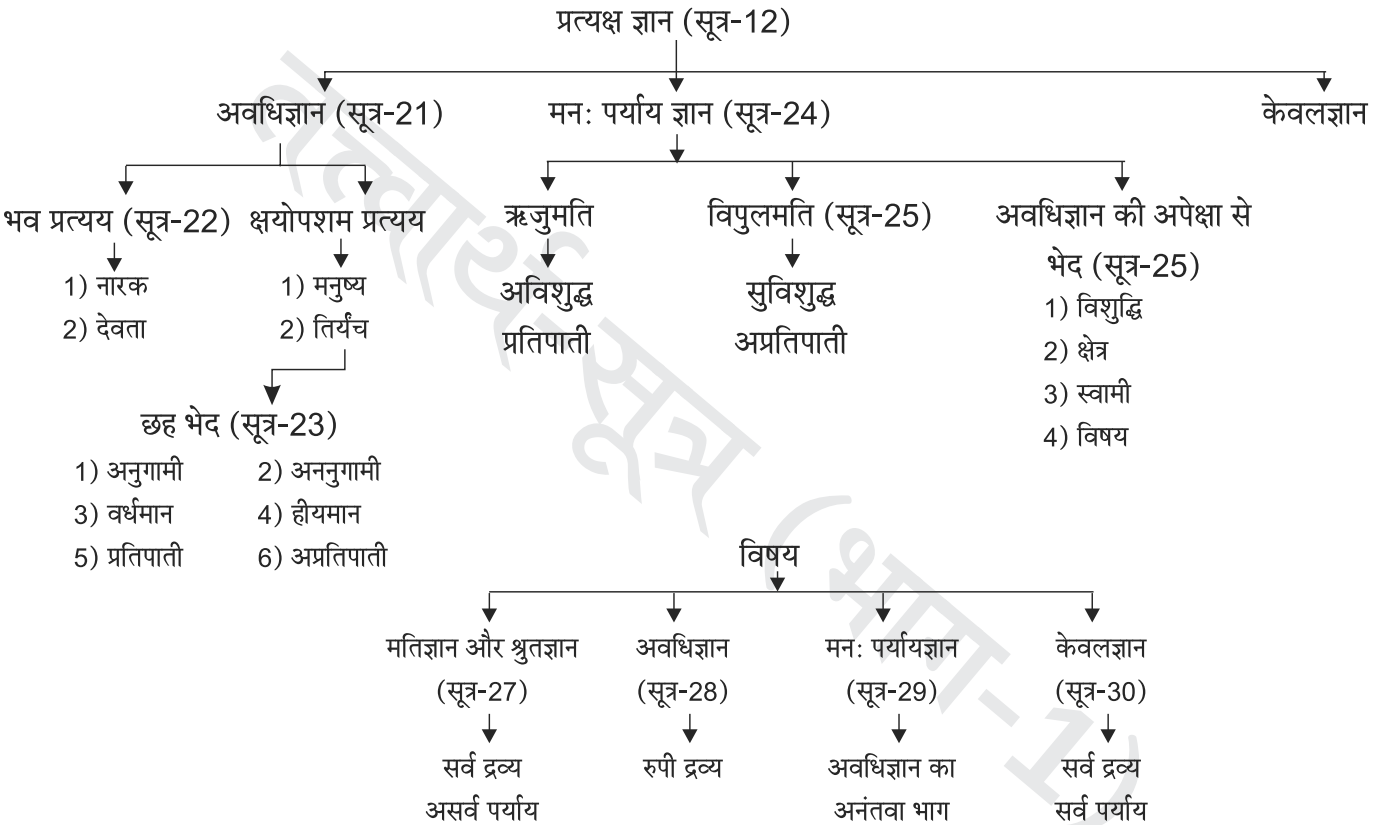
प्रत्यक्ष ज्ञान (सूत्र-12)
अवधिज्ञान (सूत्र-21)
मनः पर्याय ज्ञान (सूत्र-24)
केवलज्ञान
भव प्रत्यय (सूत्र-22)
क्षयोपशम प्रत्यय
1) नारक
2) देवता
1) मनुष्य
2) तिर्यंच
छह भेद (सूत्र-23)
1) अनुगामी
2) अननुगामी
3) वर्धमान
4) हीयमान
5) प्रतिपाती
6) अप्रतिपाती
ऋजुमति
विपुलमति (सूत्र-25)
अवधिज्ञान की अपेक्षा से भेद (सूत्र-25)
अविशुद्ध प्रतिपाती
सुविशुद्ध अप्रतिपाती
1) विशुद्धि
2) क्षेत्र
3) स्वामी
4) विषय
विषय
मतिज्ञान और श्रुतज्ञान (सूत्र-27)
अवधिज्ञान (सूत्र-28)
मनः पर्यायज्ञान (सूत्र-29)
केवलज्ञान (सूत्र-30)
सर्व द्रव्य असर्व पर्याय
रुपी द्रव्य
अवधिज्ञान का अनंतवा भाग
सर्व द्रव्य सर्व पर्याय

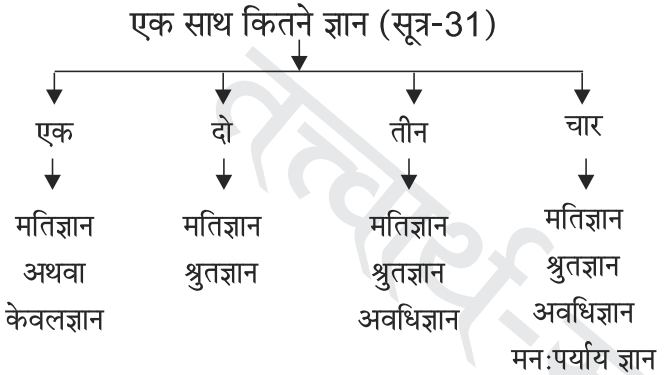
एक साथ कितने ज्ञान (सूत्र-31)
एक
मतिज्ञान
अथवा
केवलज्ञान
दो
मतिज्ञान
श्रुतज्ञान
तीन
मतिज्ञान
श्रुतज्ञान
अवधिज्ञान
चार
मतिज्ञान
श्रुतज्ञान
अवधिज्ञान
मन:पर्याय ज्ञान

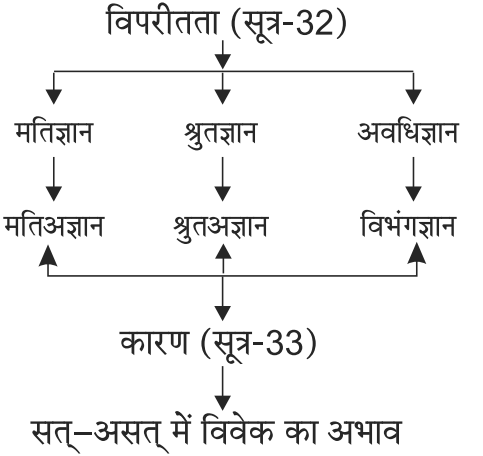
विपरीतता (सूत्र-32)
मतिज्ञान
श्रुतज्ञान
अवधिज्ञान
मतिअज्ञान
श्रुतअज्ञान
विभंगज्ञान
कारण (सूत्र-33)
सत्–असत् में विवेक का अभाव

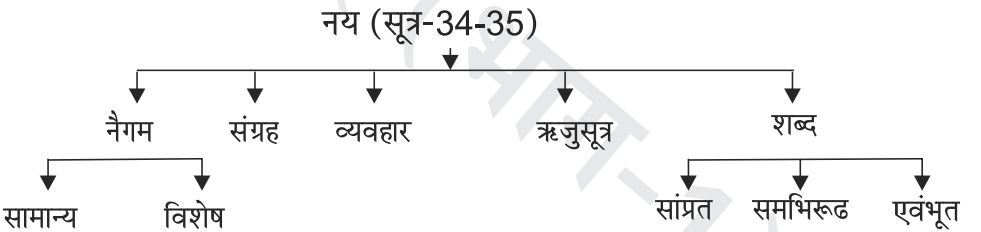
नय (सूत्र-34-35)
नैगम
संग्रह
व्यवहार
ऋजुसूत्र
शब्द
सामान्य
विशेष
सांप्रत
समभिरूढ
एवंभूत

2

# द्वितीय अध्याय

ग्रंथकार ने प्रथम अध्याय के प्रथम सूत्र में मोक्षमार्ग के रूप में सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र का निरूपण किया । साथ ही प्रथम अध्याय में सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान का भी सुंदर वर्णन किया । सम्यग् दर्शन की प्राप्ति जीवादि 7 तत्त्वों से होती है, इसलिए ग्रंथकार ने 2 से 4 अध्याय तक जीवतत्त्व का वर्णन किया है । 5वें अध्याय में अजीव तत्त्व, 6ठे और 7वें अध्याय में आश्रव तत्त्व, 8वें अध्याय में बंध तत्त्व, 9वें अध्याय में संवर और निर्जरा तत्त्व के साथ सम्यक्चारित्र तथा 10वें अध्याय में मोक्षतत्त्व का वर्णन किया है ।

## जीवतत्त्व

### जीव के भाव

**औपशमिक–क्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्वमौदयिक–पारिणामिकौ च ।।2-1।।**

**सामान्य अर्थ :–** जीव के पाँच स्वतत्त्व–यानी स्वभाव है–औपशमिक, क्षायिक, मिश्र, औदयिक और पारिणामिक ।

**विवेचन:–**जीव के मानसिक परिणाम को भाव कहते हैं । ये मूल भाव पाँच हैं–

**(1) औपशमिक भाव :–** मोहनीय कर्म के उपशम से होनेवाले भाव को औपशमिक भाव कहते हैं ।

**(2) क्षायिक भाव :–** कर्म के सर्वथा क्षय से जो भाव पैदा होता है, उसे क्षायिक भाव कहते हैं ।

**(3) क्षायोपशमिक भाव :–** उदयावलि प्रविष्ट कर्म के मंद रस स्पर्द्धक का क्षय और अनुदित कर्म जो उदीरणा, अपवर्तना आदि द्वारा उदय में आने की शक्यतावाले हैं, उन्हें वहीं दबा देना अर्थात् उदय में न आने देना, उसका नाम उपशम है । क्षय और उपशम के

मिश्र भाव को क्षयोपशम भाव कहते हैं, यह भाव घाति–कर्मों का ही होता है, अघातिकर्मों का नहीं ।

**(4) औदयिक भाव :–** कर्म की उदयजन्य अवस्था को औदयिक भाव कहते हैं । उदय यानी कर्म के शुभाशुभ फल का अनुभव करना ।

**(5) पारिणामिक भाव :–** कर्मों की अपेक्षा बिना, वस्तु के सहज स्वाभाविक स्वरूप को पारिणामिक भाव कहते हैं ।

ये पाँच भाव जीवों के स्वभाव है । परंतु सभी जीवों को ये सभी पाँच भाव हों, ऐसा नियम नहीं है । कम–से–कम जीव को दो भाव अवश्य होते हैं । सिद्ध जीवों को क्षायिक और पारिणामिक भाव होते हैं । सामान्य संसारी जीवों को औदयिक, क्षायोपशमिक और पारिणामिक–ये तीन भाव होते हैं । उपशम सम्यक्त्व को प्राप्त जीव को औदयिक, क्षायोपशमिक, पारिणामिक और औपशमिक ये चार भाव होते हैं । क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त जीव जब उपशम श्रेणी पर आरोहण करता है, तब उसे औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक ये सभी पाँच भाव होते हैं ।

## भावों के भेद

**द्वि–नवा–ऽष्टादशैकविंशति–त्रिभेदा यथाक्रमम् ।।2-2।।**

**सामान्य अर्थ :–** पाँच भावों के क्रमशः दो, नौ, अठारह, इक्कीस और तीन भेद हैं ।

**विवेचन :–** औपशमिक आदि भावों के कुल मिलाकर 53 भेद हैं–

| क्रमांक | भाव | भेद |
|---|---|---|
| 1. | औपशमिक भाव | 2 |
| 2. | क्षायिक भाव | 9 |
| 3. | क्षायोपशमिक भाव | 18 |
| 4. | औदयिक भाव | 21 |
| 5. | पारिणामिक भाव | 3 |
| | कुल | 53 |

## औपशमिक भाव के भेद

**सम्यक्त्वचारित्रे ।।2-3।।**

**सामान्य अर्थ :–** औपशमिक भाव के दो भेद हैं–उपशम सम्यक्त्व और उपशम चारित्र ।

**विवेचन :–** औपशमिक भाव के मुख्य दो भेद हैं–उपशम सम्यक्त्व और उपशम चारित्र ।

**1) उपशम सम्यक्त्व :–** आठ कर्मों में मात्र मोहनीय कर्म का ही उपशम होता है । मोहनीय कर्म के दो भेद हैं–दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय ।

दर्शन मोहनीय के 3 भेद हैं–सम्यक्त्व मोहनीय, मिश्र मोहनीय और मिथ्यात्व मोहनीय ।

चारित्र मोहनीय के 16 कषाय और 9 नोकषाय रूप 25 भेद हैं ।

मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के उपशमन से जो गुण प्रकट होता है वह प्राथमिक उपशम सम्यक्त्व है तथा दर्शन सप्तक (दर्शन मोहनीय के 3 भेद तथा अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया और लोभ) के उपशमन से जो गुण प्रकट होता है, वह श्रेणी संबंधी उपशम सम्यक्त्व है ।

**2) उपशम चारित्र :–** मोहनीय कर्म के 28 भेदों में से दर्शन सप्तक सिवाय शेष 21 प्रकृतियों के उपशमन से जो गुण प्रकट होता है वह औपशमिक चारित्र है ।

***औपशमिक सम्यक्त्व चौथे से ग्यारहवें गुणस्थानक तक होता है जबकि औपशमिक चारित्र सिर्फ उपशम–श्रेणी में छठे से ग्यारहवें गुणस्थानक तक होता है ।***

## क्षायिक भाव के भेद

**ज्ञान–दर्शन–दान–लाभ–भोगोपभोग-वीर्याणि च ।।2-4।।**

**सामान्य अर्थ :–** क्षायिक भाव के ज्ञान, दर्शन, दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य, सम्यक्त्व और चारित्र रूप नौ भेद होते हैं ।

**विवेचन :– क्षायिक भाव** के 9 भेद हैं–

1. ज्ञानावरणीय कर्म के संपूर्ण क्षय से जन्य केवलज्ञान ।

2. दर्शनावरणीय कर्म के संपूर्ण क्षय से जन्य केवलदर्शन ।

3. दर्शनसप्तक के क्षय से जन्य क्षायिक सम्यक्त्व ।

4. चारित्र मोहनीय के क्षय से जन्य क्षायिक चारित्र ।

5. पाँच अंतराय–दानांतराय, लाभांतराय, भोगांतराय, उपभोगांतराय और वीर्यांतराय के संपूर्ण क्षय से जन्य दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य पाँच लब्धियाँ ।

कर्म के क्षय से जन्य जो गुण आत्मा में प्रकट होता है, उस गुण का कभी नाश नहीं होता है । क्षायिक सम्यक्त्व की प्राप्ति चौथे गुणस्थानक से, क्षायिक चारित्र की प्राप्ति क्षीणमोह गुणस्थानक से तथा शेष 7 क्षायिक भावों की प्राप्ति तेरहवें गुणस्थानक में होती है ।

## क्षायोपशमिक भाव के भेद

**ज्ञाना–ऽज्ञान–दर्शन–दानादि–लब्धयश्चतुस्त्रित्रिपञ्चभेदाः सम्यक्त्व–चारित्र–संयमासंयमाश्च ।।2-5।।**

**सामान्य अर्थ :–** मतिज्ञान–श्रुतज्ञान–अवधिज्ञान–मनः पर्यायज्ञान–ये चार ज्ञान, मतिअज्ञान, श्रुतअज्ञान, विभंगज्ञान–ये तीन अज्ञान, चक्षुदर्शन–अचक्षुदर्शन–अवधिदर्शन–ये तीन दर्शन, दान–लाभ–भोग–उपभोग और वीर्य–ये पाँच लब्धि, सम्यक्त्व, सर्वविरति चारित्र, संयमासंयम रूप देशविरति चारित्र, ऐसे कुल 18 भेद क्षायोपशमिक भाव के हैं ।

**विवेचन :– क्षायोपशमिक भाव :–** यह भाव चार घातिकर्मों का ही होता है । इसके 18 भेद हैं । उदित के क्षय और अनुदित के उपशम को क्षयोपशम कहते हैं ।

जो कर्म जिस रसवाला उदय में आया है उसे उसी समय में हीन रसवाला बनाकर विपाक से भोगकर नष्ट करना, उसे क्षय कहते हैं तथा

उदयावलिका के बाहर रहे हुए दलिकों को उदीरणा व अपवर्तनादि करणों के लिए असाध्य करना, उसे उपशम कहते हैं ।

मतिज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से मतिज्ञान और मति अज्ञान ।

श्रुतज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से श्रुतज्ञान और श्रुतअज्ञान ।

अवधिज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से अवधिज्ञान और विभंगज्ञान ।

मन:पर्यव ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से मन:पर्यवज्ञान ।

चक्षु दर्शनावरणीय के क्षयोपशम से चक्षुदर्शन ।

अचक्षु दर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम से अचक्षुदर्शन ।

अवधि दर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम से अवधिदर्शन प्रकट होता है ।

दानादि पाँच अंतराय कर्म के क्षयोपशम से दान आदि पाँच लब्धियाँ प्रकट होती हैं ।

दर्शन मोहनीय व अनंतानुबंधी कषाय के क्षयोपशम से क्षयोपशम सम्यक्त्व ।

अप्रत्याख्यानीय कषाय के क्षयोपशम से देशविरति गुण-और प्रत्याख्यानीय कषाय के क्षयोपशम से सर्वविरति गुण-प्रकट होता है ।

मति अज्ञान आदि क्षायोपशमिक भाव अभव्य के अनादि अनंत और विभंग ज्ञान सादि–सांत हैं ।

मति ज्ञान आदि भाव भव्य के सादि–सांत और दान आदि पाँच लब्धियाँ तथा अचक्षुदर्शन अनादि सांत है ।

## औदयिक भाव के भेद

**गति–कषाय–लिङ्ग–मिथ्यादर्शना–ऽज्ञाना–ऽसंयता–ऽसिद्धत्व–लेश्या–श्चतु–श्चतुस्त्र्ये–कै–कै–कैक-षड्भेदा: ।।2-6।।**

**सामान्य अर्थ :–** चार गति, चार कषाय, तीन लिंग, मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति, असिद्धत्व, छह लेश्या–ऐसे औदयिक भाव के 21 भेद हैं–

**विवेचन :–** औदयिक भाव के 21 भेद हैं–

**4 गति –** गति नाम कर्म के उदय से जन्य है ।

**4 कषाय –** मोहनीय कर्म के उदय से जन्य हैं ।

**3 लिंग –** नोकषाय मोहनीय कर्म के उदय से जन्य है ।

**1 मिथ्यात्व –** मोहनीय कर्म के उदय से जन्य है ।

**1 अज्ञान** का अर्थ ज्ञान का अभाव और मिथ्याज्ञान दोनों है । ज्ञान का अभाव ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से तथा मिथ्याज्ञान, मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के उदय का फल है ।

**1 असंयम–**यह विरति के अभाव रूप है । अप्रत्याख्यानीय कषाय के उदय का परिणाम अविरति है ।

**1 असिद्धत्व** आत्मा की संसार–परिभ्रमण की अवस्था । यह आठों कर्मों के उदय का फल है ।

**6 लेश्या –** पुद्गल वर्गणा स्वरूप होने से नामकर्म के उदयजन्य है ।

कुछ आचार्यों के मत से लेश्या मोहनीयकर्म के उदयजन्य भी है ।

कुछ आचार्य आठों कर्मों के उदयजन्य भी कहते हैं ।

यद्यपि औदयिक भाव 21 कहे गए हैं, परंतु उपलक्षण से निद्रा आदि अन्य सभी भाव भी औदयिक समझने चाहिए ।

## छ लेश्याएँ

जामून खाने की इच्छा से कुछ मित्र जंगल में गए । वहां उन्होंने जामून का एक वृक्ष देखा । उस वृक्ष को देख सभी के मन में अलग अलग प्रकार के विचार उत्पन्न हुए ।

**1. कृष्ण लेश्या :–** कृष्ण लेश्यावाले एक मित्र ने कहा, `इस जामून वृक्ष को जड-मूल से काट डालते हैं, जिसके परिणाम स्वरुप हम आसानी से इच्छानुसार जामून खा सकेंगे ।

**2. नील लेश्या :–** नील लेश्यावाले दूसरे मित्र ने कहा, हमें

जामून ही खाने है, तो हमें इस झाड को काटने की आवश्यकता नहीं है । इस झाड की बडी डाल को काट देंगे तो आराम से मन चाहे जितने जामून खा सकेंगे । अतः पूरे वृक्ष को काटने की जरुरत नहीं है ।

**3. कापोत लेश्या :–** कापोत लेश्या वाले ने कहा, `जामून के लिए इतनी बडी डाल को काटने की जरुर नहीं हैं, छोटीसी डाली काट लेंगे तो भी पेट भरकर जामून खाने को मिल सकेंगे ।

**4. पीत लेश्या :–** पीतलेश्या वाले ने कहा, `हमें जामून से मतलब है तो छोटी डालियों को भी तोडने की कहां जरुर हैं ? डाली पर रहे बडे बडे गुच्छों को तोड देंगे तो हमें भरपेट जामून मिल सकते है ।

**5. पद्म लेश्या :–** पद्मलेश्यावाले ने कहा, `हमें जामून ही खाना है तो गुच्छे तोडने की भी कहाँ जरुर है ? गुच्छे में रहे पके जामून ही क्यों न ले ले ! अपना पेट आराम से भरा जा सकता है ।

**6. शुक्ल लेश्या :–** शुक्ल लेश्यावाला बहुत ही विवेकी था, उसने कहा, `हमें अपना पेट ही तो भरना है न ! इधर देखो `चारों ओर पके हुए जामून भूमि पर बिखरे हुए पडे है, उन जामूनों को खाने से अपना पेट भर जाएगा, तो निरर्थक फलों को तोडने की क्या आवश्यकता है ?

**लेश्या और परिणति :–**

**1. कृष्ण लेश्या :–** इस लेश्यावाले जीव खाते पीते, चलते-फिरते रौद्र स्वभाववाले होते हैं । छोटा–सा निमित्त मिलते ही क्रोध करने लग जाते हैं । निर्ध्वंस परिणाम वाले और दया से रहित होते है ।

**2. नील लेश्या :–** इस लेश्यावाले जीव दूसरों का काम करने में प्रमादी, काम–क्रोध आदि के कारण मंद बुद्धिवाले, पर-स्त्री में आसक्त तथा सर्वत्र अभिमान का प्रदर्शन करनेवाले होते है ।

**3. कापोत लेश्या :–** इस लेश्यावाले जीव शोक संताप, आधि-व्याधि और उपाधि से ग्रस्त, प्रतिक्षण मुख में रोषवाले तथा आवेश युक्त शब्दों का उच्चार करनेवाले होते है ।

**4. तेजोलेश्या :–** इस लेश्यावाले जीव नई-नई विद्याओं को प्राप्त करने की इच्छावाले, दया-प्रेम-करुणा से युक्त हृदयवाले भक्ष्य-

अभक्ष्य, पेय-अपेय, कर्तव्य-अकर्तव्य का विवेक करनेवाले और सुख-दुःख व लाभ-हानि में संतोष भाव धारण करनेवाले होते है ।

**5. पद्मलेश्या :–** इस लेश्यावाले जीव क्षमा प्रधान जीवन जीनेवाले, देव-गुरु और धर्म के उपासक, त्याग धर्म की रुचिवाले और बाह्य–अभ्यंतर पवित्र जीवन जीनेवाले होते है ।

**6. शुक्ल लेश्या :–** इस लेश्यावाले जीव राग-द्वेष तथा विषय-कषाय से मुक्त, शोक-संताप व परनिंदा आदि दोषों से रहित, परमात्म-भक्ति व उपासना की रुचिवाले होते है ।

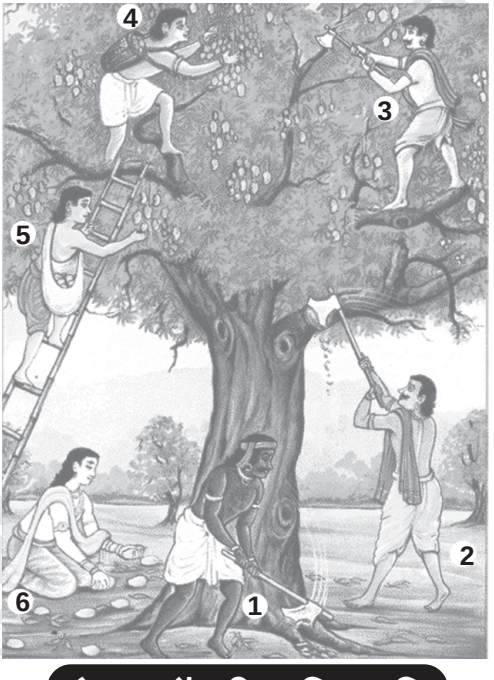


## लेश्याओं की वृत्ति-प्रवृत्ति

**1. कृष्ण लेश्यावाला :–** 1. उत्तेजित स्वभाव 2. वैर की तीव्र गांठ 3. दुष्टता 4. धर्म व दया से रहित 5. किसी का कुछ भी नहीं मानना ।

**2. नील लेश्यावाला :–** 1. मंदता 2. बुद्धि का अभाव 3. अज्ञानता 4. विषयों में आसक्ति ।

**3. कापोत लेश्यावाले :–** 1. शीघ्र नाराजगी 2. दूसरों पर दोषारोपण 3. शोकग्रस्तता 4. भयभीत होना ।

**4. तेजोलेश्यावाले :–** 1. कार्य-अकार्य का विवेक 2. श्रेय-अश्रेय का विवेक 3 सभी के प्रति समभाव 4. दया दान में प्रवृत्ति ।

**5. पद्मलेश्यावाले :–** 1. त्याग प्रधान जीवन 2. सरल परिणाम 3. व्यवहार में प्रामाणिकता 4. अपराधी के प्रति क्षमा भाव 5. गुरुजनों के प्रति भक्ति भाव ।

**6. शुक्ल लेश्यावाले :–** 1. पक्षपात का अभाव 2. भोगों में आसक्ति का अभाव 3. समभाव 4. राग-द्वेष का अभाव ।

## पारिणामिक भाव के भेद

**जीव–भव्याभव्यत्वादीनि च ।।2-7।।**

**सामान्य अर्थ :–** जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व आदि पारिणामिक भाव के भेद हैं ।

**विवेचन :– पारिणामिक भाव** के 3 भेद हैं–इनमें कर्मों की अपेक्षा नहीं होती है । ये सहज भाव हैं । भव्यत्व, अभव्यत्व और जीवत्व ये तीन भेद मात्र जीव में ही होते हैं ।

मोक्ष में जाने की योग्यता भव्यत्व भाव है । मोक्ष में जाने की अयोग्यता अभव्यत्व भाव है । चैतन्य युक्तता जीवत्व भाव है ।

इन पाँच भावों के कुल 53 भेद होते हैं ।

इनसे अतिरिक्त सूत्र में आदि शब्द से जीव और अजीव में होने वाले 1) अस्तित्व, 2) अन्यत्व, 3) कर्तृत्व, 4) भोक्तृत्व, 5) गुणवत्त्व, 6) असर्वगतत्व, 7) अनादि कर्म संतान बद्धत्व 8) प्रदेशवत्त्व, 9) अरूपीत्व, 10) नित्यत्व, पारिणामिक भाव हैं । अन्य भी क्रियावत्त्व वगैरह अनादि-पारिणामिक भाव हैं ।

## जीव का लक्षण

**उपयोगो लक्षणम् ।।2-8।।**

**सामान्य अर्थ :–** 'उपयोग' यह जीव का असाधारण धर्म–लक्षण है ।

**विवेचन :–** जिसके द्वारा वस्तु की पहिचान होती है, उसे लक्षण कहते हैं । लक्षण हमेशा ऐसा होना चाहिए जो अन्य किसी में न हो, मात्र उसी में हो और पूर्णतः व्याप्त हो । अतः वस्तु में रहे असाधारण धर्म को लक्षण कहा जाता है ।

वस्तु अनंत धर्मात्मक होने से उसमें कुछ ऐसे गुण धर्म भी होते हैं, जो न मात्र उसी में हों, परंतु अन्य में भी हों, ऐसे साधारण धर्म को स्वरूप कहेंगे । परंतु लक्षण, स्वरूप से भिन्न असाधारण धर्म है ।

**जीव का लक्षण है ''उपयोग'' । उपयोग यानी बोध रूप व्यापार ।** यह बोध रूप व्यापार, मात्र जीव में ही सम्भव है । जीव से अतिरिक्त अजीव आदि तत्त्वों में इस बोध रूप व्यापार का पूर्णतः अभाव है । एवं यह बोध रूप व्यापार, प्रत्येक जीव में अवश्य रहा हुआ है ।

पूर्व के सूत्रों में जो औदयिक आदि भाव बताए हैं वे तो अजीव में भी हो सकते हैं । जैसे अजीव में बताए पारिणामिक भाव आदि । परंतु उपयोग रूप लक्षण तो मात्र जीवों में ही होता है । उपयोग के द्वारा जीव तत्त्व को जाना जाता है । अतः उपयोग ही जीव का असाधारण धर्म–लक्षण है ।

## उपयोग के भेद

### स द्विविधोऽष्ट–चतुर्भेदः ।।2-9।।

**सामान्य अर्थ :–** उपयोग के मुख्य दो भेद हैं– (1) साकारोपयोग के आठ भेद हैं । (2) अनाकारोपयोग के चार भेद हैं ।

**विवेचन :–** जीव का लक्षण उपयोग होने पर भी सभी जीवों में उपयोग एक समान नहीं होता । उपयोग के दो भेद हैं–

**(1) साकारोपयोग :–** ज्ञेय वस्तु का विशेष बोध, ज्ञान है । अतः साकारोपयोग यानी ज्ञानोपयोग, अथवा सविकल्पोपयोग । इसके आठ भेद हैं–पाँच ज्ञान और तीन अज्ञान ।

1) मतिज्ञानोपयोग 2) श्रुतज्ञानोपयोग 3) अवधिज्ञानोपयोग
4) मनः पर्यायज्ञानोपयोग 5) केवलज्ञानोपयोग 6) मति अज्ञानोपयोग
7) श्रुत अज्ञानोपयोग 8) विभंग ज्ञानोपयोग

पाँच ज्ञान और तीन अज्ञान का स्वरूप प्रथम अध्याय में बताया गया है ।

**(2) अनाकारोपयोग –** ज्ञेय वस्तु का सामान्य बोध, दर्शन है । अतः अनाकारोपयोग यानी दर्शनोपयोग अथवा अविकल्पोपयोग । इसके चार भेद हैं–

**1) चक्षुदर्शनोपयोग–**आँख से होने वाला वस्तु का सामान्य बोध–चक्षु दर्शन है ।

**2) अचक्षुदर्शनोपयोग–**आँख से अतिरिक्त चार इन्द्रियों और मन से होने वाला वस्तु का सामान्य बोध–अचक्षु दर्शन है ।

**3) अवधिदर्शनोपयोग–**इन्द्रियों और मन की सहायता के बिना होने वाला रूपी पदार्थों का सामान्य बोध–अवधिदर्शनोपयोग है ।

**4) केवलदर्शनोपयोग–**इन्द्रियों और मन की सहायता के बिना लोक-अलोक के समस्त रूपी–अरूपी पदार्थों का सामान्य बोध केवलदर्शनोपयोग है ।

जैसे ज्ञानोपयोग में ज्ञान और अज्ञान दो भेद सम्यक्त्व और मिथ्यात्व पर आधारित हैं, वैसे दर्शनोपयोग में दर्शन और अदर्शन रूप भेद नहीं है । क्योंकि ज्ञान–अज्ञान में तो पदार्थ का विशेष बोध होता है, जबकि दर्शन में तो पदार्थ का सामान्य बोध होता है । इसमें सही गलत का भेद नहीं होने से इसमें दर्शन–अदर्शन भेद नहीं है ।

## जीव के मुख्य भेद

**संसारिणो मुक्ताश्च ।।2-10।।**

**सामान्य अर्थ :–** जीव के मुख्य दो भेद हैं– (1) संसारी जीव (2) मुक्त जीव ।

**विवेचन :–** जीव के दो भेद हैं–

**(1) संसारी जीव –** जो जीव, कर्म के वश होकर चार गति रूप संसार में परिभ्रमण करते हैं, वे संसारी जीव हैं ।

**(2) मुक्त जीव –** जो जीव कर्म के बंधनों से सर्वथा मुक्त होकर हमेशा के लिए मोक्ष में स्थिर हैं, वे मुक्त जीव हैं ।

## मन की अपेक्षा जीव के भेद

**समनस्काऽमनस्काः ।।2-11।।**

**सामान्य अर्थ :–** जीव के दो भेद हैं–मन सहित समनस्क और मन रहित अमनस्क ।

**विवेचन :–** मन की अपेक्षा सभी जीवों को दो भागों में बाँटा गया है–

**1) समनस्क –** जिन्हें विचार करने की शक्ति रूप मन होता है वे समनस्क, मन सहित अथवा संज्ञी कहलाते हैं ।

**2) अमनस्क –** जिन्हें विचार करने की शक्ति रूप मन नहीं होता है, वे अमनस्क, मन रहित अथवा असंज्ञी कहलाते हैं ।

मन दो प्रकार के हैं–द्रव्यमन और भावमन ।

**(i) द्रव्यमन –** गर्भ में होने वाली छह पर्याप्तियों में से अंतिम मन पर्याप्ति पूर्ण करने के बाद जीव जब मनन करने योग्य मनोवर्गणा के पुद्गलों को ग्रहण कर मन रूप में परिणमित किये जाने वाले पुद्गल–द्रव्यमन है ।

**(ii) भावमन –** द्रव्यमन के आलंबन से जीव का चिन्तन रूप व्यापार भाव मन है ।

जिन जीवों को ये दोनों प्रकार के मन होते हैं वे ही संज्ञी जीव हैं । इनसे अतिरिक्त सभी असंज्ञी जीव हैं । चार गतियों एवं पाँच इन्द्रियों की अपेक्षा एकेन्द्रिय से लेकर चतुरिन्द्रिय एवं संमूर्च्छिम पंचेन्द्रिय तिर्यंच और संमूर्च्छिम मनुष्य–असंज्ञी हैं । देव, नारक, गर्भज पंचेन्द्रिय तिर्यंच और गर्भज मनुष्य–संज्ञी हैं ।

**द्रव्यमन** वृद्ध व्यक्ति को चलने के लिए लकड़ी के समान है । वृद्ध व्यक्ति में चलने की शक्ति होने पर भी लकड़ी के सहारे बिना चल नहीं सकता है, वैसे ही एकेन्द्रिय आदि सभी जीवों में भाव मन होने पर भी द्रव्य मन के अभाव में वे विचार नहीं कर सकते । द्वीन्द्रिय से लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों में भी इष्ट के विषयों में प्रवृत्ति और अनिष्ट विषयों में निवृत्ति देखी जाती है, परंतु वह सिर्फ वर्तमान काल के विचार स्वरूप हेतुवादोपदेशिकी संज्ञा से होती है । भूतकाल और भविष्य काल का विचार करने की शक्ति के अभाव में मात्र अल्प संज्ञा होने से उन्हें संज्ञी नहीं कहा जा सकता है–जैसे अल्प धन होने से किसी दीन को धनवान नहीं कहा जा सकता है ।

मुक्त जीव द्रव्य और भाव–दोनों प्रकार के मन के अभाव से अमनस्क होते हैं ।

## संसारी जीवों के भेद

**संसारिणस्त्रस-स्थावराः ।।2-12।।**

**सामान्य अर्थ :–** संसारी जीव के दो भेद–त्रस और स्थावर ।

**विवेचन :–** संसारी जीवों के मुख्य दो भेद हैं–त्रस और स्थावर ।

त्रस और स्थावर जीवों की दो अलग–अलग व्याख्याएँ की गई हैं–

**पहली व्याख्या :–** जो जीव एक स्थान से दूसरे स्थान पर गति कर सकते हों, वे त्रस जीव हैं । जो एक स्थान से दूसरे स्थान पर गति नहीं कर सकते हों, वे स्थावर जीव हैं ।

**दूसरी व्याख्या :–** जो जीव त्रस नाम कर्म के उदय वाले हों, वे त्रस जीव हैं । एवं जो जीव स्थावर नाम कर्म के उदय वाले हों, वे स्थावर जीव हैं ।

इन दोनों व्याख्याओं में से यहाँ पहली व्याख्या के आधार पर त्रस और स्थावर के भेद बताए गए हैं ।

## स्थावर जीव

**पृथिव्यम्बुवनस्पतयः स्थावराः ।।2-13।।**

**सामान्य अर्थ :–** पृथ्वीकाय, अप्काय और वनस्पतिकाय जीव स्थावर हैं ।

**विवेचन :–** पृथ्वीकाय, अप्काय और वनस्पतिकाय जीव, एक स्थान से दूसरे स्थान पर गति नहीं कर सकते हैं, इसलिए इन्हें स्थावर कहा जाता है ।

**(1) पृथ्वीकाय –** पृथ्वी रूप शरीर वाले जो जीव होते हैं, वे पृथ्वीकाय हैं । स्फटिक मणि, रत्न, परवाल, हिंगुल, हरताल, पारा, सोना आदि धातुएँ, खड़िया, रमची, पत्थरों के टुकड़ों से मिली सफेद मिट्टी, पलेवक, अभ्रक, तेजंतूरी, क्षार मिट्टी और पत्थर की अनेक जातियाँ, सुरमा, नमक इत्यादि पृथ्वीकाय के भेद हैं ।

**(2) अप्काय –** पानी रूप शरीर वाले जो जीव होते हैं, वे अप्काय हैं। भूमि का पानी, आकाश का पानी, ओस, बर्फ, ओले, हरी वनस्पति पर फूटकर निकला हुआ पानी, बादलों से गिरनेवाले छोटे–छोटे जल–कण, कोहरा तथा घनोदधि आदि अप्काय के अनेक भेद हैं।

**(3) वनस्पतिकाय –** वनस्पति रूप शरीर वाले जो जीव हैं, वे वनस्पतिकाय हैं। उनके शरीर के आकार अनेक प्रकार के हैं। वनस्पति जीव के मुख्य दो भेद हैं।

**(i) साधारण वनस्पतिकाय –** जिसके एक शरीर में अनंत जीव हों, वे साधारण वनस्पतिकाय हैं। जिनकी नसें, संधिस्थल व गाँठें गुप्त हों–दिखाई न दें। जिनको तोड़ने पर समान टुकड़े होते हों, जो काटने पर भी उगते हैं, वे सभी साधारण वनस्पतिकाय के शरीर होते हैं। जैसे निगोद, पाँच वर्ण की काई, कच्ची हल्दी, कच्चा अदरक, आलू, मूला, गाजर, प्याज, सकरकंद आदि।

**(ii) प्रत्येक वनस्पतिकाय –** जिनके एक शरीर में एक जीव हो, वे प्रत्येक वनस्पतिकाय हैं। इसके 7 भेद हैं–फल, फूल, छाल, काष्ठ, मूल, पत्ते और बीज।

जैसे सभी प्रकार के वृक्ष, औषधियाँ, पौधे आदि।

## त्रस जीव

**तेजो–वायू–द्वीन्द्रियादयश्च त्रसाः ।।2-14।।**

**सामान्य अर्थ :–** तेउकाय, वायुकाय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीव त्रस हैं।

**विवेचन :–** तेउकाय, वायुकाय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीव एक स्थान से अन्य स्थान पर गति कर सकते हैं, इसलिए इन्हें त्रस कहा जाता है।

**(1) तेउकाय –** अग्निरूप शरीर वाले जो जीव होते हैं, वे तेउकाय हैं।

अंगार, ज्वाला, कंडे की गर्म राख में रहे अग्निकण, उल्कापात, आकाश से गिरनेवाली चिनगारियाँ, आकाश से तारों के समान बरसते अग्निकण, बिजली आदि अग्निकाय जीवों के भेद हैं ।

**(2) वायुकाय –** वायु रूप शरीर वाले जो जीव होते हैं, वे वायुकाय हैं ।

ऊँचे बहनेवाला, नीचे बहनेवाला, गोलाकार बहनेवाला, आँधी, मंद बहनेवाला, गुंजार करता हुआ वायु, घनवात और तनवात आदि वायुकाय जीवों के भेद हैं ।

पृथ्वीकाय, अप्काय, तेउकाय, वायुकाय और वनस्पतिकाय के जीव एकेन्द्रिय हैं । इन्हें मात्र स्पर्शनेन्द्रिय ही होती है । स्थावर नाम कर्म के उदय के कारण ये सभी स्थावर ही हैं, परंतु तेउकाय और वायुकाय को गतित्रस कहा गया है क्योंकि वे बाह्य रूप से गति करने के स्वभाव वाले हैं । उनकी गति उनकी इच्छा के अनुसार नहीं होती है ।

**(3) द्वीन्द्रिय –** जिन जीवों को स्पर्शनेन्द्रिय और रसनेन्द्रिय रूप दो इन्द्रियाँ होती हैं, वे द्वीन्द्रिय जीव हैं । जैसे शंख, कौड़ी, गंडोल, जोंक, अक्ष, केंचुआ, लालायक, मेहरी, कृमि, पूरा, चूड़ेल सीप, नाहरू, आदि ।

**(4) त्रीन्द्रिय –** जिन जीवों के स्पर्शनेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय और घ्राणेन्द्रिय रूप तीन इन्द्रियाँ होती हैं, वे त्रीन्द्रिय जीव हैं । जैसे- कानखजूरा, खटमल, जूँ–लीख, चींटी, दीमक, मकोड़ा, लट, घृतेलिका, चर्मयूका, गोकीट की जातियाँ, गर्दभक, विष्ठा के कीड़े, गोबर के कीड़े, घुन, कुंथु, गोपालिका, सुरसली व इंद्रगोप आदि ।

**(5) चतुरिन्द्रिय –** जिन जीवों को स्पर्शनेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय और चक्षुरिन्द्रिय रूप चार इन्द्रियाँ होती हैं, वे चतुरिन्द्रिय हैं । जैसे–बिच्छू, भौरा, टिड्डी, मक्खी, मधु–मक्खी, डाँस, मच्छर, मकड़ी आदि ।

**(6) पंचेन्द्रिय –** जिन जीवों को स्पर्शनेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय,

घ्राणेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय और श्रोत्रेन्द्रिय रूप पाँचों इन्द्रियाँ होती हैं, वे पंचेन्द्रिय हैं। जैसे, देवता, नारक, मनुष्य, तिर्यंच।

## इन्द्रियों की संख्या एवं भेद

**पञ्चेन्द्रियाणि ।।2-15।।**

**द्विविधानि ।।2-16।।**

**निर्वृत्त्युपकरणे द्रव्येन्द्रियम् ।।2-17।।**

**लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम् ।।2-18।।**

**सामान्य अर्थ :–** इन्द्रियाँ पाँच हैं।

द्रव्य और भाव के भेद से इन्द्रिय के दो भेद हैं–द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय।

द्रव्येन्द्रिय के दो भेद हैं–निर्वृत्ति द्रव्येन्द्रिय और उपकरण द्रव्येन्द्रिय।

भावेन्द्रिय के दो भेद हैं–लब्धि भावेन्द्रिय और उपयोग भावेन्द्रिय।

**विवेचन :–** इन्द्र अर्थात् जीव, क्योंकि सभी षड् द्रव्यों में जीव द्रव्य ही परम ऐश्वर्यवाला है। ऐसे जीव को पहिचानने का चिह्न इन्द्रिय है। इन्द्रिय के माध्यम से ही जाना जा सकता है कि शरीर में आत्मा है या नहीं। संसार में रही सभी आत्माओं को एक या एक से अधिक इन्द्रियाँ अवश्य होती हैं। ये इन्द्रियाँ पाँच प्रकार की हैं– 1) स्पर्शनेन्द्रिय 2) रसनेन्द्रिय, 3) घ्राणेन्द्रिय, 4) चक्षुरिन्द्रिय और 5) श्रोत्रेन्द्रिय।

**इन्द्रिय के दो भेद हैं :–**

**1. द्रव्येन्द्रिय :–** नाक, कान आदि इन्द्रियों की बाहरी और भीतरी पौद्गलिक रचना (आकार विशेष) को द्रव्येन्द्रिय कहते हैं।

**2. भावेन्द्रिय :–** आत्मा के क्षयोपशम विशेष को भावेन्द्रिय कहते हैं।

**द्रव्येन्द्रिय के दो भेद हैं**–निर्वृत्ति द्रव्येन्द्रिय और उपकरण द्रव्येन्द्रिय।

**1) निवृत्ति द्रव्येन्द्रिय :–** इन्द्रिय की आकार रचना को निर्वृत्ति द्रव्येन्द्रिय कहते हैं। आकार भी दो प्रकार के हैं– 1) बाह्य और 2) अभ्यंतर।

(i) बाह्य निर्वृत्ति :– आँख, कान आदि इन्द्रियों का बाह्य आकार। भिन्न–भिन्न जीवों की अपेक्षा इन्द्रियों का आकार भिन्न–भिन्न होता है। उदाहरणार्थ मनुष्य के कान लंबे–गोल व छीप के आकार के होते हैं। किन्तु घोड़े के कान नीचे से चौड़े और ऊपर की ओर जाते–जाते एकदम पतले व तीखे होते हैं।

(ii) अभ्यंतर निर्वृत्ति :– आँख, कान आदि इन्द्रियों के बाह्य आकारों के भीतर में स्थित, स्वच्छतर पुद्गलों की रचना। इन्द्रियों का अभ्यंतर आकार निम्नवत् है। जैसे–

- श्रोत्रेन्द्रिय का अभ्यंतर आकार कदंब के फूल जैसा है।
- चक्षुरिन्द्रिय का मसूर की दाल जैसा है।
- घ्राणेन्द्रिय का अतिमुक्तक पुष्प जैसा है। पडदाम जैसा।
- रसनेन्द्रिय का खुरपे जैसा है।
- स्पर्शनेन्द्रिय का आकार अनेक प्रकार का होता है, क्योंकि जीवों के शरीर का आकार अलग–अलग है। यही कारण है कि स्पर्शनेन्द्रिय के बाह्य–अभ्यंतर दो भेद नहीं होते क्योंकि उसका अभ्यंतर आकार, बाह्य आकार के समान ही होता है।

**2) उपकरण द्रव्येन्द्रिय :–** अभ्यंतर निर्वृत्ति के भीतर रहने वाली अपने–अपने विषय की ग्राहक पौद्गलिक शक्ति विशेष उपकरण द्रव्येन्द्रिय है।

**प्रश्न :–** अभ्यंतर निर्वृत्ति द्रव्येन्द्रिय और उपकरण द्रव्येन्द्रिय में क्या भेद है ?

**उत्तर :–** अभ्यंतर निर्वृत्ति इन्द्रियों की भीतरी पौद्गलिक संरचना है और उपकरण उसके भीतर विद्यमान अपने–अपने विषयों को ग्रहण करने वाली पौद्गलिक शक्ति है। वात, पित्त आदि से उपकरण द्रव्येन्द्रिय का नाश हो जाने पर मात्र अभ्यंतर द्रव्येन्द्रिय से विषयों का ग्रहण नहीं होता। उदाहरणार्थ–बाह्यनिर्वृत्ति तलवार है, अभ्यंतर निर्वृत्ति तलवार की धार है और उपकरण तलवार की छेदन–भेदन शक्ति है।

उपकरणरूप द्रव्येन्द्रिय और अभ्यंतर निर्वृत्ति, अपेक्षा भेद से भिन्न और अभिन्न दोनों हैं। भिन्न इस दृष्टि से है कि अभ्यंतर निर्वृत्ति इन्द्रिय का सद्भाव होने पर भी यदि उपकरण इन्द्रिय नष्ट हो जाती है तो विषय का ज्ञान नहीं होता है। अभिन्न इस दृष्टि से है कि उपकरण इन्द्रिय, अभ्यंतर निर्वृत्ति इन्द्रिय की शक्ति रूप है और शक्ति व शक्तिमान के मध्य अभेद सम्बन्ध होता है।

**भावेन्द्रिय के दो भेद हैं :–**

**1) लब्धि–भावेन्द्रिय :–** इन्द्रियों से संबद्ध ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय कर्म का क्षयोपशम लब्धि भावेन्द्रिय है।

**2) उपयोग–भावेन्द्रिय :–** ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम से प्राप्त शक्ति की प्रवृत्ति को उपयोग भावेन्द्रिय कहते हैं।

जीव को लब्धि भावेन्द्रिय के रूप में ज्ञानशक्ति प्राप्त (लाभ) होती है और उस प्राप्त हुई ज्ञानशक्ति का उपयोग करना वह उपयोग भावेन्द्रिय है। जीव को जितनी ज्ञानशक्ति प्राप्त हुई हो, उसे वह पूरी उपयोग नहीं करता है। जैसे निद्रावस्था में हमें प्राप्त हुई ज्ञानशक्ति का हम उपयोग नहीं करते हैं। जागृत अवस्था में भी हम अपनी ज्ञानशक्ति का हमेशा एक समान उपयोग नहीं करते हैं।

द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय के स्वरूप को समझने के लिए तलवार का उदाहरण है। जैसे किसी सैनिक को युद्ध-मैदान में अपना पराक्रम दिखाने के लिए तीक्ष्ण धारवाली तलवार चाहिए तो साथ ही उसे चलाने की कला भी चाहिए। वैसे ही इन्द्रिय का उपयोग करने के लिए जीव को द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय दोनों चाहिए।

## तलवार के उदाहरण से इन्द्रिय के कार्य

बाह्य निर्वृत्ति द्रव्येन्द्रिय तलवार के स्थान पर है। अभ्यंतर निर्वृत्ति द्रव्येन्द्रिय तलवार की धार के स्थान पर है। उपकरण द्रव्येन्द्रिय धार की शक्ति के स्थान पर है। लब्धि भावेन्द्रिय सैनिक की तलवार को

चलाने की कला के स्थान पर है । उपयोग भावेन्द्रिय उसके तलवार चलाने की कला के उपयोग के स्थान पर है ।

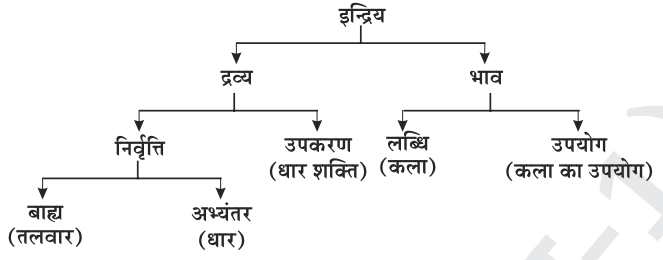


जीव को ज्ञान करने के लिए इन सभी प्रकार की इन्द्रियों का होना खूब जरूरी है । यदि एक भी इन्द्रिय की कमी हो तो ज्ञान नहीं हो सकता है ।

## उपयोग भावेन्द्रिय के विषय एवं इन्द्रियों का स्वरूप

**उपयोगः स्पर्शादिषु ।।2-19।।**

**स्पर्शन–रसन–घ्राण–चक्षुः–श्रोत्राणि ।।2-20।।**

**स्पर्श–रस–गन्ध–वर्ण–शब्दास्तेषामर्थाः ।।2-21।।**

**सामान्य अर्थ :–** भावेन्द्रिय रूप उपयोग स्पर्शेनेन्द्रिय आदि द्वारा स्पर्श आदि में प्रवृत्त होता है । **इन्द्रियों के नाम**–स्पर्शनेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय और श्रोत्रेन्द्रिय ।

इन इन्द्रियों के विषय क्रमशः स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण और शब्द है ।

**विवेचन :–** इन्द्रियाँ पाँच हैं–स्पर्शनेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय और श्रोत्रेन्द्रिय । इनके विषय क्रमशः स्पर्श, रस, गन्ध, रूप और शब्द हैं । स्पर्शनेन्द्रिय द्वारा स्पर्श को जानने में उपयोग प्रवृत्त होता है । रसनेन्द्रिय द्वारा रस को जानने में उपयोग प्रवृत्त होता है । घ्राणेन्द्रिय द्वारा गंध को जानने में उपयोग प्रवृत्त होता है । चक्षुरिन्द्रिय द्वारा रूप को जानने में उपयोग प्रवृत्त होता है और श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा शब्द

को जानने में उपयोग प्रवृत्त होता है। स्पर्श आदि, रूपी पदार्थों के पर्याय है और उनमें भावेन्द्रिय रूप मतिज्ञान का उपयोग प्रवृत्त होता है।

## इन्द्रिय और मन की प्राप्यकारिता

**1) प्राप्यकारिता :–** इन्द्रियों का विषय के साथ संबंध होने के बाद विषय का ज्ञान हो वह प्राप्यकारिता है। स्पर्शनेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय और श्रोत्रेन्द्रिय प्राप्यकारी इन्द्रियाँ हैं।

**2) अप्राप्यकारिता :–** इन्द्रियों का विषय के साथ संबंध हुए बिना विषयों का ज्ञान हो वह अप्राप्यकारिता है। चक्षुरिन्द्रिय और मन अप्राप्यकारी हैं।

### पाँच इन्द्रियों का विषयमान एवं कारण

| नाम | विस्तार | जघन्य | उत्कृष्ट विषयमान |
|---|---|---|---|
| 1. श्रोत्र | अंगुल का असंख्यातवाँ भाग | अंगुल के असंख्यातवें भाग की दूरी से आगत शब्द | 12 योजन से आगत शब्द |
| 2. चक्षु | अंगुल का असंख्यातवाँ भाग | अंगुल के संख्यातवें भाग की दूरी पर स्थित रूप | साधिक 1 लाख योजन में स्थित रूप |
| 3. घ्राण | अंगुल का असंख्यातवाँ भाग | अंगुल के असंख्यातवें भाग से आगत गंध को | 9 योजन से आगत गंध को |
| 4. रसन | 2 से 9 अंगुल | अंगुल के असंख्यातवें भाग से आगत रस को | 9 योजन से आगत रस को |
| 5. स्पर्शन | स्व-शरीर प्रमाण | अंगुल के असंख्यातवें भाग से आगत स्पर्श को | 9 योजन से आगत स्पर्श को |

◆ श्रोत्र, चक्षु, घ्राण व रसन इन चारों इन्द्रियों का विस्तार आत्मांगुल से तथा स्पर्शनेन्द्रिय का विस्तार उत्सेधांगुल से मापा जाता है। यदि अन्य इन्द्रियों का विस्तार भी उत्सेधांगुल से ही लिया जाये तो तीन कोस की अवगाहना वाले मनुष्यों को तथा छह कोस की अवगाहना वाले हाथियों को विषय का ज्ञान नहीं होगा। जीभ शरीर के अनुपात में

होती है तभी वह अपने विषय को ग्रहण कर सकती है । यदि उसका प्रमाण उत्सेधांगुल से माना जाये तो जीभ शरीर की अपेक्षा अतिअल्प होगी और इतने अल्प प्रमाणवाली जीभ अपने विषय का ज्ञान करने में समर्थ नहीं हो सकती । अतः पूर्वोक्त चारों इन्द्रियों का विस्तार आत्मांगुल से ही लिया जाता है । परन्तु विषयग्रहण का परिमाण सभी इन्द्रियों का आत्मांगुल से ही समझना चाहिए ।

◆ श्रोत्रेन्द्रिय अधिक-से-अधिक 12 योजन दूर से आये हुए मेघ आदि के शब्द को ग्रहण कर सकती है । इससे अधिक दूर का नहीं । इससे अधिक दूर से आगत शब्द कमजोर हो जाने से इन्द्रिय ग्राह्य नहीं बनता ।

◆ `चक्षुरिन्द्रिय 1 लाख योजन से अधिक दूर रहे हुए विषय को ग्रहण करती है' यह कथन निस्तेज पदार्थों की अपेक्षा से है । तेजस्वी चन्द्र, सूर्य आदि पदार्थ तो प्रमाणांगुल से निष्पन्न 21 लाख योजन की दूरी से भी ग्राह्य होते हैं । जैसे पुष्करवरद्वीप के निवासी मनुष्य (मानुषोत्तर पर्वत के निकटवर्ती) कर्क संक्रान्ति के दिन 21,34,537 योजन दूर से उदय-अस्त होते हुए सूर्य को देख सकते हैं ।

◆ घ्राण, रसन व स्पर्शन 9 योजन दूर स्थित विषय को ही ग्रहण कर सकते हैं । इससे अधिक दूरस्थ को नहीं ।

◆ चक्षुरिन्द्रिय जघन्य से आत्मांगुल के संख्यातवें भाग प्रमाण दूर रहे हुए विषय को ही ग्रहण कर सकती है । इससे अधिक समीपस्थ को नहीं । कारण, चक्षु अप्राप्यकारी होने से असंयुक्त विषय को ही ग्रहण कर सकती है । अत्यन्त संयुक्त काजल आदि का ज्ञान नहीं कर सकती । अन्यथा इनका भी ज्ञान होने लगेगा ।

**प्रश्न :-** स्पर्शनेन्द्रिय की मोटाई उत्सेधांगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण है तो शरीर पर लगे हुए तलवार आदि के घाव की वेदना जो भीतर तक होती है, वह किस प्रकार घटित होगी ?

**उत्तर :-** यह प्रश्न वस्तु के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान न होने के कारण ही उठा है, अन्यथा नहीं उठता। वस्तुतः स्पर्शनेन्द्रिय का विषय शीत, उष्ण आदि स्पर्श है, न कि वेदना का अनुभव। तलवार के प्रहार से शरीर में जो वेदना होती है, वह शीतादि स्पर्शजन्य नहीं है, जो कि स्पर्शनेन्द्रिय से ग्राह्य हो। वह दुःखानुभव रूप है, जिसे आत्मा अपनी समग्र चेतना से अनुभव करती है। किसी भी शारीरिक वेदना को जीव अपनी समग्र चेतना से ही अनुभव करती है। यही कारण है कि शरीर के किसी एक अंग में पीड़ा होने पर सम्पूर्ण शरीर में पीड़ा का अनुभव होता है।

**प्रश्न :-** शीतल पेय-पदार्थ का पान करते समय भीतर जो शीतलता का अनुभव होता है, वह कैसे घटेगा ?

**उत्तर :-** स्पर्शनेन्द्रिय की मोटाई पूर्वोक्त है, किंतु शीतलता के अनुभव का कारण दूसरा है। केवल बाह्य चमड़ी ही स्पर्शनेन्द्रिय नहीं कहलाती किन्तु शरीर के भीतर की चमड़ी भी स्पर्शनेन्द्रिय कहलाती है। स्पर्शनेन्द्रिय शरीरव्यापी है। यही कारण है कि शीतल जलादि पीते समय भीतर में शीतलता का अनुभव होता है।

## मन का विषय

**श्रुतमनिन्द्रियस्य ।।2-22।।**

**सामान्य अर्थ :–** श्रुत–अनिन्द्रिय (मन) का विषय है।

**विवेचन :–** पहले अध्याय के 20 वें सूत्र में बताया था कि ``श्रुतज्ञान–मतिज्ञान पूर्वक होता है और इसके दो भेद हैं। जिनमें अंगबाह्य के अनेक और अंगप्रविष्ट के बारह भेद हैं।'' अब यहाँ इस सूत्र में बताते हैं कि–ये दोनों प्रकार के श्रुतज्ञान–मन का विषय है। सूत्र में दिया गया `श्रुत' शब्द का अर्थ श्रुतज्ञान समझना है, न कि श्रोत्रेन्द्रिय का विषय शब्द।

जीव को मति और श्रुत ज्ञान की प्राप्ति इन्द्रिय और मन के द्वारा

होती है । इनमें इन्द्रियों से मुख्यतया मतिज्ञान और द्रव्य श्रुतज्ञान होता है, जबकि मन से मतिज्ञान और भावश्रुतज्ञान होता है । सूत्र में मन का विषय श्रुतज्ञान कहा है–वह मुख्यतया भावश्रुत की अपेक्षा से कहा है । क्योंकि द्रव्यश्रुत तो इन्द्रियों का विषय है । इन्द्रिय के विषय मात्र रूपी पदार्थ है, जबकि मन का विषय रूपी और अरूपी–दोनों पदार्थ है ।

जैसे सामायिक आदि शब्द सुनने या पढ़ने से सबसे पहले मतिज्ञान होता है । फिर श्रुतानुसारी वाच्य–वाचक भाव आदि मन संबंधी अवग्रहादि होते हैं, जिससे सामायिक शब्द का अर्थ ``सावद्य व्यापार का त्याग करना'' मन में उपस्थित होता है । यह अवग्रहादि–श्रुतज्ञान है, इसलिए श्रुतज्ञान में मन की मुख्यता है ।

सामान्य श्रुतज्ञान तो मन रहित एकेन्द्रिय जीवों को भी होता है, इसलिए यहाँ सूत्र में भावश्रुतज्ञान शब्दोल्लेख सहित विशेष प्रकार का समझना, जो सिर्फ संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों को ही होता है ।

## एकेन्द्रिय आदि के उदाहरण

**वाय्वन्तानामेकम् ।।2-23।।**

**कृमि-पिपीलिका-भ्रमर-मनुष्यादीनामेकैक-वृद्धानि ।।2-24।।**

**सामान्य अर्थ :–** पूर्व के सूत्र–13,14 में बताए जीवों के भेदों में वायुकाय तक के जीव एकेन्द्रिय है । फिर एक–एक इन्द्रिय की वृद्धि होते हुए कृमि–द्वीन्द्रिय, पिपीलिका (कीड़ी)–त्रीन्द्रिय, भ्रमर–चतुरिन्द्रिय और मनुष्य आदि पंचेन्द्रिय है ।

**विवेचन :–** पृथ्वीकाय, अप्काय और वनस्पतिकाय (स्थावर) तथा तेउकाय और वायुकाय (गतित्रस) जीव को मात्र स्पर्शन इन्द्रिय होने से वे एकेन्द्रिय हैं ।

कृमि आदि जीवों को स्पर्शनेन्द्रिय और रसनेन्द्रिय होने से वे द्वीन्द्रिय हैं ।

पिपीलिका (कीड़ी) आदि जीवों को स्पर्शनेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय और घ्राणेन्द्रिय होने से वे त्रीन्द्रिय हैं।

भौंरे आदि जीवों को स्पर्शनेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय और चक्षुरिन्द्रिय होने से वे चतुरिन्द्रिय हैं।

मनुष्य, देव, तिर्यंच और नारक के जीवों को स्पर्शनेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय और श्रोत्रेन्द्रिय होने से वे पंचेन्द्रिय हैं।

एकेन्द्रिय आदि जीवों की ये इन्द्रियाँ, द्रव्येन्द्रिय की अपेक्षा से कही है, वास्तव में भावेन्द्रियाँ तो सभी जीवों को होती है, परंतु द्रव्येन्द्रिय के अभाव में उन जीवों को उस विषय संबंधी ज्ञान नहीं होता है।

## संज्ञी जीवों की विशेषता

**संज्ञिनः समनस्काः ॥2-25॥**

**सामान्य अर्थ :–** संज्ञी जीवों को मन होता है।

**विवेचन :–** जिन जीवों को संज्ञा होती है, वे संज्ञी कहलाते हैं और जिन जीवों को संज्ञा नहीं होती वे असंज्ञी कहलाते हैं। संज्ञी जीव मन वाले होते हैं और असंज्ञी जीव मन रहित होते हैं।

**संज्ञा –** जिसका अनुभव किया जाए उसे संज्ञा कहते हैं। ये दो प्रकार की हैं–1) क्षयोपशम जन्य, 2) कर्मोदय जन्य।

**1) क्षयोपशमजन्य संज्ञा –** ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाली मतिज्ञान के भेद रूप संज्ञाएँ। इसके तीन भेद हैं–

**(i) दीर्घकालोपदेशिकी संज्ञा –** अतीत, अनागत वस्तु विषयक ज्ञान दीर्घकालोपदेशिकी संज्ञा है। जैसे यह किया, यह करना है, यह करूंगा इत्यादि मनोविज्ञान। ऐसे त्रैकालिक वस्तु विषयक ज्ञानवाली आत्मा दीर्घकालोपदेश संज्ञी कहलाती है। यह संज्ञा मनपर्याप्ति युक्त गर्भज तिर्यंच, गर्भज मनुष्य, देवता और नारक को ही होती है क्योंकि त्रैकालिक चिंतन उन्हीं को होता है।

**(ii) हेतुवादोपदेशिकी संज्ञा –**प्राणी अपने देह की रक्षा हेतु इष्ट विषय में प्रवृत्ति और अनिष्ट विषय में निवृत्ति करता है, वह हेतुवादोपदेशिकी संज्ञा है । जैसे गर्मी हो तो छाया में जाना, सर्दी हो तो धूप में जाना, भूख लगने पर आहारादि के लिए प्रवृत्ति करना आदि । यह संज्ञा प्रायः वर्तमानकालीन प्रवृत्ति–निवृत्ति विषयक है । प्रायः कहने से द्वीन्द्रिय आदि जीव जो अतीत, अनागत की भी सोच रखते हैं वे हेतुवादोपदेशिकी संज्ञा वाले कहलाते हैं ।

**(iii) दृष्टिवादोपदेशिकी संज्ञा –** जिसमें सम्यक्त्व विषयक प्ररूपणा हो वह दृष्टिवादोपदेशिकी संज्ञा है । इस संज्ञा की अपेक्षा क्षायोपशमिक सम्यग्ज्ञान से युक्त सम्यग्दृष्टि जीव ही संज्ञी है ।

**2) कर्मोदयजन्य संज्ञा –** कर्म के उदय से होनी वाली संज्ञाएँ । इनके 4 भेद हैं–

**i) आहार संज्ञा –** क्षुधावेदनीय के उदय से तथाविध आहारादि के पुद्गलों को ग्रहण करने की अभिलाषा, आहार संज्ञा है ।

**ii) भय संज्ञा –** भयमोहनीय के उदय से होने वाली अनुभूति भय संज्ञा है ।

**iii) मैथुन संज्ञा –** वेदोदयवश विजातीय को देखना, देखकर प्रसन्न होना, ठहरना आदि क्रिया मैथुन संज्ञा है ।

**iv) परिग्रह संज्ञा –** लोभमोहनीय के उदय से आसक्तिपूर्वक सचित्त व अचित्त द्रव्यों को ग्रहण करना परिग्रह संज्ञा है ।

अन्य अपेक्षा से–संज्ञा अर्थात् जिससे `यह जीव है' ऐसा जाना जाय वह संज्ञा । इसके दस भेद हैं । इनमें से कुछ संज्ञाएँ वेदनीय और मोहनीय कर्म जन्य हैं, तथा कुछ ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम जन्य हैं । दस संज्ञाओं के नाम इस प्रकार हैं–

1) आहार संज्ञा, 2) भय संज्ञा, 3) मैथुन संज्ञा, 4) परिग्रह संज्ञा, 5) क्रोध संज्ञा, 6) मान संज्ञा, 7) माया संज्ञा, 8) लोभ संज्ञा, 9) ओघ संज्ञा, 10) लोक संज्ञा ।

अन्य अपेक्षा से पंद्रह संज्ञाएँ भी हैं। पूर्वोक्त दस एवं 11) सुख संज्ञा, 12) दुःख संज्ञा, 13) मोह संज्ञा, 14) विचिकित्सा संज्ञा, 15) धर्म संज्ञा।

आचारांग सूत्र में सोलहवीं शोक संज्ञा भी बताई गई है।

यहाँ सूत्र में जो जीवों को संज्ञी रूप में कहा है वह दीर्घकालिकी संज्ञा की अपेक्षा से कहा है। इसलिए जिन जीवों को द्रव्य मन और भाव मन, दोनों हो जिससे वे 'तीनों' काल में मेरे लिए हितकारक और अहितकारक प्रवृत्ति कौनसी है ऐसा विचार कर सके वे संज्ञी जीव हैं। इससे अतिरिक्त अन्य सभी जीव असंज्ञी हैं।

## विग्रह गति–चिंतन

**विग्रहगतौ कर्मयोगः ।।2-26।।**

**सामान्य अर्थ :–** विग्रहगति में कार्मण काययोग होता है।

**विवेचन :–** संसारी आत्मा मृत्यु प्राप्त कर एक भव को छोड़कर दूसरे भव में जाती है, तब उसकी गति दो प्रकार की होती है–

1) ऋजुगति और 2) वक्र (विग्रह) गति।

ऋजुगति से परभव में जाते समय जीवात्मा को विशेष प्रयत्न नहीं करना पड़ता है। पूर्व शरीर को छोड़ते समय पूर्व शरीरजन्य वेग मिलता है। धनुष से छूटे बाण की भाँति आत्मा ऋजुगति से उत्पत्ति स्थान में पहुँच जाती है।

परंतु विग्रह (वक्र) गति से परभव में जाते समय उसे किसी योग की अपेक्षा रहती है।

परभव में जाते समय मन तथा वचन योग का तो सर्वथा अभाव होता है।

काय योग के 7 भेद हैं–औदारिक, औदारिक मिश्र, वैक्रिय, वैक्रियमिश्र, आहारक, आहारक मिश्र और कार्मण।

परभव जाते समय औदारिक, वैक्रिय और आहारक ये तीन योग नहीं होते हैं। औदारिक मिश्र आदि काययोग भी नहीं होते हैं, क्योंकि

मिश्रकाययोग काययोग की उत्पत्ति के प्रारंभ में होते हैं । अतः विग्रह गति में सिर्फ कार्मण काययोग होता है ।

अविग्रहगति एक ही समय की होती है अर्थात् जीव अविग्रहगति (ऋजुगति) से एक ही समय में अपने उत्पत्ति स्थल में पहुँच जाता है ।

अविग्रहगति में गति करने के लिए नया प्रयत्न करना नहीं पड़ता है । पूर्व शरीर के प्रयत्न के वेग से ही धनुष से छूटे बाण की तरह इष्ट स्थल में पहुँच जाते हैं अर्थात् अविग्रहगति में पूर्व भव के शरीर के योग की सहायता होती है ।

## जीव व पुद्गल की गति

**अनुश्रेणि गतिः ।।2-27।।**

**सामान्य अर्थ :–** जीव और पुद्गल की अनुश्रेणि अर्थात् सीधी गति होती है ।

**विवेचन :–** षड्द्रव्य में, जीव और पुद्गल दो ही द्रव्य गतिशील हैं । दोनों में गति करने की शक्ति है, अतः निमित्त मिलने पर गति करने लगते हैं ।

बाह्य उपाधि से भले ही वे वक्रगति करें, परंतु उनकी स्वाभाविक गति तो सीधी ही होती है ।

सीधी गति का आशय है कि जिस आकाश प्रदेश में जीव या परमाणु रहा हो, वहाँ से गति करते हुए वे उसी आकाश क्षेत्र की सरल रेखा में ऊँचे–नीचे या तिरछे चले जाते हैं ।

कोई बाधक कारण उपस्थित हो तो जीव व पुद्गल सरल रेखा को छोड़कर वक्ररेखा से भी गति करते हैं ।

## सिद्ध आत्माओं की गति

**अविग्रहा जीवस्य ।।2-28।।**

**सामान्य अर्थ :–** सिद्ध हुए जीव की सरल गति होती है ।

**विवेचन :–** एक भव से दूसरे भव में जाते समय संसारी जीवों की दोनों

प्रकार की ऋजु और विग्रहगति होती है, यह बात अगले सूत्र में बताएंगे ।

यहां सिद्ध भगवंतों की गति बतलाई है । सिद्ध होने वाले जीवों की एक ही गति होती है । वे ऋजुगति से ही मोक्ष में जाते हैं । उनको विग्रहगति नहीं होती है ।

## संसारी आत्मा की गति

**विग्रहवती च संसारिणः प्राक् चतुर्भ्यः ।।2-29।।**

**सामान्य अर्थ :–** संसारी जीवों की विग्रह सहित और विग्रह रहित इस प्रकार दो प्रकार की गति होती है ।

विग्रहवाली गति तीन समय की होती है ।

**विवेचन :–** एक भव से दूसरे भव में जाते समय जीवात्मा की दो गति होती हैं । (1) ऋजुगति और (2) वक्रगति ।

मृत्यु स्थान से उत्पत्ति स्थान समश्रेणी में हो तो जीव ऋजुगति से एक ही समय में उत्पत्ति स्थान में पहुँच जाता हैं, परंतु उत्पत्ति स्थान समश्रेणी में न हो तो जीव को एक, दो या तीन बार मोड़ आने से विग्रहगति करनी पड़ती है ।

एक बार मोड़ हो उसे एक विग्रहा, दो बार मोड़ हो तो दो विग्रहा व तीन बार मोड़ हो तो त्रिविग्रहा गति होती है ।

कर्म के अधीन रहा जीव संसार में कहीं भी उत्पन्न हो सकता है ।

जीव आकाशप्रदेशों की श्रेणी के अनुसार ही गति करता है ।

उदा. (1) ऊर्ध्वलोक की पूर्व दिशा के किसी स्थान में मृत्यु प्राप्त कर जीव अधोलोक की पश्चिम दिशा में उत्पन्न होता हो तो सर्वप्रथम जीव समश्रेणी से नीचे उतरता है, फिर पश्चिम दिशा की ओर मुड़कर उत्पत्तिस्थान में उत्पन्न होता है, अतः एकवक्रा या एकविग्रह गति हुई ।

(2) यदि जीव ऊर्ध्व लोक के अग्निकोण में मृत्यु प्राप्त कर अधोलोक के वायव्य कोण में उत्पन्न होता हो तो सर्वप्रथम समय में

समश्रेणी से पश्चिम दिशा में आता है, फिर अधोलोक तरफ मुड़कर समश्रेणी से नीचे उतरता है, तीसरे समय में वायव्य कोण की ओर मुड़कर उत्पत्तिस्थान में पहुँचता है, अतः दो वक्रा गति हुई ।

(3) त्रसनाड़ी के बाहर कोईजीव ऊर्ध्व लोक की किसी दिशा में से अधोलोक की विदिशा में उत्पन्न होता हो तो सर्वप्रथम जीव समश्रेणी से त्रसनाड़ी में आता है, दूसरे समय में समश्रेणी से अधोलोक में आता है, तीसरे समय में समश्रेणी में त्रसनाड़ी के बाहर की दिशा में जाता है और चौथे समय में विदिशा में उत्पत्तिस्थान में आता है–उस गति में तीन मोड़ आने से त्रिवक्रा कहलाती है ।

यद्यपि चार मोड़वाली चतुर्वक्रा गति भी होती है, परंतु वह कदाचित् किसी जीव को होने से यहाँ तीन ही वक्रगति कही है ।

**चार मोड़ :–**

त्रसनाड़ी के बाहर कोई जीव ऊर्ध्वलोक की विदिशा में मरकर त्रसनाड़ी के बाहर अधोलोक की विदिशा में पैदा हो, तब चार मोड़ आते हैं–

प्रथम समय में त्रसनाड़ी के बाहर विदिशा में से दिशा में आता है ।

दूसरे समय में त्रसनाड़ी में प्रवेश करता है ।

तीसरे समय में अधोलोक में आता है ।

चौथे समय में त्रसनाड़ी से बाहर आता है ।

पाँचवें समय में विदिशा में उत्पत्तिस्थान में जाता है ।

इसमें चार मोड़ आने से चतुर्वक्रा कहलाती है ।

## किस जीव को कौनसी गति ?

1. त्रस में से स्थावर, स्थावर में से त्रस,

त्रस में से त्रस व स्थावर में से स्थावर में जानेवाले जीव को एक या दो वक्रा गति हो सकती है ।

2. त्रस में से स्थावर, स्थावर में से त्रस, स्थावर में से स्थावर में जानेवाले जीव को तीन वक्रा गति संभव है ।

3. स्थावर में से स्थावर में जानेवाले को चार वक्रा गति भी संभव है ।

**कालमान कितना ?**

एक वक्रा गति दो समय की होती है ।

दो वक्रा गति तीन समय की होती है ।

तीन वक्रा गति चार समय की होती है ।

चार वक्रा गति पाँच समय की होती है ।

## परभव जाते हुए एक वक्रा आदि गति

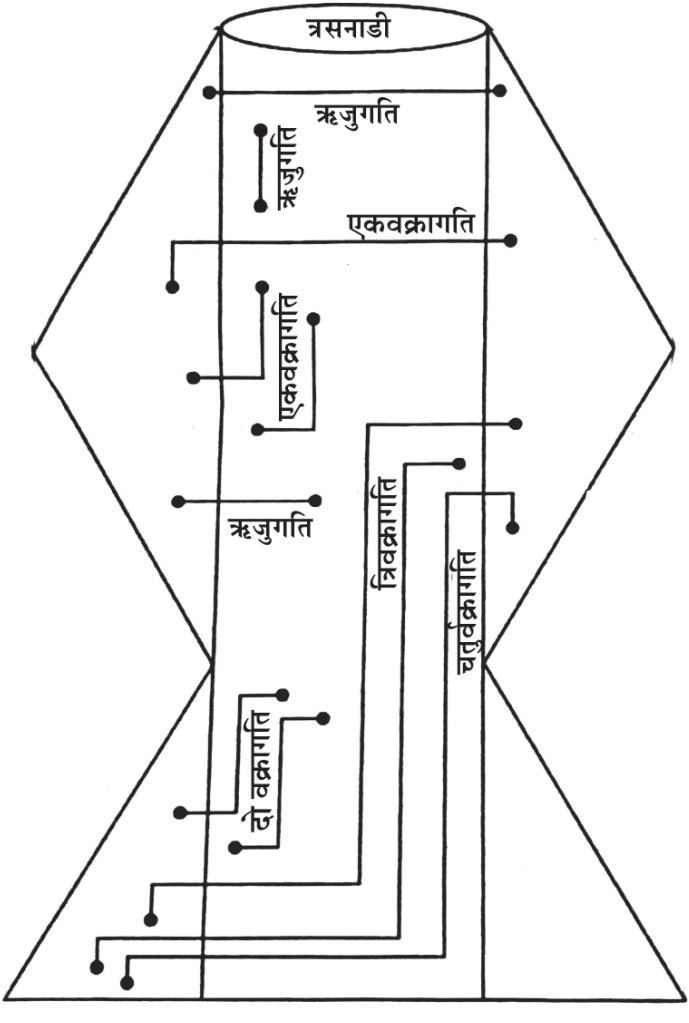

## अविग्रह गति का काल

**एक–समयोऽविग्रहः ।।2-30।।**

**सामान्य अर्थ :–** अविग्रह–सरल गति का काल एक समय का है ।

**विवेचन :–** जहाँ उत्पन्न होना हो, वहाँ जीव एक ही समय में पहुँच जाय तो अविग्रह गति से ही जाता है ।

उत्पत्तिस्थान में जाने में एक से अधिक समय लगे तो भी पहले समय में तो जीव अविग्रह ऋजु (सरल) गति से ही जाता है ।

एक को छोड़ ज्यादा समय में विग्रहगति होती है, क्योंकि दूसरे समय से मोड़ चालू हो जाता है ।

मोड़ के साथ ही आनुपूर्वी नामकर्म का उदय प्रारंभ हो जाता है वह आनुपूर्वी नामकर्म जीवात्मा को उत्पत्ति स्थल में ले जाता है ।

## आहार के अभाव का काल

**एकं द्वौ वाऽनाहारकः ।।2-31।।**

**सामान्य अर्थ :–** अंतराल गति में जीव एक या दो समय तक आहार रहित रहता है ।

**विवेचन :–** संसारी जीव मृत्यु के अंतिम समय तक आहार ग्रहण करता है और उत्पत्ति के पहले समय में आहार ग्रहण करता है ।

मृत्यु से उत्पन्न होने में जीव को यदि दो समय लगे, तब तो आत्मा आहारी ही होती है अर्थात् एक भी समय अणाहारी नहीं होती है ।

परंतु दो से अधिक तीन या चार समय लगे तो बीच के एक या दो समय तक आत्मा अणाहारी होती है ।

तीन समय की अंतराल गति में बीच के एक समय तथा चार समय की अंतराल गति में बीच के दो समय आत्मा अणाहारी रहती है ।

यद्यपि अंतराल गति में कभी पाँच समय भी लग सकते हैं, उस समय आत्मा बीच के तीन समय में अणाहारी होती है, परंतु यह घटना

क्वचित् होने से उसकी विवक्षा न करते हुए प्रस्तुत सूत्र में एक या दो समय ही अणाहारी का निर्देश किया है ।

अंतराल गति में भी संसारी जीवों को कार्मण शरीर अवश्य होता है, अतः शरीरजन्य आत्मप्रदेशकंपन जिसे कार्मण योग कहते हैं, अवश्य होता है । योग के कारण कर्मवर्गणा के पुद्गलों का ग्रहण भी अवश्य होता है, इस प्रकार विग्रहगति में भी आत्मा कर्म का बंध अवश्य करती है ।

## जन्म के प्रकार

**सम्मूर्च्छन–गर्भोपपाताज्जन्म ।।2-32।।**

**सामान्य अर्थ :–** सम्मुर्च्छन, गर्भ और उपपात–जन्म के ये तीन भेद है ।

**विवेचन :–** एक भव का त्याग कर जब आत्मा नया देह धारण करती है, उसे जन्म कहते हैं ।

जन्मस्थान की अपेक्षा जन्म के तीन प्रकार हैं–

**1. सम्मूर्च्छन जन्म :–** स्त्री-पुरुष के संयोग बिना ही उत्पत्ति-स्थान में रहे हुए औदारिक वर्गणा के पुद्गलों को ग्रहण कर उन्हें शरीर रूप में परिणत करना, उसे सम्मूर्च्छन जन्म कहते हैं ।

**2. गर्भ जन्म :–** स्त्री–पुरुष के संयोग बाद उत्पत्तिस्थान में रहे हुए शुक्र और रक्त रुपी औदारिक वर्गणा के पुद्गलों को ग्रहण कर शरीर का निर्माण करना, उसे गर्भ जन्म कहते हैं ।

**3. उपपात जन्म :–** उत्पत्ति स्थान में रहे हुए वैक्रिय वर्गणा के पुद्गलों को ग्रहण करना और उसमें से वैक्रिय शरीर का निर्माण करना, उसे उपपात जन्म कहते हैं ।

## योनि के भेद

**सचित्त-शीत-संवृता:सेतरा मिश्राश्चैकशस्तद्योनय: ।।2-33।।**

**सामान्य अर्थ :–** जीवों की योनियाँ सचित्त, अचित्त और मिश्र; शीत,

उष्ण और शीतोष्ण तथा संवृत, विवृत और संवृत–विवृत (मिश्र)–इस प्रकार जन्म की कुल नौ योनियाँ हैं ।

**विवेचन :–** जिस प्रकार तपे हुए लोहे के गोले में पानी की बुँदें एकमेक हो जाती हैं, उसी प्रकार जिस स्थान में आकर जीव अपने कार्मण शरीर से उत्पत्ति स्थान में रहे हुए पुद्गलों को ग्रहण कर अपना स्थूल शरीर बनाता है, उस स्थान को योनि कहते हैं ।

इस योनि के 9 प्रकार हैं–

**1. सचित्त :–** जो योनि सजीव हो, उसे सचित्त योनि कहते हैं ।

**2. अचित्त :–** जो योनि निर्जीव हो, उसे अचित्त योनि कहते हैं ।

**3. मिश्र :–** जो योनि कुछ अंश में सजीव और कुछ अंश में निर्जीव हो, उसे मिश्रयोनि कहते हैं ।

**4. शीत :–** जो उत्पत्तिस्थान ठंडा हो, उसे शीत योनि कहते हैं ।

**5. उष्ण :–** जो उत्पत्तिस्थान गर्म हो, उसे उष्ण योनि कहते हैं ।

**6. शीतोष्ण :–** जो योनि थोड़ी ठंडी और थोड़ी गर्म होती है, उसे शीतोष्ण योनि कहते हैं ।

**7. संवृत :–** जो ढकी हुई हो, उसे संवृत योनि कहते हैं ।

**8. विवृत :–** जो योनि खुली हो उसे विवृत योनि कहते हैं ।

**9. संवृत-विवृत :–** जो योनि थोड़ी खुली व थोड़ी ढकी हो, उसे संवृत विवृत योनि कहते हैं ।

## जीव और योनि

| क्र. | जीव | योनि |
|---|---|---|
| 1. | नारक और देव | अचित्त योनि |
| 2. | गर्भज मनुष्य और तिर्यंच | मिश्र |
| 3. | पाँच स्थावर, तीन विकलेन्द्रिय और अगर्भज तिर्यंच – मनुष्य | सचित्त, अचित्त और मिश्र |

| | | |
|---|---|---|
| 4. | गर्भज मनुष्य, तिर्यंच और देव | मिश्र |
| 5. | तेउकाय | उष्ण |
| 6. | चार स्थावर, तीन विकलेन्द्रिय, अगर्भज पंचेन्द्रिय तिर्यंच मनुष्य व नारक | शीत, उष्ण और मिश्र |
| 7. | नारक, देव और एकेन्द्रिय | संवृत |
| 8. | गर्भज पंचेन्द्रिय तिर्यंच और मनुष्य | मिश्र–संवृत–विवृत |
| 9. | तीन विकलेन्द्रिय, अगर्भज पंचेन्द्रिय मनुष्य व तिर्यंच | विवृत योनि |

यद्यपि सभी जीवों की कुल 84 लाख योनियाँ कहलाती हैं। वर्ण, गंध, रस और स्पर्श की तरतमता से पृथ्वीकाय की 7 लाख आदि योनियाँ होती हैं, परंतु यहाँ 84 लाख योनियों को संक्षेप में 9 भागों में बाँटा आध य् + व है।

## गर्भ रूप जन्म के प्रकार

**जराय्वण्डज पोतजानां गर्भः ॥2-34॥**

**सामान्य अर्थ :–** जरायुज, अंडज और पोतज प्राणियों का गर्भ जन्म होता है।

**विवेचन :– 1. जरायुज :–** जरायु अर्थात् एक प्रकार की झिल्ली जैसा आवरण, जो खून व मांस से भरा होता है। गर्भस्थ शिशु उसमें लिपटा होता है। मनुष्य, गाय, भैंस आदि जरायुज कहलाते हैं।

**2. अंडज :–** अंडे से पैदा होने वाले जीव अंडज कहलाते हैं। सांप, मोर, कबूतर, मुर्गा, चीड़िया, कबूतर आदि अंडज कहलाते हैं।

**3. पोतज :–** जो किसी प्रकार के आवरण से ढके हुए नहीं होते हैं, वे पोतज कहलाते हैं। हाथी, नेवला, चूहा आदि पोतज हैं। वे खुले

शरीर ही पैदा होते हैं । गर्भाशय में भी किसी प्रकार का आवरण नहीं होता है और जन्म से ही चल सकते हैं ।

## उपपात जन्म

**नारक–देवानामुपपातः ।।2-35।।**

**सामान्य अर्थ :–** नारक और देवताओं का उपपात जन्म होता है ।

**विवेचन :–** देवलोक में देवशय्या के ऊपर दिव्य वस्त्र से आछन्न भाग में देवों का जन्म होता है । उसे उपपात कहते हैं ।

देवलोक में गर्भ से जन्म नहीं होता है । प्रचंड पुण्य के कारण उन्हें जन्म के पूर्व गर्भावस्था की पीड़ा सहन करनी नहीं पड़ती है । वे अपनी ऊँचाई, कांति और युवावस्था के साथ ही अन्तर्मुहूर्त में पैदा हो जाते हैं ।

नारक जीवों का जन्म कुंभी में होता है । नारक भी अपने शरीर की ऊँचाई आदि के साथ अन्तर्मुहूर्त में पैदा हो जाते हैं ।

प्रबल पापोदय के कारण उन्हें जन्मसमय में भयंकर वेदना होती है । उनका भी जन्म उपपात कहलाता है ।

## सम्मूर्च्छन जन्म

**शेषाणां सम्मूर्च्छनम् ।।2-36।।**

**सामान्य अर्थ :–** शेष जीवों का जन्म संमूर्च्छिम होता है ।

**विवेचन :–** गर्भज तिर्यंच–मनुष्य तथा देव–नारक के जन्म का वर्णन करने के बाद शेष रहे एकेन्द्रिय विकलेन्द्रिय तथा संमूर्च्छिम तिर्यंच पंचेन्द्रिय और संमूर्छिम पंचेन्द्रिय मनुष्य के जन्म का वर्णन करते हुए कहते हैं कि इन सब का जन्म नर–मादा के संयोग बिना संमूर्च्छिम होता है ।

चींटी आदि जहाँ रहती हैं, उसके आस-पास में उन जीवों का सूक्ष्म मल होता है, उस मल में उन जीवों की सहज उत्पत्ति हो जाती

है । वे जीव उत्पन्न होते हैं, तब प्रारंभ में सूक्ष्म अंडे के आकार जैसे दिखाई देते हैं, बाद में उसी में से वे जीव अपना पूरा आकार बना देते हैं ।

अनादि के कु-संस्कारों के कारण तीड़ आदि प्राणियों में मैथुन सेवन की चेष्टा दिखाई देती है, परंतु वे सब नपुंसक होने से उन्हें गर्भ नहीं रहता है अतः उनका जन्म गर्भज नहीं किंतु संमूर्च्छिम ही कहलाता है ।

## शरीर के भेद

### औदारिक–वैक्रिया–ऽऽहारक–तैजस–कार्मणानि शरीराणि ।।2-37।।

**सामान्य अर्थ :–** शरीर के पाँच भेद हैं–औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस और कार्मण ।

**विवेचन :–** कर्म के बंधन से सर्वथा मुक्त बनी आत्माओं को किसी भी प्रकार का शरीर नहीं होता है, अर्थात् वे मुक्तात्माएँ अशरीरी होती हैं, परंतु संसारी जीवों को तो शरीर धारण करना ही पड़ता है । विग्रहगति में रही हुई आत्मा के तैजस और कार्मण ये दो शरीर होते हैं । विग्रह गति को छोड़ आत्मा किसी भी गति में कोई भी जन्म धारण करती है, उस आत्मा के तीन शरीर हो जाते हैं ।

**'शीर्यते इति शरीरम्'** इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो नष्ट होता है, वह शरीर है । ये पाँचों शरीर नष्ट होने के स्वभाववाले हैं ।

**1. औदारिक शरीर :** औदारिक वर्गणा से बने हुए शरीर को औदारिक शरीर कहते हैं । इस शरीर की विशेषताएँ–

**(i) उदार :** अर्थात् विशाल, देव व नरक के जीवों को छोड़कर सभी जीवों को यह शरीर होता है । तीर्थंकर, गणधर, केवली, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, प्रतिवासुदेव, नारद आदि सभी महापुरुषों को यह शरीर होने से यह शरीर विशाल कहलाता है । कर्मों से सर्वथा मुक्ति और आत्मा को अनंत लब्धियों की प्राप्ति भी इसी शरीर के माध्यम से होती है ।

**(ii) उत्तम :** जगत् में सर्वश्रेष्ठ रूप तीर्थंकर परमात्मा का होता है, उनका शरीर भी औदारिक वर्गणा के पुद्गलों से बना होता है ।

**(iii) स्थूल :** पुद्गल की आठ प्रकार की वर्गणाओं में औदारिक वर्गणा के पुद्गल एकदम स्थूल होते हैं । ये पुद्गल संख्या में कम होते हैं, परंतु उनका परिणाम स्थूल होता है । औदारिक की अपेक्षा वैक्रिय, आहारक आदि के परमाणु सूक्ष्म होते हैं ।

**(iv) सबसे ऊँचा :** चार गतियों में सबसे बड़ा शरीर औदारिक ही होता है । स्वयंभूरमण समुद्र में एक हजार योजन के मत्स्य पाए जाते हैं । वनस्पति की भी ऊँचाई एक हजार योजन से कुछ अधिक होती है ।

**2. वैक्रिय शरीर :** वैक्रिय वर्गणा के पुद्गलों से बना हुआ शरीर वैक्रिय शरीर कहलाता है ।

विक्रिया अर्थात् जिस शरीर में भिन्न-भिन्न प्रकार की क्रियाएँ हो सकती हैं अर्थात् जिस शरीर में छोटे से बड़ा, बड़े से छोटा, एक से अनेक, भारी-हल्का, दृश्य-अदृश्य आदि अनेक प्रकार की क्रियाएँ हो सकती हैं । यह शरीर दो प्रकार का होता है–

**(1) भव प्रत्ययिक :** भव के कारण होनेवाले शरीर को भवप्रत्ययिक कहते हैं । देव व नरक के जीवों को यह वैक्रिय शरीर भवप्रत्ययिक होता है ।

**(2) लब्धि प्रत्ययिक :** लब्धिधारी मनुष्य, पंचेन्द्रिय तिर्यंच और बादर पर्याप्त वायुकाय जीवों को यह शरीर लब्धिप्रत्ययिक होता है अर्थात् लब्धि के कारण इस शरीर की प्राप्ति होने से लब्धि प्रत्ययिक कहलाता है ।

औदारिक की अपेक्षा वैक्रिय वर्गणा के पुद्गल अधिक सूक्ष्म होते हैं । इस शरीर में हड्डी, मांस, चर्बी, खून आदि किसी भी प्रकार की अशुद्ध धातुएँ नहीं होती हैं ।

मनुष्य वैक्रियलब्धि के बल से 1 लाख योजन से भी कुछ अधिक ऊँचाई का यह शरीर बना सकता है ।

देवताओं को जन्म से ही प्राप्त यह शरीर अत्यंत ही सौंदर्यवाला

होता है । उनके शरीर में किसी भी प्रकार की बीमारी नहीं होती है । मानव शरीर की तरह देव के शरीर में वृद्धावस्था आदि नहीं होती है ।

**3. आहारक शरीर :** आहारक वर्गणा के पुद्गलों से बने शरीर को आहारक शरीर कहते हैं ।

आमर्ष औषधि आदि लब्धिवाले चौदह पूर्वधर और आहारक लब्धिवाले महात्मा ही आहारक शरीर का निर्माण कर सकते हैं ।

तीर्थंकर परमात्मा के पास अपने प्रश्नों के समाधान के लिए अथवा तीर्थंकर परमात्मा के समवसरण आदि ऋद्धि को देखने के लिए चौदह पूर्वधर महर्षि इस आहारक शरीर का निर्माण करते हैं ।

यह शरीर एक हाथ प्रमाण होता है । वैक्रिय वर्गणा की अपेक्षा आहारक वर्गणा के पुद्गल अतिसूक्ष्म होते हैं । इस शरीर का अस्तित्व अन्तर्मुहूर्त तक ही रहता है ।

भरतक्षेत्र में रहे आहारक लब्धिधारी महात्मा अपने द्वारा बनाए आहारक शरीर को महाविदेह क्षेत्र में भेजें और वहाँ सीमंधरस्वामी आदि की ऋद्धि देखकर यह शरीर वापस लौट आए...इस घटना में सिर्फ अन्तर्मुहूर्त जितना ही समय लगता है । उसके बाद यह शरीर विलीन हो जाता है । यह शरीर बनाते समय मूल शरीर और आहारक शरीर के बीच आत्मप्रदेशों की लंबी श्रेणी होती है ।

यह शरीर वैक्रिय वर्गणा से भी अधिक तेजस्वी और सूक्ष्म होता है ।

यह शरीर एक जीव की अपेक्षा संपूर्ण भवचक्र में चार ही बार प्राप्त होता है ।

**4. तैजस शरीर :** तैजसवर्गणा के पुद्गलों से इस शरीर का निर्माण होता है । शरीर में जो गर्मी होती है, वह इसी शरीर के कारण होती है । विविध तप द्वारा तेजोलेश्या सिद्ध होती है, जिससे सामनेवाले को भस्मीभूत किया जा सकता है । यह शरीर आत्मा के साथ अनादि-काल से रहा हुआ है । इसके परमाणु आहारक शरीर से भी अधिक सूक्ष्म होते हैं ।

**5. कार्मण शरीर :** मिथ्यात्व आदि हेतुओं द्वारा आत्मा अपने चारों ओर रहे कार्मण वर्गणा के पुद्गलों को ग्रहण करती है, ग्रहण किए कार्मण वर्गणा के उन पुद्गलों को ही कार्मण शरीर कहते हैं ।

## स्थूल व सूक्ष्म शरीर

**परं परं सूक्ष्मम् ।।2-38।।**

**सामान्य अर्थ :–** पहले के शरीर की अपेक्षा बाद के शरीर अधिक सूक्ष्म है ।

**विवेचन :–** औदारिक शरीर से वैक्रिय शरीर सूक्ष्म है ।

वैक्रिय शरीर की अपेक्षा आहारक शरीर सूक्ष्म है ।

आहारक शरीर की अपेक्षा तैजस शरीर सूक्ष्म है ।

तैजस शरीर की अपेक्षा कार्मण शरीर सूक्ष्म है ।

पुद्गलों में अनेक प्रकार से परिणमन की शक्ति होती है, अतः परिमाण में अल्प हो परंतु शिथिल रूप में परिणत होने पर स्थूल कहलाते हैं और परिमाण में ज्यादा होने पर जैसे-जैसे सघन होते जाते हैं, वैसे-वैसे सूक्ष्म, सूक्ष्मतर कहलाते हैं ।

1 किलो लकड़ी में परमाणु की रचना शिथिल–(स्थूल) होती है, जबकि 1 किलो सोने में परमाणु की रचना सूक्ष्म होती है ।

इस प्रकार लकड़ी व सोने का आकार तुल्य होने पर भी लकड़ी की अपेक्षा सोने में पौद्गलिक द्रव्य अधिक है ।

## शरीरों में प्रदेशों का विचार

**प्रदेशतोऽसंख्येयगुणं प्राक् तैजसात् ।।2-39।।**

**सामान्य अर्थ :–** तैजस के पहले अर्थात् आहारक शरीर तक प्रदेशों की संख्या असंख्येय गुणा है ।

**विवेचन :–** केवली की नजर में जिसके पुनः दो भाग न हो सके, ऐसे पदार्थ के सूक्ष्म अंश को प्रदेश कहते हैं ।

परमाणुओं से बने जिन स्कंधों से औदारिक आदि शरीर का निर्माण होता है, वे ही स्कंध उस शरीर के आरंभक द्रव्य कहलाते हैं ।

स्वतंत्र रूप से रहे परमाणुओं से कोई भी शरीर नहीं बनता है । अनंत परमाणुओं के स्कंध से ही शरीर का निर्माण होता है ।

औदारिक शरीर के आरंभक स्कंधों से वैक्रिय शरीर के आरंभक स्कंध असंख्यात गुणे होते हैं ।

यद्यपि औदारिक और वैक्रिय दोनों के आरंभक स्कंधों में अनंत परमाणु होते हैं, परंतु औदारिक शरीर की अपेक्षा वैक्रिय शरीर के आरंभक स्कंध असंख्यगुणा होते हैं ।

वैक्रिय से आहारक शरीर के प्रारंभक स्कंध असंख्यगुणा होते हैं ।

## तैजस और कार्मण शरीर के प्रदेश

**अनन्तगुणे परे ।।2-40।।**

**सामान्य अर्थ :–** आहारक के बाद के तैजस–कार्मण के प्रदेश अनंतगुणे होते हैं ।

**विवेचन :–** आहारक स्कंधगत परमाणुओं की अनंत संख्या से तैजस के स्कंधगत परमाणुओं की संख्या अनंतगुणा होती है ।

इसी प्रकार तैजस स्कंध के परमाणुओं की अपेक्षा कार्मण शरीर के स्कंधगत परमाणुओं की संख्या अनंतगुणा होती है ।

इस प्रकार पूर्व-पूर्व के शरीर की अपेक्षा उत्तर-उत्तर के शरीर के आरंभक द्रव्य अधिक-अधिक होते हैं, फिर भी आश्चर्य है कि पुद्गल के परिणमन की विचित्रता के कारण वे शरीर सूक्ष्म–सूक्ष्मतर होते जाते हैं ।

**प्रश्न :–** औदारिक और वैक्रिय शरीरगत परमाणु अनंत होने पर उनमें न्यूनाधिकता कैसे ?

**उत्तर :–** अनंत के भी अनंत भेद होते हैं, अतः औदारिक शरीर व वैक्रिय शरीर दोनों में अनंत–अनंत परमाणु होने पर भी दोनों की संख्या में बहुत बड़ा अंतर है । औदारिक शरीर की अपेक्षा वैक्रिय शरीर में रहे परमाणु असंख्यगुणा होते हैं ।

## तैजस और कार्मण शरीर की विशेषताएँ

**अप्रतिघाते ।।2-41।।**

**अनादि–सम्बन्धे च ।।2-42।।**

**सर्वस्य ।।2-43।।**

**सामान्य अर्थ :–** तैजस और कार्मण शरीर प्रतिघात रहित होते हैं । तैजस और कार्मणशरीर जीव के साथ अनादि काल से जुड़े हुए हैं । तैजस और कार्मण शरीर सभी जीवों को होते हैं ।

**विवेचन :–** तैजस और कार्मण शरीर का चौदह राजलोक में कहीं भी प्रतिघात नहीं होता है अर्थात् वे शरीर कहीं भी जा सकते हैं । वज्र जैसी कठिन वस्तु भी उन्हें प्रवेश से रोक नहीं सकती है ।

यद्यपि एक मूर्त वस्तु दूसरी मूर्त वस्तु में प्रतिघात करती है, परंतु यह प्रतिघात स्थूल वस्तुओं में लागू पड़ता है, सूक्ष्म वस्तु में नहीं ।

लोहे में अग्नि की भाँति इन दोनों शरीरों का कहीं भी प्रवेश हो सकता है ।

यद्यपि वैक्रिय और आहारक शरीर भी अप्रतिघाती कहलाते हैं, परंतु उनकी गति सिर्फ त्रसनाड़ी में ही हो सकती है, जबकि तैजस व कार्मण शरीर चौदह राजलोक में कहीं भी जा–आ सकते हैं ।

## काल–मर्यादा

तैजस और कार्मण शरीर आत्मा के साथ अनादिकाल से जुड़े हुए हैं–आत्मा जब मोक्ष में जाती है, तभी इन दोनों शरीरों से मुक्त बनती है ।

विग्रहगति में भी आत्मा के साथ ये दो शरीर जुड़े हुए होते हैं ।

यद्यपि अव्यवहारराशि में औदारिक शरीर भी अनादि काल से है, परंतु मृत्यु के बाद अंतराल गति में औदारिक शरीर का वियोग ही होता है ।

ये दोनों शरीर भी प्रवाह की अपेक्षा अनादि हैं, व्यक्ति की अपेक्षा से नहीं, क्योंकि उनका भी चय-अपचय होता है ।

## स्वामी

तैजस और कार्मण शरीर संसार के सभी जीव धारण करते हैं, औदारिक–वैक्रिय–आहारक शरीर संसारी जीव के साथ कभी होते है, कभी नहीं होते है ।

## एक साथ कितने शरीर ?

**तदादीनि भाज्यानि युगपदेकस्याचतुर्भ्यः ।।2-44।।**

**सामान्य अर्थ :–** तैजस और कार्मण शरीर जिसकी आदि में है वे शरीर एक जीव को एक साथ में कम-से-कम दो और अधिकतम चार हो सकते हैं ।

**विवेचन :–** संसारी जीव को जब कम-से-कम दो शरीर होते हैं तो वे तैजस और कार्मण ही होते हैं । मृत्यु के बाद अंतराल गति में ये दो शरीर अवश्य होते हैं ।

जब तीन शरीर होते हैं तो तैजस–कार्मण और औदारिक शरीर होते हैं अथवा तैजस–कार्मण और वैक्रिय शरीर होते हैं ।

तैजस–कार्मण और औदारिक शरीर मनुष्य व तिर्यंचगति में होते हैं तथा तैजस–कार्मण और वैक्रिय शरीर देव व नारक गति में होते हैं ।

–एक साथ में चार शरीर हों तो तैजस–कार्मण–औदारिक तथा वैक्रिय होते हैं अथवा तैजस–कार्मण–औदारिक और आहारक होते हैं ।

पहला विकल्प (तैजस–कार्मण–औदारिक व वैक्रिय) । वैक्रिय लब्धिधारी मनुष्य व तिर्यंच को होता है ।

दूसरा विकल्प (तैजस–कार्मण–औदारिक व आहारक) आहारक लब्धिधारी मुनि को होता है ।

**प्रश्न :–** आहारक और वैक्रिय शरीर एक साथ में क्यों नहीं होते हैं ?

**उत्तर :–** सिर्फ वैक्रिय लब्धि तो अन्य किसी मुनि के पास भी हो सकती हैं, परंतु वैक्रिय के साथ आहारक लब्धि तो सिर्फ चौदह पूर्वधर महर्षि को ही होती है ।

चौदह पूर्वधर जब वैक्रिय लब्धि का प्रयोग करते हैं, तब वे प्रमत्त दशा में होते हैं, और जब तक वैक्रिय लब्धि का प्रयोग करते हैं, तब तक प्रमत्त दशा में रहते हैं ।

चौदह पूर्वधर जब आहारक लब्धि का प्रयोग करते हैं, प्रमत्त दशा में होते हैं, परंतु आहारक शरीर की रचना के बाद उसका उपभोग करते हैं, तब अप्रमत्त दशा में होते हैं ।

इससे सिद्ध होता है कि चौदहपूर्वी जब वैक्रियलब्धि का उपभोग करते हैं, तब प्रमाद दशा में और आहारकलब्धि का उपभोग करते हैं, तब अप्रमत्त दशा में होते हैं ।

प्रमत्त व अप्रमत्त गुणस्थान एक साथ में नहीं होते हैं । चौदहपूर्वी आहारक शरीर का उपभोग करेंगे, तब वैक्रिय शरीर का उपभोग नहीं कर सकते और वैक्रिय शरीर का उपभोग करते समय आहारक शरीर का उपभोग नहीं कर सकते हैं ।

## कार्मण शरीर

**निरुपभोगमन्त्यम् ।।2-45।।**

**सामान्य अर्थ :–** अंतिम कार्मण शरीर उपभोग रहित है ।

**विवेचन :–** उपभोग अर्थात् शुभाशुभ विषय के संपर्क से होने वाला सुख-दुःख का अनुभव । पूर्व में बताए पांचों शरीरों में अंतिम कार्मण शरीर उपभोग से रहित निरुपभोग है ।

कार्मण शरीर सुख या दुःख, कुछ भी स्वयं अनुभव नहीं करता है । वह स्वयं कर्म का बंध भी नहीं करता, निर्जरा भी नहीं करता और कर्म का वेदन भी नहीं करता ।

जो क्रियाएँ औदारिक आदि अन्य शरीरों में होती है–जैसे सुख, दुःख, वेदना आदि वे क्रियाएँ कार्मण शरीर में नहीं होती है ।

कार्मण शरीर स्वयं ही कर्म रुप है । अतः वह कर्म का बंध नहीं करता है । विग्रह गति में कर्म का बंध है और कर्म की निर्जरा भी है, फिर भी उसमें कार्मण शरीर कारण नहीं है, कारण है–कषाय और योग ।

कार्मण शरीर कर्म का बंध करता, मात्र कार्मण काययोग कर्मबंध का कारण बनता है । क्योंकि विग्रह गति में अन्य योग नहीं होते है ।

## औदारिक शरीर

**गर्भसम्मूर्च्छनजमाद्यम् ।।2-46।।**

**सामान्य अर्थ :–** पहला औदारिक शरीर गर्भ और संमूर्च्छन से उत्पन्न होता है अर्थात् गर्भज और संमूर्च्छिम जीवों को औदारिक शरीर होता है ।

**विवेचन :–** संसारी जीवों का जन्म तीन प्रकार से, गर्भ–संमूर्छिम और उपपात से होता है, उनमें जिन जीवों का जन्म गर्भ और संमूर्छिम से होता है, उन जीवों को औदारिक शरीर होता है ।

गर्भज और संमूर्छिम जीवों को सिर्फ औदारिक शरीर होता है, ऐसा नहीं हैं, उन्हें तैजस–कार्मण–वैक्रिय आदि अन्य शरीर भी होते हैं, परंतु औदारिक शरीर तो गर्भज और संमूर्छिम जीवों को ही होता है ।

## वैक्रिय शरीर

**वैक्रियमौपपातिकम् ।।2-47।।**

**लब्धिप्रत्ययं च ।।2-48।।**

**सामान्य अर्थ :–** वैक्रिय शरीर औपपातिक कहलाता है ।
लब्धि के निमित्त से भी वैक्रिय शरीर होता है ।

**विवेचन :–** देव और नारकों का जन्म उपपात से होता है । उपपात से जन्म लेने वाले जीवों को वैक्रिय शरीर होता है । यह वैक्रिय शरीर भी दो प्रकार का होता है ।

जो जन्म से जीवन पर्यंत होता है, उसे भवधारणीय शरीर कहते हैं तथा जो इच्छा होने पर बनाते हैं, उसे उत्तरवैक्रिय शरीर कहते हैं ।

लब्धि रूप निमित्त से भी वैक्रिय शरीर होता है । गर्भज तिर्यंच पंचेन्द्रिय तथा मनुष्य को तथा वायुकाय के जीवों को लब्धि के कारण भी वैक्रिय शरीर होता है ।

गर्भज तिर्यंच व मनुष्यों को तप साधना आदि से वैक्रिय लब्धि

प्राप्त होती है, उस लब्धि के बल से वे अपना वैक्रिय शरीर बनाते हैं ।

वायुकाय के जीवों का तप से नहीं बल्कि स्वाभाविक वैक्रिय लब्धि प्राप्त होती है ।

## आहारक शरीर

**शुभं विशुद्धमव्याघाति चाहारकं चतुर्दशपूर्वधरस्यैव ।।2-49।।**

**सामान्य अर्थ :–** चौदह पूर्वधर मुनि को ही आहारक शरीर होता है । यह शरीर शुभ, अत्यंत विशुद्ध और अप्रतिघाती होता है ।

**विवेचन :–** आहारक लब्धिधारी चौदह पूर्वधर मुनि को जब किसी विषय में संदेह होता है, अथवा उन्हें तीर्थंकर की ऋद्धि देखने की इच्छा होती है, तब वे मुनि अपनी आहारक लब्धि के बल से एक हाथ प्रमाण का स्फटिक रत्न के समान अत्यंत ही निर्मल आहारक शरीर बनाते हैं ।

वह शरीर शुभ पुद्गलों से बना होने से अत्यंत ही सुंदर होता है और प्रशस्त उद्देश्य से बना होने से निरवद्य होता है । तथा अत्यंत ही सूक्ष्म होने से अप्रतिघाती होता है अर्थात् पर्वत आदि को भी भेदकर आगे चला जाता है ।

महाविदेह आदि क्षेत्रांतर में रहे तीर्थंकर परमात्मा को देखकर या उनसे अपने संदेह का समाधान कर वापस लौट जाता है, यह शरीर अन्तर्मुहूर्त तक ही रहता है ।

## वेद के प्रकार

**नारकसम्मूर्च्छिनो नपुंसकानि ।।2-50।।**

**न देवाः ।।2-51।।**

**सामान्य अर्थ :–** नारक और संमूर्च्छिम जीव नपुंसक ही होते हैं । देव नपुंसक नहीं होते हैं ।

**विवेचन :–** शरीर की विशेषताओं के कारण जीव को पुरुष आदि से संबोधित किया जाता है ।

जीव को पुरुष आदि के रूप में पहिचानने के शरीर के बाह्य

आकार को द्रव्य वेद कहते हैं। जो बाह्य पौद्गलिक आकृति रूप है, वह नाम कर्म के उदय का फल है ।

द्रव्य वेद के तीन भेद हैं–पुंलिंग, स्त्रीलिंग और नपुंसक लिंग ।

भाववेद अर्थात् अभिलाषा विशेष ।

1. जिस चिह्न से पुरुष की पहिचान होती है, वह द्रव्य पुरुष वेद है और स्त्री के भोग की इच्छा होती है, वह भावपुरुष वेद है ।

2. जिस चिह्न से स्त्री की पहिचान होती हैं, उसे द्रव्य स्त्रीवेद कहते हैं तथा स्त्री को पुरुष के भोग की इच्छा होती है, उसे भाव स्त्री वेद कहते हैं ।

3. जिसमें कुछ स्त्री के और कुछ पुरुष के चिह्न होते हैं, उसे द्रव्य नपुंसक वेद कहते हैं तथा जिसे स्त्री–पुरुष दोनों के भोग की इच्छा होती है, उसे भाव नपुंसक वेद कहते हैं ।

भाव वेद का उदय मोहनीय कर्म के उदय से होता है ।

नारक और संमूर्छिम जीवों को नपुंसक वेद (भाववेद) का उदय होता है ।

देवों में नपुंसक वेद नहीं होता है अर्थात् देव स्त्री व पुरुष के रूप में ही होते हैं ।

शेष गर्भज मनुष्य और तिर्यंचों को तीनों वेद होते हैं ।

**काल मान :–**

1. पुरुषवेद का उदय कम समय तक रहता है ।

2. स्त्रीवेद का उदय उससे अधिक समय तक रहता है ।

3. नपुंसक वेद का उदय स्त्री से भी अधिक समय तक रहता है ।

उपमाएँ : 1. पुरुषवेद का उदय घास की अग्नि के समान है, जो जल्दी पैदा होता है और जल्दी शांत होता है ।

2. स्त्रीवेद का उदय सूखे गोबर के कंडे (करीष) की आग के समान होता हैं, जो धीरे-धीरे पैदा होता है, और जल्दी शांत नहीं होता है ।

3. नपुंसक वेद का उदय नगर-दाह के समान है, जो जल्दी पैदा नहीं होता है, परंतु पैदा होने के बाद शीघ्र शांत नहीं होता है ।

## आयुष्य के प्रकार और उनके स्वामी

**औपपातिक–चरमदेहोत्तमपुरुषाऽसंख्येय–वर्षायुषो ऽनपवर्त्यायुषः ।।2-52।।**

**सामान्य अर्थ :–** औपपातिक (देव–नारक) चरम शरीरी, उत्तम पुरुष और असंख्य वर्ष जीवी ये सभी अनपवर्तनीय आयुष्यवाले होते हैं ।

**विवेचन :–** इस संसार में संसारी जीव को अपने किसी भी भव में जीने के लिए आयुष्य कर्म की अपेक्षा रहती है ।

जितना आयुष्य का Balance हो, उतने ही वर्ष तक संसारी जीव जी सकता है, उसमें लेश भी वृद्धि नहीं कर सकता है ।

यह आयुष्य दो प्रकार का होता हैं–

**1. अपवर्तनीय आयुष्य :–** जो आयुष्य बंधकालीन स्थिति के पूर्ण होने के पहले ही किसी शस्त्र, विष आदि के उपघात को पाकर नष्ट हो जाता है, उसे अपवर्तनीय आयुष्य कहते हैं । इसे अकाल मृत्यु भी कहते है ।

**2. अनपवर्तनीय आयुष्य :–** जो आयुष्य किसी शस्त्र आदि का उपघात लगने पर भी अपनी बंधकालीन स्थिति का पूर्ण भोग किए बिना पूर्ण नहीं होता है, उसे अनपवर्तनीय आयुष्य कहते है ।

जैसे 100–200 फुट लंबी डोरी (रस्सी) के एक किनारे को चिनगारी से सुलगा दिया जाय तो वह डोरी धीरे-धीरे जलती है, उस संपूर्ण डोरी को जलने में काफी समय लग जाता है परंतु उसी डोरी को गुच्छा बनाकर जलते अग्नि कुंड में डाल दिया जाय तो वह डोरी तुरंत जलकर भस्म हो जाती है ।

अथवा, साबुन व पानी से धोई हुई धोती को तीन–चार Fold कर सुखाया जाय तो उसे सुखने में काफी देर लगती है और उसी धोती को एकदम खुली कर सुखा दिया जाय तो जल्दी सूख जाती है ।

वैसे ही आयुष्य कर्म के दलिक भी दोनों प्रकार से भोगे जाते हैं ।

आयुष्य पर विष, शस्त्र आदि का उपघात लग जाय तो वह

आयुष्य मर्यादित समय के पहले ही पूरा हो जाता है, जिसे अपवर्तनीय आयुष्य कहते हैं और विष आदि का उपक्रम लगने पर भी जो आयुष्य निश्चित समय से पहले पूरा नहीं होता है, उसे अनपवर्तनीय आयुष्य कहते हैं ।

## आयुष्य बंध के दो प्रकार

1. जो आयुष्य तीव्र परिणाम से गाढ रुप से बँधा हुआ होता है, उसे अनपवर्तनीय आयुष्य कहते हैं । यह आयुष्य भी दो प्रकार का होता है ।

**(i) निरुपक्रम :–** जिस पर किसी प्रकार का उपक्रम नहीं लगता है, उसे निरुपक्रम अनपवर्तनीय आयुष्य कहते हैं ।

**(ii) सोपक्रम :–** जिस पर शस्त्र आदि का उपक्रम लगे, उसे सोपक्रम कहते हैं ।

अनपवर्तनीय आयुष्य सोपक्रम हो या निरुपक्रम, वह आयुष्य, बंध–स्थिति के पहले नष्ट नहीं होता है ।

2. जो आयुष्य मंद परिणाम से शिथिल रूप में बद्ध होता है, वह आयुष्य नियत काल मर्यादा पूर्ण होने के पहले भी नष्ट हो सकता है, उसे अपवर्तनीय आयुष्य कहते हैं ।

निमित्त, आहार, वेदना, पराघात, स्पर्श, श्वासोच्छ्वास और रागादि रूप अध्यवसायों के आघात से जो आयुष्य नियत स्थिति के पहले नष्ट हो जाता है, उसे सोपक्रम अपवर्तनीय आयुष्य कहते हैं ।

## अनपवर्तनीय आयुष्यवाले जीव

1. औपपातिक जन्म पाने वाले देव व नारक ।

2. चरम शरीरी मनुष्य ।

3. उत्तम पुरुष – तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव और प्रतिवासुदेव ।

4. असंख्य वर्ष के आयुष्यवाले युगलिक मनुष्य व तिर्यंच ।

इन सभी के आयुष्य पर किसी प्रकार का उपक्रम लगे या न लगे, इनकी अकालमृत्यु नहीं होती है ।

## पांच भाव (सूत्र 1,2)

**औपशमिक**
**2 भेद (सूत्र 3)**
1) औपशमिक-सम्यक्त्व
2) औपशमिक-चारित्र

**क्षायिक**
**9 भेद (सूत्र 4)**
1) क्षायिक सम्यक्त्व
2) क्षायिक चारित्र
3) केवल ज्ञान
4) केवल दर्शन
5) दान
6) लाभ
7) भोग
8) उपभोग
9) वीर्य

**क्षायोपशमिक**
**18 भेद (सूत्र 5)**
1) मतिज्ञान
2) श्रुतज्ञान
3) अवधिज्ञान
4) मन: पर्यायज्ञान
5) मति अज्ञान
6) श्रुत अज्ञान
7) विभंग ज्ञान
8) चक्षु दर्शन
9) अचक्षु दर्शन
10) अवधिदर्शन
11) दानलब्धि
12) लाभलब्धि
13) भोगलब्धि
14) उपभोगलब्धि
15) वीर्यलब्धि
16) सम्यक्त्व
17) चारित्र
18) सयंमासंयम

**औदयिक**
**21 भेद (सूत्र 6)**
1) नरकगति
2) तिर्यंचगति
3) मनुष्यगति
4) देवगति
5) क्रोध कषाय
6) मान कषाय
7) माया कषाय
8) लोभ कषाय
9) पुरुष लिंगा
10) स्त्री लिंग
11) नपुंसक लिंग
12) मिथ्यादर्शन
13) अज्ञान
14) असंयत
15) असिद्धत्व
16) कृष्णलेश्या
17) नीललेश्या
18) कापोतलेश्या
19) तेजोलेश्या
20) पद्मलेश्या
21) शुक्ललेश्या

**पारिणामिक**
**3 भेद (सूत्र 7)**
1) जीवत्व
2) भव्यत्व
3) अभव्यत्व

### जीव का लक्षण उपयोग (सूत्र 8-9)

**ज्ञानोपयोग**
1) मतिज्ञान
2) श्रुतज्ञान
3) अवधिज्ञान
4) मन:पर्यायज्ञान
5) केवलज्ञान
6) मति-अज्ञान
7) श्रुत अज्ञान
8) विभंगज्ञान

**दर्शनोपयोग**
1) चक्षुदर्शन
2) अचक्षुदर्शन
3) अवधिदर्शन
4) केवल दर्शन

### जीव का भेद (सूत्र 10)

**संसारी (सूत्र 12)**

**स्थावर (सूत्र 13)**
1) पृथ्वीकाय
2) अप्काय
3) वनस्पतिकाय

**त्रस (सूत्र 14)**
1) तेजस्काय
2) वायुकाय
3) द्वीन्द्रिय
4) त्रीन्द्रिय
5) चतुरिन्द्रिय
6) पंचेन्द्रिय

**मुक्त**

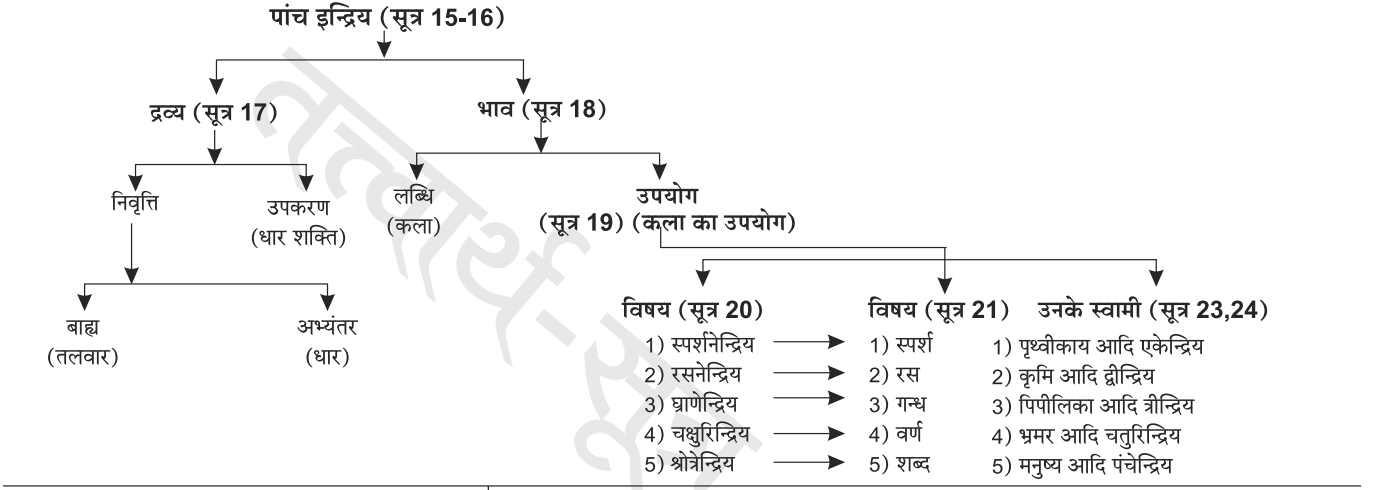
पांच इन्द्रिय (सूत्र 15-16)
द्रव्य (सूत्र 17)
भाव (सूत्र 18)
निवृत्ति
उपकरण
(धार शक्ति)
लब्धि
(कला)
उपयोग
(सूत्र 19) (कला का उपयोग)
बाह्य
(तलवार)
अभ्यंतर
(धार)
विषय (सूत्र 20)
विषय (सूत्र 21)
उनके स्वामी (सूत्र 23,24)
1) स्पर्शनेन्द्रिय
2) रसनेन्द्रिय
3) घ्राणेन्द्रिय
4) चक्षुरिन्द्रिय
5) श्रोत्रेन्द्रिय
1) स्पर्श
2) रस
3) गन्ध
4) वर्ण
5) शब्द
1) पृथ्वीकाय आदि एकेन्द्रिय
2) कृमि आदि द्वीन्द्रिय
3) पिपीलिका आदि त्रीन्द्रिय
4) भ्रमर आदि चतुरिन्द्रिय
5) मनुष्य आदि पंचेन्द्रिय

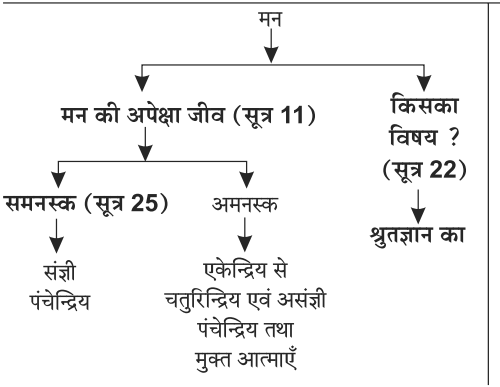
मन
मन की अपेक्षा जीव (सूत्र 11)
किसका विषय ? (सूत्र 22)
समनस्क (सूत्र 25)
अमनस्क
संज्ञी पंचेन्द्रिय
एकेन्द्रिय से चतुरिन्द्रिय एवं असंज्ञी पंचेन्द्रिय तथा मुक्त आत्माएँ
श्रुतज्ञान का

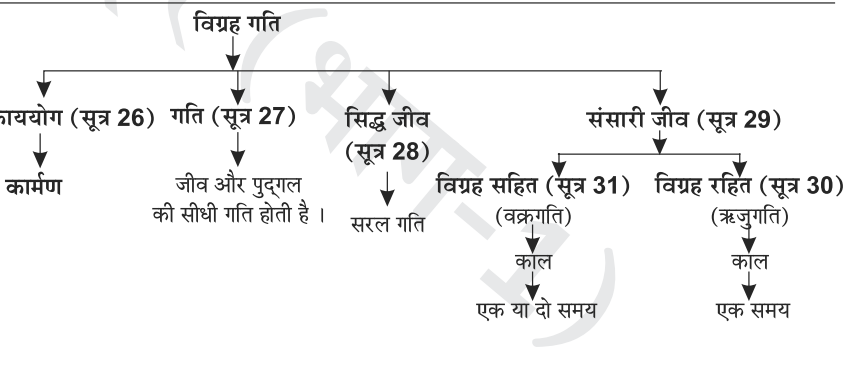
विग्रह गति
कायोग (सूत्र 26)
गति (सूत्र 27)
सिद्ध जीव (सूत्र 28)
संसारी जीव (सूत्र 29)
कार्मण
जीव और पुद्गल की सीधी गति होती है ।
सरल गति
विग्रह सहित (सूत्र 31)
(वक्रगति)
विग्रह रहित (सूत्र 30)
(ऋजुगति)
काल
एक या दो समय
काल
एक समय

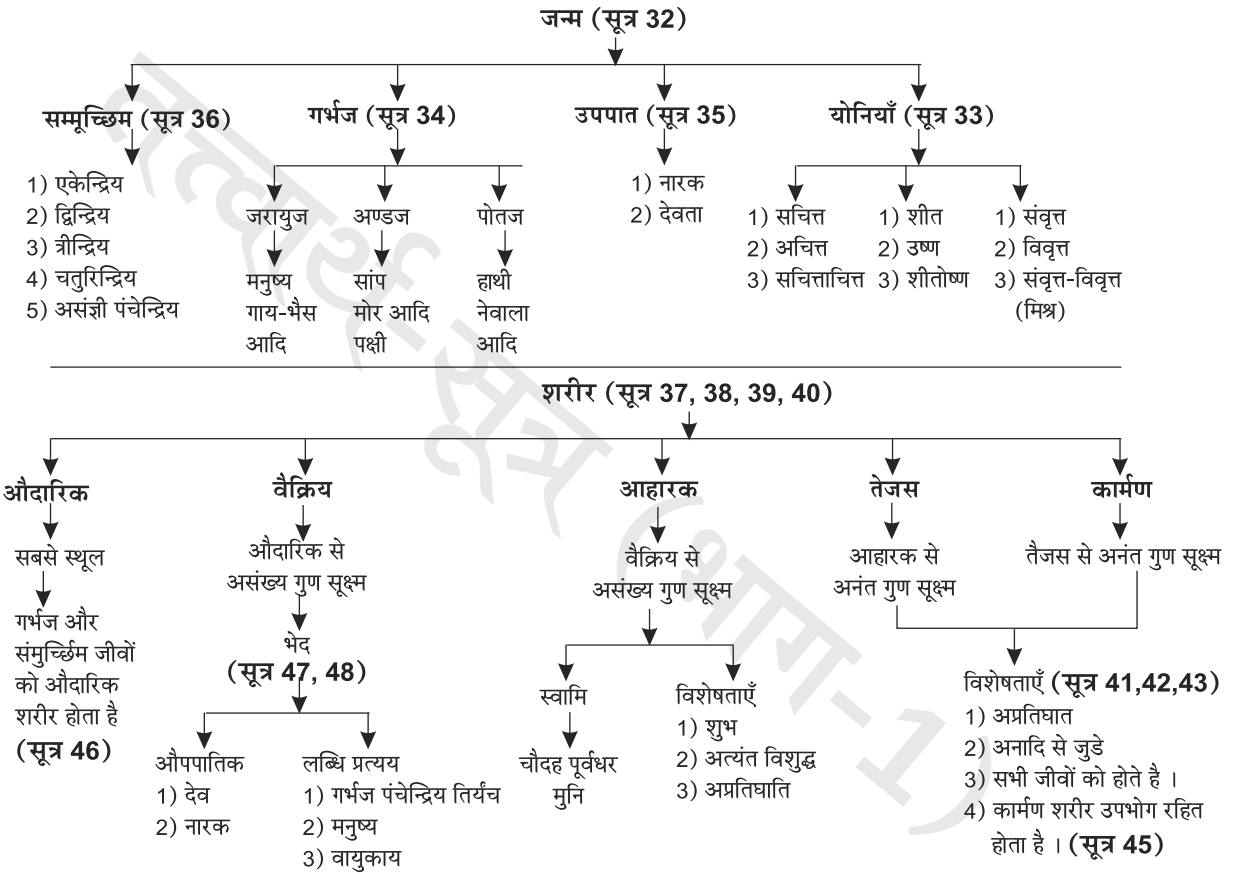
जन्म (सूत्र 32)
सम्मूच्छिम (सूत्र 36)
1) एकेन्द्रिय
2) द्विन्द्रिय
3) त्रीन्द्रिय
4) चतुरिन्द्रिय
5) असंज्ञी पंचेन्द्रिय
गर्भज (सूत्र 34)
जरायुज
मनुष्य
गाय-भैस
आदि
अण्डज
सांप
मोर आदि
पक्षी
पोतज
हाथी
नेवाला
आदि
उपपात (सूत्र 35)
1) नारक
2) देवता
योनियाँ (सूत्र 33)
1) सचित्त
2) अचित्त
3) सचित्ताचित्त
1) शीत
2) उष्ण
3) शीतोष्ण
1) संवृत्त
2) विवृत्त
3) संवृत्त-विवृत्त
(मिश्र)
शरीर (सूत्र 37, 38, 39, 40)
औदारिक
सबसे स्थूल
गर्भज और
संमुर्च्छिम जीवों
को औदारिक
शरीर होता है
(सूत्र 46)
वैक्रिय
औदारिक से
असंख्य गुण सूक्ष्म
भेद
(सूत्र 47, 48)
औपपातिक
1) देव
2) नारक
लब्धि प्रत्यय
1) गर्भज पंचेन्द्रिय तिर्यंच
2) मनुष्य
3) वायुकाय
आहारक
वैक्रिय से
असंख्य गुण सूक्ष्म
स्वामि
चौदह पूर्वधर
मुनि
विशेषताएँ
1) शुभ
2) अत्यंत विशुद्ध
3) अप्रतिघाति
तेजस
आहारक से
अनंत गुण सूक्ष्म
कार्मण
तैजस से अनंत गुण सूक्ष्म
विशेषताएँ (सूत्र 41,42,43)
1) अप्रतिघात
2) अनादि से जुडे
3) सभी जीवों को होते है ।
4) कार्मण शरीर उपभोग रहित
होता है । (सूत्र 45)

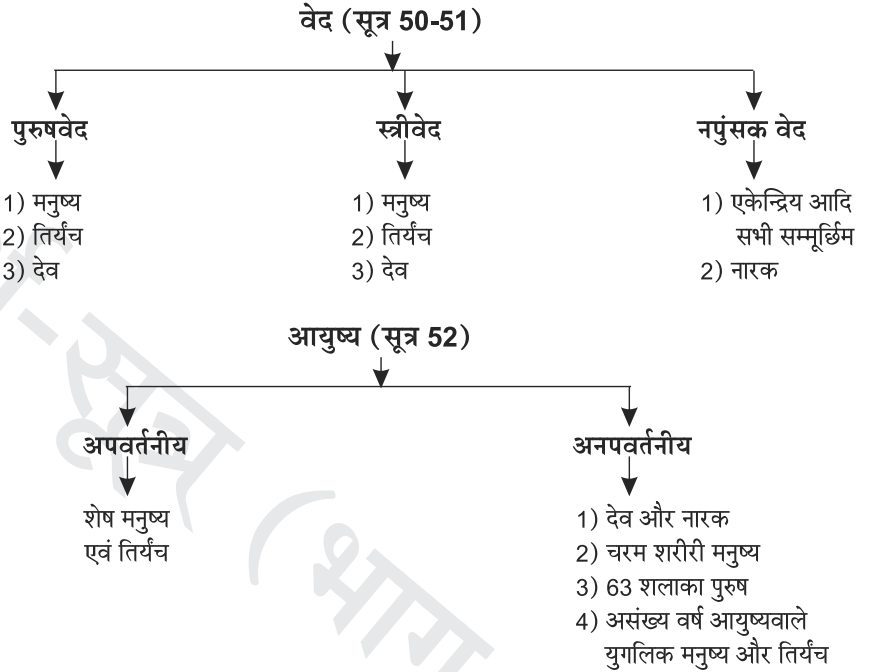
वेद (सूत्र 50-51)
पुरुषवेद
1) मनुष्य
2) तिर्यंच
3) देव
स्त्रीवेद
1) मनुष्य
2) तिर्यंच
3) देव
नपुंसक वेद
1) एकेन्द्रिय आदि सभी सम्मूर्छिम
2) नारक
आयुष्य (सूत्र 52)
अपवर्तनीय
शेष मनुष्य एवं तिर्यंच
अनपवर्तनीय
1) देव और नारक
2) चरम शरीरी मनुष्य
3) 63 शलाका पुरुष
4) असंख्य वर्ष आयुष्यवाले युगलिक मनुष्य और तिर्यंच

# तृतीय अध्याय

दूसरे अध्याय में जीव के भाव, लक्षण, भेद, इन्द्रियाँ, मन, विग्रह गति, जन्म के प्रकार, योनि के भेद, पाँच शरीर, वेद और आयुष्य के प्रकार बताकर सामान्य से जीव तत्त्व का वर्णन किया ।

अब तृतीय अध्याय में गति की अपेक्षा नारक, मनुष्य और तिर्यंच का संक्षेप में वर्णन करते हैं–

## 7 पृथ्वियों के नाम एवं नरकावास का वर्णन

**रत्न-शर्करा-वालुका-पङ्क-धूम-तमो-महातमः प्रभाभूमयो घनाऽम्बु-वाताकाश-प्रतिष्ठाःसप्ताधोऽधःपृथुतराः।।3-1।।**

**तासु नरकाः ।।3-2।।**

**सामान्य अर्थ :–** रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, वालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमःप्रभा और महातमःप्रभा–ये सात नरक की पृथ्वियाँ हैं । ये घनाम्बु, घनवायु और आकाश पर स्थित हैं । ये सभी एक के नीचे एक क्रमशः स्थित हैं और क्रमशः अधिक–अधिक विस्तृत हैं ।

रत्नप्रभा आदि प्रत्येक पृथ्वी में नरकावास है ।

**विवेचन :–** अधोलोक में नरक के जीवों के रहने के लिए 7 पृथ्वियाँ हैं–

**1) रत्नप्रभा–** इस पहली नरक पृथ्वी की एक राजलोक चौड़ाई तथा मोटाई 1,80,000 योजन है । उसमें 1000 योजन ऊपर और 1000 योजन नीचे की जगह छोड़ने पर जो 1,78,000 योजन बचते हैं, उसमें कुल 13 प्रतर आए हुए हैं, प्रत्येक प्रतर में नरकावास हैं । पहली नरक में कुल 30 लाख नरकावास हैं, उनमें नारक जीव पैदा होते हैं ।

असंज्ञी जीव सिर्फ पहली नरक में उत्पन्न हो सकते हैं । पहली नरक में जघन्य आयुष्य 10,000 वर्ष और उत्कृष्ट आयुष्य एक सागरोपम है । रत्नों जैसी प्रभा होने से इस पृथ्वी को रत्नप्रभा कहते हैं ।

***पहली नरक से निकला हुआ जीव तीर्थंकर व चक्रवर्ती बन सकता है । पहली नरक के जीवों को अशुभ कापोत लेश्या होती है ।***

**2) शर्कराप्रभा :–** इस दूसरी नरक पृथ्वी की चौड़ाई 2½ राजलोक तथा मोटाई 1,32,000 योजन है । इस पृथ्वी में कुल 11 प्रतर हैं । इन 11 प्रतरों में कुल 25 लाख नरकावास हैं, जिनमें नरक के जीव उत्पन्न होते हैं । कंकड़ जैसी प्रभा होने से इस पृथ्वी को शर्कराप्रभा कहते हैं ।

भुज परिसर्प जीव पहली व दूसरी नरक तक उत्पन्न हो सकते हैं ।

दूसरी नरक में जघन्य आयुष्य 1 सागरोपम और उत्कृष्ट आयुष्य तीन सागरोपम है ।

***दूसरी नरक से निकला हुआ जीव तीर्थंकर, वासुदेव और प्रतिवासुदेव बन सकता है ।***

दूसरी नरक के जीवों की तीव्र अशुभ कापोत लेश्या होती है ।

**3) वालुकाप्रभा :–** इस तीसरी नरक पृथ्वी की चौड़ाई 4 राजलोक तथा मोटाई 1 लाख 28 हजार योजन है । इस पृथ्वी में 9 प्रतर और 15 लाख नरकावास हैं ।

पहली तीन नरकों में पक्षी मरकर उत्पन्न हो सकते हैं । तीसरी नरक में जघन्य आयुष्य तीन सागरोपम और उत्कृष्ट आयुष्य सात सागरोपम है ।

***तीसरी नरक में से निकला हुआ जीव मनुष्यपने को प्राप्तकर यावत् तीर्थंकर बन सकता है ।***

तीसरी नारक में जीवों को कापोत–नील नामक अशुभ लेश्या होती है । रेती जैसी प्रभा होने से इस पृथ्वी को वालुकाप्रभा कहते हैं ।

**4) पंकप्रभा :–** चौथी नरक पृथ्वी की चौड़ाई 5 राजलोक तथा मोटाई 1 लाख 20 हजार योजन है । इस पृथ्वी में 7 प्रतर और 1 लाख नरकावास हैं जिनमें चौथी नरक के जीव उत्पन्न होते हैं ।

चौथी नरक में जघन्य आयुष्य 7 सागरोपम और उत्कृष्ट आयुष्य 10 सागरोपम है ।

**सिंह एक से चार नरक तक उत्पन्न हो सकता है । चौथी नरक से निकला हुआ जीव सामान्य केवली होकर मोक्ष में जा सकता है ।**

इन नारक जीवों को अशुभ नील लेश्या होती है । कीचड़ जैसी प्रभा होने से इस पृथ्वी को पंकप्रभा कहते हैं ।

**5) धूमप्रभा :–** धूमप्रभा पृथ्वी की चौड़ाई 6 राजलोक तथा मोटाई 1 लाख 18 हजार योजन प्रमाण है । इस पृथ्वी में 5 प्रतर व तीन लाख नरकावास हैं, जहाँ 5 वीं नरक के जीव उत्पन्न होते हैं ।

5वीं नरक में जघन्य आयुष्य 10 सागरोपम व उत्कृष्ट आयुष्य 17 सागरोपम है ।

सर्प व उर परिसर्प आदि 5वीं नरक तक उत्पन्न हो सकते हैं । धुएँ जैसी प्रभा होने से इस पृथ्वी को धूमप्रभा कहते हैं ।

**5वीं नरक से निकला हुआ जीव मनुष्यभव को प्राप्तकर सर्वविरति प्राप्त कर सकता है परंतु केवलज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता है ।**

इन नारक जीवों के नील–कृष्ण अशुभ लेश्या होती है ।

**6) तमः प्रभा :–** इस नरक पृथ्वी की चौड़ाई 6½ राजलोक प्रमाण तथा मोटाई 1 लाख 16 हजार योजन है । छठी नरक के तीन प्रतरों में 99995 नरकावास हैं ।

छठी नरक में जघन्य आयुष्य 17 सागरोपम तथा उत्कृष्ट आयुष्य 22 सागरोपम है ।

छठी नरक के जीवों के अशुभ कृष्ण लेश्या होती है । स्त्रियाँ छठी नरक तक उत्पन्न हो सकती हैं ।

**इस नारक जीवों को तीव्रतम अशुभ कृष्ण लेश्या होती है । छठी नरक से निकला हुआ देशविरति प्राप्त कर सकता है, किंतु सर्वविरति आदि की भूमिका को नहीं ।**

अंधकार की प्रभा होने से इसे तमः प्रभा कहते हैं ।

**7) महातमः प्रभा :–** इस नरक पृथ्वी की चौड़ाई 7 राजलोक प्रमाण तथा मोटाई 1 लाख 8 हजार योजन है । 7 वीं नरक में 1 प्रतर और 5 नरकावास हैं ।

सातवीं नरक में जघन्य आयुष्य 22 सागरोपम और उत्कृष्ट आयुष्य 33 सागरोपम है ।

7वीं नरक में रहे जीवों को अतितीव्र कृष्णलेश्या होती है । सातवीं नरक से निकला हुआ जीव सम्यग्दर्शन पा सकता है । गाढ़ अंधकार की प्रभा होने से इस पृथ्वी को महातमः प्रभा कहते हैं ।

तंदुलिक मत्स्य व मनुष्य आदि मरकर पहली से 7 वीं नरक में उत्पन्न हो सकते हैं ।

ये सभी 7 पृथ्वियाँ घनांबु, घनवात, तनुवात और आकाश के आधार पर रही हुई हैं । घनांबु अर्थात् घन पानी और घनवात अर्थात् घन वायु, तनुवात अर्थात् पतला वायु !

सबसे नीचे आकाश है, आकाश के आधार पर तनुवात है, तनुवात के आधार पर घनवात है, घनवात के आधार पर घनाम्बुवात है, उसके ऊपर महातमःप्रभा पृथ्वी है । उसके बाद इसी क्रम से आकाश, तनुवात, घनवात और घनोदधि (घनांबु) रहा हुआ है और उसके ऊपर छठी नरक पृथ्वी रही हुई है । इसी क्रम से पहली नरक–पृथ्वी तक समझ लेना चाहिए ।

सात नरकों में कुल 84 लाख नरकावास हैं ।

नरकावास तीन प्रकार के होते हैं–1. इन्द्रक, 2. पंक्तिगत और 3. पुष्पावकीर्ण । एकदम मध्य में आए नरकावासों को इन्द्रक कहते हैं ।

दिशा–विदिशा में पंक्तिबद्ध नरकावासों को पंक्तिगत कहते हैं ।

बिखरे हुए फूलों की भाँति इधर-उधर रहे नरकावासों को पुष्पावकीर्ण कहते हैं ।

इन्द्रक नरकावास गोल होते हैं । पंक्तिगत नरकावास त्रिकोण–चतुष्कोण आदि होते हैं ।

पुष्पावकीर्ण नरकावास भिन्न–भिन्न प्रकार के अशुभ आकारवाले होते हैं ।

सभी नरकावासों की ऊँचाई तीन हजार योजन होती है ।

कुछ नरकावास संख्यात योजन लंबे–चौड़े और कुछ असंख्यात योजन लंबे–चौड़े होते हैं ।

पहले नरक में पहला सीमंतक नरकावास 45 लाख योजन लंबा– चौड़ा है तथा 7 वीं नरक में रहा अप्रतिष्ठान–इंद्रक नरकावास 1 लाख योजन लंबाचौड़ा है ।

**7 नरकों की पृथ्वी का माप, प्रतर, नरकावास, उत्कृष्ट आयुष्य आदि**

| पृथ्वी | मोटाई | चौड़ाई | प्रतर | नरकावास | प्रधानता | उत्कृष्ट आयुष्य | शरीरकी उँचाई |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| रत्नप्रभा | 180000 योजन | 1 राज | 13 | 30 लाख | रत्न | 1 सागरोपम | 7¾ धनु 6 अं |
| शर्कराप्रभा | 132000 योजन | 2.5राज | 11 | 25 लाख | कंकर | 3 सागरोपम | 15½ धनु 12अं |
| वालुकाप्रभा | 128000 योजन | 4 राज | 9 | 15 लाख | रेती | 7 सागरोपम | 31¼ धनुष |
| पंकप्रभा | 120000 योजन | 5 राज | 7 | 10 लाख | कीचड़ | 10 सागरोपम | 62 ½ धनुष |
| धूमप्रभा | 118000 योजन | 6 राज | 5 | 3 लाख | धुआँ | 17 सागरोपम | 125 धनुष |
| तम:प्रभा | 116000 योजन | 6.5राज | 3 | 99,995 | अंधकार | 22 सागरोपम | 250 धनुष |
| महातम:प्रभा | 108000 योजन | 7 राज | 1 | 5 | अत्यंत अंधकार | 33 सागरोपम | 500 धनुष |

• चौडाई में राज=राजलोक । शरीर की ऊँचाई में अं=अंगुल ।

## नरक में लेश्यादि की अशुभता

**नित्याशुभतरलेश्या–परिणाम–देह–वेदना–विक्रियाः ।।3-3।।**

**सामान्य अर्थ :–** नरक के जीव हमेशा ही अशुभतर लेश्या, अशुभतर परिणाम, अशुभतर देह, अशुभतर वेदना और अशुभतर विक्रिया वाले होते हैं ।

**विवेचन :–** नरक में रहे नारकों में हमेशा लेश्या, परिणाम, देह, वेदना और विक्रिया अत्यंत ही अशुभ होते हैं । इसलिए सूत्र में इन्हें अशुभतर बताया है ।

**(1) अशुभ लेश्या –** नरक के जीवों को कृष्णलेश्या, नीललेश्या

## सात नरक एवं मनुष्य लोक

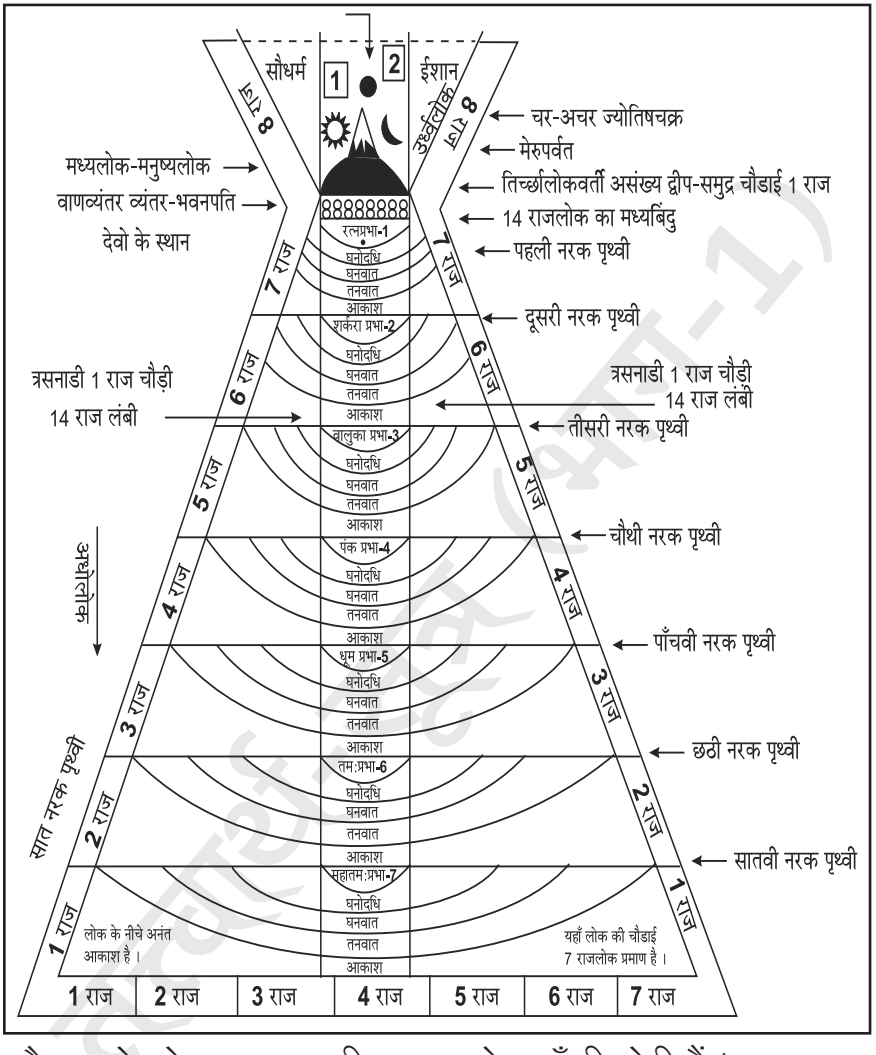


और कापोतलेश्या स्वरूप तीन अशुभलेश्याएँ ही होती हैं ।

रत्नप्रभा और शर्कराप्रभा में सभी नारकों को कापोत लेश्या होती है ।

वालुका प्रभा में 3 सागरोपम के आयुष्य तक के जीव जो ऊपर के प्रतरों तक रहे हैं, उन्हें कापोत लेश्या होती है एवं उनसे अधिक आयुष्य वाले जीव जो नीचे के प्रतरों में रहे है, उन्हें नील लेश्या होती है ।

चौथी पंकप्रभा में सभी जीवों को नील लेश्या होती है ।

पाँचवीं धूमप्रभा में 10 सागरोपम के आयुष्य तक के ऊपर के प्रतरों में रहे जीवों को नील लेश्या एवं उनसे अधिक आयुष्य वाले नीचे के प्रतरों में रहे जीवों को कृष्ण लेश्या होती है ।

छठी तमःप्रभा और सातवीं महातमः प्रभा के सभी नारकों को कृष्ण लेश्या होती है ।

यहाँ जो लेश्या का निर्देश किया है, वह द्रव्य लेश्या की अपेक्षा से किया है, बाकी भावलेश्या तो सभी नरकों में छह होती है क्योंकि जिन जीवों को सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है उनकी अशुभ भावलेश्या भी शुभ भावलेश्या में बदल जाती है ।

**(2) अशुभ–परिणाम :–** नरक में पुद्गलों का परिणमन अत्यंत अशुभ होता है ।

**i) बंधन :–** शरीर के साथ संबंध में आनेवाले पुद्गल अत्यंत अशुभ होते हैं ।

**ii) गति :–** नरक के जीवों को अप्रशस्त विहायोगति नामकर्म का उदय होने से उनकी चाल ऊँट आदि की तरह अप्रशस्त होती है ।

**iii) संस्थान :–** नारक जीवों की आकृति तथा भूमि की रचना अत्यंत उद्वेगकारक होती है ।

**iv) भेद :–** शरीर में से निकलने वाले पुद्गल अत्यंत अशुभ होते हैं ।

**v) वर्ण :–** सर्वत्र अंधकार छाया रहता है, तल भाग भी श्लेष्म आदि की तरह अत्यंत ही अशुचि पदार्थों से लिप्त होता है ।

**vi) गंध :–** नरक की भूमि में सर्वत्र मल–मूत्र–मांस आदि जैसी तीव्र दुर्गंध होती है ।

**vii) रस :–** नरक के पदार्थों का रस नीम से भी अधिक कड़वा होता है ।

**viii) स्पर्श :–** नरक के पदार्थों का स्पर्श अत्यंत उष्ण और बिच्छु के डंक से भी अधिक पीड़ाकारक होता है ।

**ix) अगुरुलघु :–** शरीर का अगुरुलघु परिणाम भी अनिष्टदायी होता है ।

**x) शब्द :–** `बचाओ ! बचाओ !' आदि करुण शब्द सर्वत्र सुनाई देते हैं ।

**(3) अशुभ देह :–** वैक्रिय वर्गणा के पुद्‌गलों से बना हुआ होने पर भी नरक के जीवों का शरीर देवताओं की तरह सुंदर नहीं होता है, बल्कि अत्यंत ही खराब होता है । नरक के जीवों का हुंडक संस्थान होता है । उनके शरीर का वर्ण अतिशय श्याम व भय उत्पन्न करने वाला होता है ।

**(4) अशुभ-वेदना :–** नरक के जीवों को निरंतर क्षेत्र संबंधी, परस्पर जनित एवं परमाधामी जनित वेदना होती है । इनमें से परस्पर जनित और परमाधामी जनित वेदना का वर्णन आगे सूत्रों में होगा । यहाँ क्षेत्र संबंधित वेदना बताते हैं–

**(i) क्षेत्रकृत वेदना :-** 7 नरकावासों में ज्यों ज्यों नीचे जाते हैं त्यों-त्यों चारों ओर अत्यंत ही गाढ़ अंधकार होता जाता है । श्लेष्म, मल-मूत्र, खून, मांस, चर्बी आदि जैसे स्वाभाविक अशुभ पृथ्वी के परिणामों से नरकावास की भूमि व्याप्त होती है । श्मशान की भूमि में रहे हड्डी, मांस, दाँत, चमड़े आदि के ढेर की तरह सर्वत्र भयंकर दुर्गंध रही होती है । वास्तव में नरक में हड्डी, मांस आदि अशुभ पदार्थों के ढेर तो नहीं होते हैं, परंतु उस पृथ्वी पर रही अशुचि व दुर्गंधपूर्ण वातावरण को समझाने के लिए ये उपमाएँ दी गई हैं । अर्थात् उन पृथ्वियों पर स्वाभाविक ही इस तरह का वातावरण होता है ।

मरे हुए कुत्ते, सियाल, साँप, नेवले, चुंहे, हाथी, घोड़े व मनुष्य के मुर्दों जैसी सर्वत्र दुर्गंध फैली होती है । भयंकर वेदना के कारण नरक के जीव सतत चिल्लाते रहते हैं...भयंकर करुण विलाप करते हैं...करुण चीत्कार करते हैं ।

नरक के जीवों के शरीर, शरीर के अवयव, आकार, रूप, रस, गंध, स्वाद आदि अत्यंत खराब होते हैं। उन्हें देखते ही घृणा पैदा होती है। उनकी शरीर-रचना अत्यंत दयनीय होती है। उनके शरीर के सभी अवयव बेडौल होते हैं।

**ii) उष्ण वेदना :-** ज्येष्ठ मास के गर्मी के दिनों में रेगिस्तान की मरुभूमि में चारों ओर लू (गर्म हवा) चल रही हो, आकाश में एक भी बादल न हो, मध्याह्न का सूर्य आग बरसा रहा हो, चारों ओर अग्नि प्रज्वलित हो, ऐसी स्थिति में पित्त प्रकृतिवाले मनुष्य को जो उष्णवेदना होती है, उससे अनंतगुणी वेदना नरक में होती है।

ऐसे नारक जीव को नरक भूमि में से उठाकर टाटा की सुलगती हुई भट्टी के पास भयंकर गर्मी के दिनों में लाकर सुला दिया जाय तो भी उसे गाढ़ निद्रा आ जाती है।

इससे अनुमान कर सकते हैं कि नरक में कितनी ज्यादा उष्ण वेदना होती होगी।

**iii) शीत वेदना :-** पौष मास की ठंडी के दिनों में हिमालय पर्वत पर, जहाँ चारों ओर बर्फ गिर रही हो, तीव्रगति से ठंडी हवा चल रही हो, ऐसे ठंडे वातावरण में हाथ-पैर काँपते हुए...ठंडी से जिसका पूरा शरीर काँप रहा हो, ऐसे कमजोर मनुष्य को खुले बदन रखा जाय और उसे जिस शीत-वेदना का अनुभव होता है, उससे अनंतगुणी शीतवेदना नरक में होती है।

नरक में शीत वेदना सहन कर रहे नारक जीव को नरक में से उठाकर पौष मास में बर्फ गिरते हुए हिमालय पर्वत पर खुले शरीर सुला दिया जाय तो उसे तत्काल नींद आ सकती है, इससे हम अनुमान कर सकते हैं कि नरक में कितनी भयंकर शीत वेदना होती होगी !

पहली, दूसरी व तीसरी नरक में अत्यंत उष्ण वेदना होती है।

चौथी नरक में अधिकांश नारकों को उष्ण वेदना व कुछ को शीत वेदना होती है।

पाँचवी नरक में अधिकांश नारकों को शीत वेदना तथा कुछ को उष्ण वेदना होती है ।

छठी-सातवीं नरक में सिर्फ शीत वेदना होती है ।

**iv) क्षुधावेदना :-** जगत् में रहे समस्त अनाज का भक्षण कर दे, घी-दूध आदि का पान कर दे तो भी क्षुधा शांत न हो, इससे भी अधिक क्षुधा नरक के जीवों को होती है ।

**v) तृषा वेदना :-** जगत् के सभी समुद्रों को पी जाय तो भी तृषा शांत न हो...उससे भी अधिक तृषा नरक के जीवों को होती है ।

**vi) खुजली की पीड़ा :-** छुरी आदि से खुजलाने पर भी शांत न हो ऐसी खुजली की पीड़ा नरक के जीवों को सतत रहती है ।

**vii) ज्वर :-** मनुष्य को होनेवाले ज्वर से अनंतगुणा ज्वर उन्हें जीवनपर्यंत रहता है ।

**viii) पराधीनता :-** नरक के जीवों को सतत परमाधामी आदि के अधीन रहना पड़ता है ।

**ix) दाह :-** नरक के जीवों के शरीर में भयंकर दाह सदैव रहता है ।

**x) भय :-** अवधिज्ञान या विभंगज्ञान द्वारा आगामी दुःख को देखने के कारण नरक के जीव सतत भयभीत रहते हैं ।

**xi) शोक :-** दुःख, भय आदि के कारण सतत शोकातुर रहते हैं ।

**(5) अशुभ विक्रिया :–** अशुभ नामकर्म का उदय होने से नरक के जीव जो उत्तर वैक्रिय शरीर बनाते हैं, वह अशुभ ही बनता है । प्रत्येक नरक में उत्तर वैक्रिय शरीर भवधारीय शरीर की ऊँचाई से दो गुणा है ।

यहाँ सूत्र में लेश्या आदि अशुभतर बताई गई हैं । इसका अर्थ है कि नीचे–नीचे की नरकों में लेश्या आदि अधिक–अधिक अशुभ होती है । तथा ये सभी लेश्या, वेदना आदि हमेशा अशुभतर होती हैं, जिसे बताने सूत्र में `नित्य' शब्द का प्रयोग किया है ।

## परस्पर-जनित पीड़ा

**परस्परोदीरितदुःखाः ।।3-4।।**

**सामान्य अर्थ :–** नरक के जीवों को परस्परजनित दुःख होता है ।

**विवेचन :–** जिस प्रकार एक मोहल्ले में रहने वाला कुत्ता दूसरे मोहल्ले में चला जाय तो उस मोहल्ले में रहे हुए सभी कुत्ते उस पर एक साथ टूट पड़ते हैं और उसे घायल कर देते हैं, बस, इसी प्रकार नारक जीव भी क्रोधाग्नि से परस्पर लड़ते रहते हैं । वे वैक्रिय रूप करके क्षेत्रप्रभाव से उत्पन्न, पृथ्वीकंप अथवा वैक्रिय भाले, तलवार, बाण तथा हाथ-पैर आदि से परस्पर प्रहार करते रहते हैं । शरीर का छेदन-भेदन होने पर तड़पते रहते हैं ।

हाँ, परस्पर पीड़ा देने का काम मिथ्यादृष्टि नारक जीव ही करते हैं । नरक में जो सम्यग्दृष्टि नारक जीव होते हैं, वे तो अपने अशुभ कर्म का उदय समझ कर दूसरों के द्वारा दी गई पीड़ा को समतापूर्वक सहन करते हैं और कर्मों का क्षय करते हैं, वे नए कर्म नहीं बाँधते हैं, जबकि जो मिथ्यादृष्टि नारक होते हैं वे अपने विभंगज्ञान द्वारा अपने पूर्वभव के वैरियों को पहिचान कर उन्हें कष्ट देते रहते हैं, स्वयं कष्ट सहते हैं और नवीन कर्मों का बंध करते रहते हैं ।

## परमाधार्मिक-कृत पीड़ा

**संक्लिष्टाऽसुरोदीरितदुःखाश्च प्राक्चतुर्थ्याः ।।3-5।।**

**सामान्य अर्थ :–** तीसरी नरक तक के नारकों को संक्लिष्ट असुर (परमाधार्मिक देवता) जनित दुःख होता है ।

**विवेचन :–** भवनपति निकाय में 15 परमाधार्मिक देव हैं । ये देव अत्यंत अधर्मी होने से परमाधार्मिक कहलाते हैं । ये अत्यंत पापी और निर्दय होते हैं । पूर्व भव में पंचाग्नि तप आदि के प्रभाव से इन्हें देवलोक की प्राप्ति हुई होती है । ये देवता पहली तीन नरक के नारकों को भयंकर कष्ट देते हैं, कष्ट देने में ही इन्हें अत्यंत आनंद आता है ।

**परमाधार्मिक देवता भव्य जीव होते हैं । वे मरकर अंडगोलिक नामक जलमनुष्य बनते हैं । उनके अंडगोलों को लेने के लिए उन्हें पकड़ा जाता है और वज्र की घंटी में छह मास तक पीला जाता है । भयंकर वेदना सहनकर, मरकर नरक में जाते हैं और वहाँ नरक की पीड़ा सहन करते हैं ।**

**1) अंब :–** ये परमाधामी क्रीड़ा द्वारा विविध प्रकार के भय पैदा कर नरक के जीवों को डराते हैं । नारकों को आकाश में उछालते हैं और नीचे गिरते समय वज्रमय भालों से बींधते हैं और मुद्गर से तीव्र प्रहार करते हैं ।

**2) अंबर्षि :–** ये परमाधामी मूर्च्छित बने नारक जीवों के शरीर के अंगों को काटते हैं और शाक की तरह पकाते हैं ।

**3) श्याम :–** ये परमाधामी नारक जीवों के अंगों को छेदकर बॉल की तरह उछालते हैं, चाबुक से प्रहार करते हैं और पैरों से रौंदते हैं ।

**4) शबल :–** ये परमाधामी नारक जीवों के पेट आदि को चीरकर उनकी आँखें आदि बाहर निकालकर उन्हें बताते हैं ।

**5) रुद्र :–** ये परमाधामी दौड़ते हुए आते हैं, तलवार चलाते हैं, त्रिशूल, वज्र आदि से बींधते हैं और आग में डालते हैं ।

**6) उपरुद्र :–** ये परमाधामी नारक जीवों के शरीर के टुकड़े–टुकड़े करके अत्यंत वेदना उत्पन्न करते हैं ।

**7) काल :–** ये परमाधामी नरक के जीवों को मछलियों की तरह पकाते हैं ।

**8) महाकाल :–** ये परमाधामी नारक जीवों के शरीर के मांस को काटकर उन्हीं को खिलाते हैं ।

**9) असि :-** ये परमाधामी तलवार आदि शस्त्रों द्वारा नरक जीवों के हाथ, पैर, मस्तक आदि अंगों को काटकर छिन्न-भिन्न कर देते हैं ।

**10) पत्रधनु :–** ये परमाधामी असिपत्र वन की रचना करते हैं । छाया के अभिलाषी नारक जीव वहाँ जाते हैं । उस समय ये परमाधामी पवन फूँकते हैं । उस समय वृक्ष पर से पत्ते नीचे गिरते हैं और नारक जीवों के हाथ–पैर आदि को काटते हैं, उनमें से खून बहता है ।

**11) कुंभ :–** ये परमाधामी नारक जीवों को कुंभ आदि में उबलते हुए तेल में भजीए की तरह पकाते हैं ।

**12) वालुका :–** ये परमाधामी नारक जीवों को भट्टी की रेती से अनंत–गुणी तपी हुई कदंबवालुका नाम की पृथ्वी में चने की तरह भूंजते हैं ।

**13) वैतरणी :–** ये परमाधामी वैतरणी नदी की रचना करते हैं, जिसमें उबलते लाक्षारस का तेज प्रवाह बहता है, उसमें चर्बी, खून, हड्डी आदि बहते हैं । इस नदी में उन नारकों को चलाया जाता है और अत्यंत तपी हुई लोहे की नाव में उन नारकों को बिठाते हैं ।

**14) खरस्वर :–** ये परमाधामी कठोर शब्दों से चिल्लाते हुए आते हैं और नारकों के पास परस्पर चमड़ी उतरवाते हैं और स्वयं नारकों के शरीर को करवत से चीरते हैं । तीक्ष्ण काँटों से भरपूर शाल्मली वृक्षों के ऊपर नारकों को चढ़ाते हैं ।

**15) महाघोष :–** ये परमाधामी गगनभेदी आवाज से नारकों को डराते हैं । भय से भागते हुए नारकों को पकड़कर वधस्थान में उन्हें अनेक प्रकार की पीड़ा पहुँचाते हैं । ये परमाधामी नारक जीवों को छेदन–भेदन करके, आग में जलाकर, शिलाओं पर पछाड़कर कष्ट देते हैं, फिर भी वे मरते नहीं हैं, उनके अंगोपांग पुनः जुड़ जाते हैं । मौत को चाहते हुए भी निकाचित आयुष्य का उदय होने के कारण वे प्रहार आदि से मरते नहीं हैं, आयुष्य पूरा होने पर ही उनकी मौत होती है ।

## नरक आयुष्य का बंध

किसी भी जाति के देवता या नरक के जीव मरकर नरक में नहीं जाते हैं अर्थात् वे आगामी भव के नरक आयुष्य का बंध नहीं करते हैं ।

मिथ्यादृष्टि, महारंभी, महापरिग्रही, मांसाहारी, पंचेन्द्रिय प्राणियों का वध करनेवाले, तीव्रक्रोधी, रौद्र परिणामी जीव नरक-आयुष्य का बंध करते हैं।

## संघयण और नरक

1) वज्रऋषभ नाराच संघयणवाला सातों नरक में जा सकता है।

2) ऋषभ नाराचवाला छह नरक तक जा सकता है।

3) नाराच संघयण वाला पाँच नरक तक जा सकता है।

4) अर्ध नाराच संघयण वाला चौथी नरक तक जा सकता है।

5) कीलिका संघयण वाला तीसरी नरक तक जा सकता है।

6) सेवार्त संघयण वाला दूसरी नरक तक जा सकता है।

## नारकों का उत्कृष्ट आयुष्य

**तेष्वेक-त्रि-सप्त-दश-सप्तदश-द्वाविंशति-त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाः सत्त्वानां परा स्थितिः ।।3-6।।**

**सामान्य अर्थ :–** रत्नप्रभा आदि सात नरकों में उत्कृष्ट आयुष्य स्थिति क्रमशः एक, तीन, सात, दश, सत्रह, बाईस और तैंतीस सागरोपम है।

**विवेचन :–** नारकों की उत्कृष्ट आयुष्य स्थिति बताते हैं–पहली रत्नप्रभा नरक में एक सागरोपम, दूसरी शर्कराप्रभा नरक में तीन सागरोपम, तीसरी वालुकाप्रभा नरक में सात सागरोपम, चौथी पंकप्रभा नरक में दश सागरोपम, पाँचवी धूमप्रभा नरक में सत्रह सागरोपम, छठी तमःप्रभा नरक में बाईस सागरोपम और सातवीं महातमःप्रभा नरक में तैंतीस सागरोपम की उत्कृष्ट आयुष्य स्थिति है।

अधोलोक में रही सात नरकों का वर्णन कर अब मनुष्यलोक का वर्णन करते हैं।

## मध्य लोक में द्वीप–समुद्र

**जम्बूद्वीप-लवणादयः शुभनामानो द्वीपसमुद्राः ।।3-7।।**
**द्विर्द्विर्विष्कम्भाः पूर्व-पूर्वपरिक्षेपिणो वलयाकृतयः ।।3-8।।**
**तन्मध्ये मेरुनाभिर्वृत्तो योजनशतसहस्रविष्कम्भो जम्बूद्वीपः।।3-9।।**

**सामान्य अर्थ :–** मध्यलोक में जम्बूद्वीप और लवण समुद्र आदि शुभ नामों के असंख्य द्वीप और समुद्र हैं ।

वे सभी पूर्व–पूर्व की अपेक्षा दो गुणा विस्तार वाले और चूड़ी के समान गोलाकार हैं ।

उन सभी के बीच में एक लाख योजन व्यासवाला थाली के आकार का जम्बूद्वीप है, जिसके मध्य में मेरु पर्वत है ।

**विवेचन :–** चौदह राजलोक रूप विराट् विश्व के मध्य में मेरु पर्वत की तलहटी से अर्थात् समभूतला पृथ्वी से 900 योजन ऊपर और 900 योजन नीचे का प्रदेश मध्यलोक कहलाता है ।

गोलाकार मध्यलोक का विस्तार एक राजलोक प्रमाण है । इस मध्यलोक में असंख्य द्वीप और समुद्र आए हुए हैं । जगत् में जितने भी शुभ नाम हैं उन सभी नामों के अनेक द्वीप समुद्र हैं ।

सबके बीच में थाली आकार का गोलाकार जंबूद्वीप आया हुआ है, जो 1 लाख योजन लंबा–चौड़ा है । उस जंबूद्वीप के चारों ओर वर्तुलाकार में दो लाख योजन के व्यासवाला लवणसमुद्र है...लवण समुद्र के चारों ओर चार लाख योजन के व्यासवाला धातकी खंड है, धातकी खंड के चारों ओर आठ लाख योजन व्यासवाला कालोदधि समुद्र है, उस समुद्र के चारों ओर 16 लाख के विस्तार वाला पुष्कर द्वीप हैं–

पुष्कर द्वीप के चारों ओर समुद्र है...एक द्वीप–एक–समुद्र इस क्रम से मध्यलोक में असंख्य द्वीप और असंख्य समुद्र आए हुए हैं ।

एक द्वीप के बाद जो समुद्र और उस समुद्र के बाद जो द्वीप आता है, वे व्यास में दुगुने–दुगुने होते जाते हैं ।

## द्वीप–समुद्रों का प्रमाण

| क्रम | द्वीप का नाम | द्वीप विस्तार (प्रमाणांगुल के माप से) |
|---|---|---|
| 1. | जंबू द्वीप | 1 लाख योजन |
| 2. | लवण समुद्र | 2 लाख योजन |
| 3. | धातकीखंड | 4 लाख योजन |
| 4 | कालोदधि समुद्र | 8 लाख योजन |
| 5. | पुष्करवर द्वीप | 16 लाख योजन |
| 6. | पुष्करवर समुद्र | 32 लाख योजन |
| 7. | वारुणीवर द्वीप | 64 लाख योजन |
| 8. | वारुणीवर समुद्र | 128 लाख योजन |
| 9. | क्षीरवर द्वीप | 256 लाख योजन |
| 10. | क्षीरवर समुद्र | 512 लाख योजन |
| 11. | घृतवर द्वीप | 1,024 लाख योजन |
| 12. | घृतवर समुद्र | 2,048 लाख योजन |
| 13. | ईक्षुवर द्वीप | 4,096 लाख योजन |
| 14. | ईक्षुवर समुद्र | 8,192 लाख योजन |
| 15. | नंदीश्वर द्वीप | 16,384 लाख योजन |
| 16. | नंदीश्वर समुद्र | 32,768 लाख योजन |
| 17. | अरुण द्वीप | 65,536 लाख योजन |
| 18. | अरुण समुद्र | 1,31,072 लाख योजन |
| 19. | अरुणवर द्वीप | 2,62,144 लाख योजन |
| 20. | अरुणवर समुद्र | 5,24,288 लाख योजन |

| | | |
|---|---|---|
| 21. | अरुणवरावभास द्वीप | 10,48,576 लाख योजन |
| 22. | अरुणवरावभास समुद्र | 20,97,152 लाख योजन |
| 23. | अरुणोपपात द्वीप | 41,94,304 लाख योजन |
| 24. | अरुणोपपात समुद्र | 83,88,608 लाख योजन |
| 25. | अरुणोपपातवर द्वीप | 1,67,77,216 लाख योजन |
| 26. | अरुणोपपातवर समुद्र | 3,35,54,432 लाख योजन |
| 27. | अरुणोपपातवरावभास द्वीप | 6,71,08,864 लाख योजन |
| 28. | अरुणोपपातवरावभास समुद्र | 13,42,17,728 लाख योजन |
| 29. | कुंडल द्वीप | 26,84,35,456 लाख योजन |
| 30. | कुंडल समुद्र | 53,68,70,912 लाख योजन |
| 31. | कुंडलवर द्वीप | 1,07,37,41,824 लाख योजन |
| 32. | कुंडलवर समुद्र | 2,14,74,83,648 लाख योजन |
| 33. | कुंडलवरावभास द्वीप | 4,29,49,67,296 लाख योजन |
| 34. | कुंडलवरावभास समुद्र | 8,58,99,34,492 लाख योजन |
| 35. | शंख द्वीप | 17,17,98,69,184 लाख योजन |
| 36. | शंख समुद्र | 34,35,97,38,368 लाख योजन |
| 37. | शंखवर द्वीप | 68,71,94,76,736 लाख योजन |
| 38. | शंखवर समुद्र | 1,37,43,89,53,472 लाख योजन |
| 39. | शंखवरावभास द्वीप | 2,74,87,79,06,944 लाख योजन |
| 40. | शंखवरावभास समुद्र | 5,54,97,55,81,388 लाख योजन |
| 41. | रुचक द्वीप | 10,99,51,16,27,776 लाख योजन |
| 42. | रुचक समुद्र | 21,99,02,32,55,552 लाख योजन |
| 43. | रुचकवर द्वीप | 43,98,04,65,11,104 लाख योजन |
| 44. | रुचकवर समुद्र | 87,96,09,30,22,208 लाख योजन |

इस प्रकार एक द्वीप – एक समुद्र के क्रम से असंख्यात द्वीप और समुद्र हैं । अंत में आधे राजलोक के विस्तार वाला स्वयंभूरमण समुद्र आया हुआ है ।

**द्वीपों के सार्थक नाम :–** सभी द्वीपों के नाम सार्थक अर्थात् गुणवाचक है ।

लोक व्यवहार में कई नाम निरर्थक भी होते हैं । जैसे–नाम शांतिलाल हो और जीवन में खूब अशांति हो । नाम जवानमल हो और उम्र से वृद्ध हो । नाम रूपचंद हो और बिलकुल श्याम हो ।
नाम धनपाल हो और भीख माँगता हो ।

इन द्वीपों के नाम निरर्थक नहीं हैं ।

जैसे–जंबूद्वीप का अधिष्ठायक अनादृत देव है, उस देव के निवास योग्य शाश्वत जंबूवृक्ष (रत्नमय) नाम का वृक्ष होने से इस द्वीप का नाम जंबूद्वीप है ।

धातकी खंड द्वीप के अधिपति को रहने के लिए धातकी खंड में धातकी नाम का महावृक्ष है । पुष्कर द्वीप में पुष्कर अर्थात् कमल ज्यादा होने से उस द्वीप का नाम पुष्कर द्वीप है ।

क्षीरवर द्वीप में रही बावड़ियों का जल क्षीर की भाँति है, अतः उस द्वीप का नाम क्षीरवर द्वीप है । नंदी अर्थात् समृद्धि से देदीप्यमान होने के कारण उस द्वीप का नाम नंदीश्वर द्वीप है ।

**समुद्रों का पानी :–** दूसरे, तीसरे और अंतिम समुद्र अर्थात् कालोदधि समुद्र, पुष्कर समुद्र और स्वयंभूरमण समुद्र के पानी का स्वाद स्वाभाविक पानी के स्वाद जैसा है ।

**लवण समुद्र का पानी खारा है । वारुणीवर समुद्र का पानी चंद्रहास मदिरा समान है । क्षीरवर समुद्र का पानी दूध के समान है । घृतवर समुद्र का पानी घी के समान है । इसके सिवाय शेष समुद्रों का पानी इक्षुरस के स्वाद के समान है ।**

असंख्य द्वीप और समुद्र

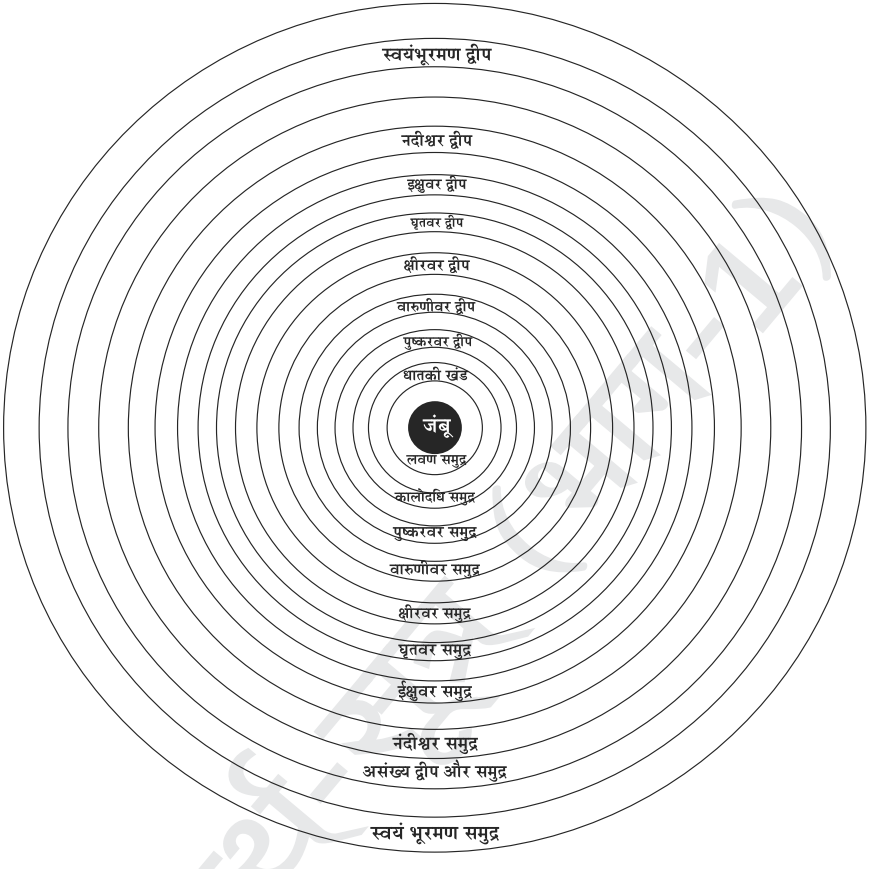


## मेरुपर्वत

ढाई द्वीप में कुल 5 मेरुपर्वत हैं, परंतु सर्वप्रथम हम जंबूद्वीप के ठीक मध्य भाग में आए हुए मेरुपर्वत के संदर्भ में विचार करेंगे । 1 पल्योपम के आयुष्यवाला मेरु नाम का महर्द्धिक देव (अधिपति) वहाँ पर रहता है, इसलिए उसे `मेरुपर्वत' कहा जाता है ।

असंख्य द्वीप–समुद्रों के बीच में जो जंबूद्वीप आया हुआ है, उस जंबूद्वीप के ठीक मध्य में वृत्त (गोलाकार) मेरुपर्वत आया हुआ है ।

यह मेरुपर्वत देवकुरु के उत्तर में, उत्तर कुरु के दक्षिण में, पूर्व विदेह के पश्चिम में तथा पश्चिम विदेह के पूर्व में रहा हुआ है ।

मेरुपर्वत की कुल ऊँचाई 1 लाख योजन है, जिनमें 1000 योजन जमीन में तथा 99000 योजन बाहर है ।

मेरुपर्वत की चौड़ाई जमीन में 10090 $\frac{10}{11}$ योजन, भूतल पर 10000 योजन तथा सबसे ऊपर 1000 योजन है ।

मेरु पर्वत तीनों लोक में आया हुआ है ।

1) 100 योजन अधोलोक में है ।

2) 1800 योजन तिर्च्छालोक में है ।

3) 98100 योजन ऊर्ध्वलोक में है ।

समभूतला पृथ्वी से 900 योजन ऊपर और 900 योजन नीचे, इस प्रकार 1800 योजन का तिर्च्छा लोक है । मेरुपर्वत 1000 योजन नीचे है, अतः 100 योजन अधोलोक में हुआ ।

मेरुपर्वत पृथ्वी पर 99000 योजन ऊँचा है, ऊपर 900 योजन के बाद ऊर्ध्व लोक चालू हो जाता है, अतः 98100 योजन ऊर्ध्वलोक में हुआ ।

## मेरुपर्वत के तीन कांड

**3 कांड : 1. प्रथम कांड :–** मूल से भूमि तक 1000 योजन का यह प्रथम कांड मिट्टी, पत्थर, वज्ररत्न तथा कंकड़ से निर्मित है ।

**2. द्वितीय कांड :** समभूतला से 63000 योजन पर सोमनसवन तक का दूसरा कांड स्फटिक रत्न, अंकरत्न तथा रजत–स्वर्ण से निर्मित है ।

**3. तृतीय कांड :** सोमनस वन से ऊपर 36000 योजन पर शिखर ऊपर पंडकवन तक का यह कांड जांबूनद स्वर्ण का है ।

**चूलिका :–** शिखर पर 40 योजन ऊँची वृत्ताकार, मूल में 12 योजन तथा ऊपर 4 योजन विस्तृत `श्रीदेवी' के भवन समान चैत्य युक्त चूलिका है ।

चूलिका के अग्र भाग में 1 गाउ दीर्घ, ½ गाऊ विस्तृत तथा 1440 धनुष प्रमाण लंबा x चोडा तथा ऊँचा शाश्वत जिन मंदिर है जिसमें 108 जिनप्रतिमाएँ हैं ।

**पांडुकवन :–** मेरु के शिखर ऊपर चूलिका के चारों ओर 494 योजन चौड़ा चारों ओर वन है । चूलिका के 50 योजन दूर चारों दिशाओं में चार जिन भवन हैं तथा विदिशाओं में 4-4 वापिकाओं से युक्त 1-1 प्रासाद है । जिन भवन की लम्बाई 50 योजन, चौड़ाई 25 योजन तथा ऊँचाई 36 योजन है ।

**भद्रशाल वन :–** मेरु पर्वत की समभूमि पर भद्रशाल वन है । इस वन में दिग्गज नामक 8 करिकूट हैं । सीता सीतोदा नामक नदी तथा गजदंत पर्वतों के कारण यह वन 8 विभागवाला है ।

यह वन मेरु से पूर्व तथा पश्चिम में 22000-22000 योजन तथा उत्तर तथा दक्षिण में 250-250 योजन प्रमाण है ।

नंदनवन में 4 जिन भवन तथा 4 इन्द्र प्रासादों के 8 अंतर में 500 योजन ऊँचा, 500 योजन विस्तृत तथा 250 योजन शिखर विस्तारवाले कूट हैं जिन पर दिक्कुमारियों मेघंकरादेवी, मेघवती, सुमेघा, मेघमालिनी, सुवत्सा, वत्समित्रा, बलाहका तथा वारिषेणा / वज्रसेना नाम की ऊर्ध्वलोक की देवियों के तथा 48 भवनपति निकाय की देवियों के प्रासाद हैं । प्रत्येक का आयुष्य 1 पल्योपम का है ।

## चार वन खंड

1) समभूतला पृथ्वी पर मेरुपर्वत के आसपास भद्रशाल वन है, जो पूर्व और पश्चिम दिशा में 22000 योजन तथा दक्षिण और उत्तर दिशा में 250 योजन विस्तृत है ।

2) भूमितल से 500 योजन ऊपर जाने पर नंदनवन आता है, जो 500 योजन विस्तार वाला है ।

3) नंदनवन से 62500 योजन ऊपर जाने पर चारों ओर गोलाकार 500 योजन विस्तृत सोमनस वन है ।

4) वहाँ से 1000 योजन ऊपर जाने पर चूलिका के चारों ओर 494 योजन विस्तृत पांडुकवन है ।

## पांडुकवन में चार शिलाएँ

इस पांडुकवन में पांडुकंबला, अति–पांडुकंबला, रक्तकंबला और अतिरक्तकंबला नाम की चार शिलाएँ हैं ।

इन शिलाओं पर जिनेश्वर भगवंत के अभिषेक होते हैं ।

**(1) पांडुकंबला नाम** की पहली शिला मेरु की चुलिका से पूर्व दिशा की ओर है । यह शिला उत्तर–दक्षिण में 500 योजन लंबी व पूर्व–पश्चिम में 250 योजन चौड़ी है । इस शिला पर दक्षिण और उत्तर में 500 धनुष लंबे–चौड़े व 250 धनुष मोटे दो सिंहासन रहे हुए हैं ।

महाविदेह के कच्छ आदि 8 विजयों में उत्पन्न तीर्थंकरों का अभिषेक उत्तर तरफ की शिला पर तथा वत्स आदि आठ विजयों में उत्पन्न तीर्थंकरों का अभिषेक दक्षिण तरफ की शिला पर होता है ।

इसी प्रकार पश्चिम की ओर की शिला पर भी दो सिंहासन हैं । जिस पर पश्चिम विदेह में उत्तर और दक्षिण की ओर आए आठ-आठ विजयों में उत्पन्न तीर्थंकरों के अभिषेक होते हैं ।

**(2) अति पांडुकंबला** नाम की दूसरी शिला मेरु की चूलिका से दक्षिण दिशा की ओर है । यह शिला पूर्व–पश्चिम में लंबी व उत्तर–दक्षिण में चौड़ी है । इसके मध्य भाग में रहे सिंहासन पर इन्द्र, भरत क्षेत्र में होनेवाले तीर्थंकरों का अभिषेक करते हैं ।

**(3) रक्तकंबला** नाम की शिला मेरु के पश्चिम में रही हुई है, इस शिला पर उत्तर व दक्षिण दिशा में जिनेश्वर भगवंत के अभिषेक योग्य दो सिंहासन हैं ।

उत्तर दिशा के सिंहासन पर पक्ष्मवती 8 आदि आठ विजयों में तथा दक्षिण दिशा के सिंहासन पर वप्र आदि आठ विजयों में उत्पन्न तीर्थंकरों के अभिषेक होते हैं ।

**(4) अति रक्तकंबला** नाम की चौथी शिला मेरु की चूलिका से उत्तर की ओर है, यह शिला पूर्व–पश्चिम में लंबी व उत्तर दक्षिण में चौड़ी है ।

इस शिला पर आए सिंहासन पर ऐरवत क्षेत्र में उत्पन्न तीर्थंकर परमात्मा के अभिषेक होते हैं ।

इस प्रकार मेरुपर्वत पर जिनेश्वर परमात्मा के अभिषेक के लिए कुल छह सिंहासन हैं, वहाँ एक साथ में चार अथवा दो जिनेश्वर भगवंतों के अभिषेक हो सकते है ।

तीर्थंकरों का जन्म मध्यरात्रि में होता है, अतः महाविदेह में जन्म हो तो एक साथ चार तीर्थंकरों का जन्म हो सकता है, महाविदेह में रात्रि हो तब भरत–ऐरवत में दिन होता है ।

भरत–ऐरावत में मध्य रात्रि में तीर्थंकर का जन्म हो तब महाविदेह में दिन होने से वहाँ तीर्थंकर का जन्म नहीं होता है, अतः भरत–ऐरावत की अपेक्षा एक साथ दो तीर्थंकरों का जन्म हो सकता है ।

*** पांडुक वन का ऊपरी दृश्य ***

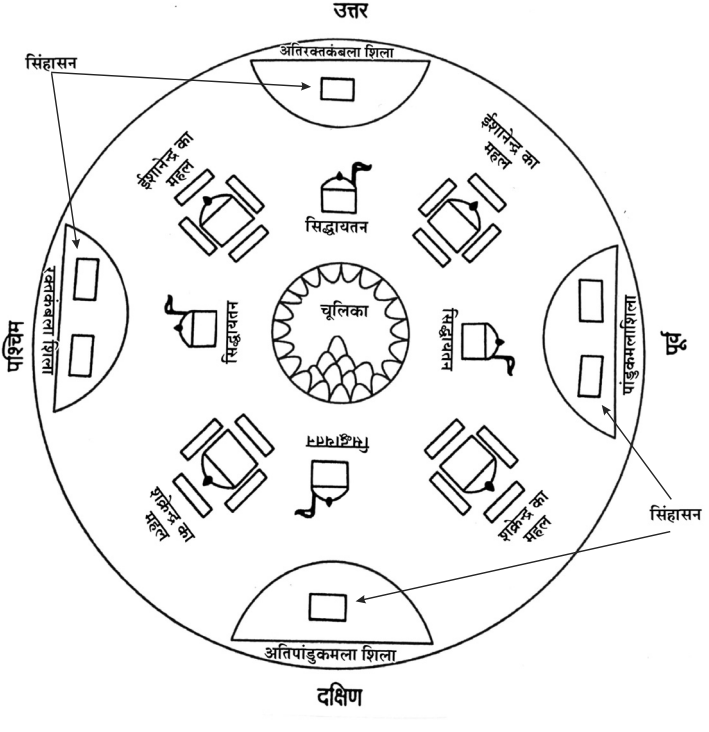

# * मेरु पर्वत और गतिशील ज्योतिषचक्र *

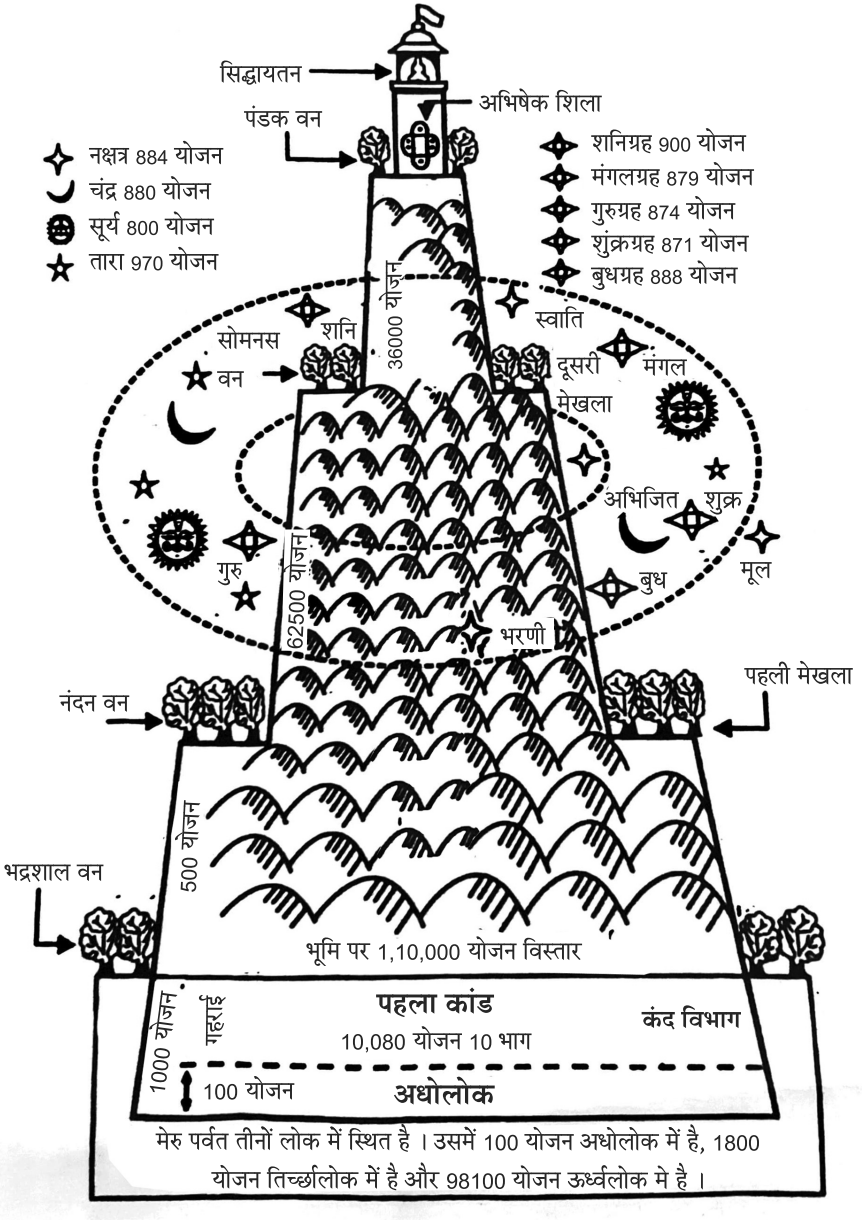

## जंबूद्वीप के क्षेत्र

**तत्रभरत–हैमवत–हरि–विदेह–रम्यक्–हेरण्यवतैरावत–वर्षाः क्षेत्राणि ।।3-10।।**

**सामान्य अर्थ :–** जंबूद्वीप में भरत क्षेत्र, हैमवत क्षेत्र, हरिवर्ष क्षेत्र, महाविदेह क्षेत्र, रम्यक् क्षेत्र, हैरण्यवत क्षेत्र और ऐरावत क्षेत्र – ये सात क्षेत्र हैं ।

**विवेचन :–** जंबूद्वीप की दक्षिण दिशा से उत्तर दिशा की ओर क्रमशः भरत आदि सात क्षेत्र आए हुए हैं ।

**भरतक्षेत्र :–** जंबूद्वीप के दक्षिण की ओर भरत क्षेत्र आया हुआ है । इसका आकार प्रत्यंचा चढ़ाकर तैयार किए धनुष जैसा है ।

वैज्ञानिकों के द्वारा सिद्ध वर्तमान विश्व, इसी भरतक्षेत्र का एक अंश है ।

जंबूद्वीप के व्यास के 190 भाग किए जाँय तो भरतक्षेत्र का व्यास एक भाग जितना आता है ।

भरतक्षेत्र से हिमवंत पर्वत का व्यास दुगुणा है, हेमवंत क्षेत्र का व्यास चार गुणा, उसके बाद महाहिमवंत पर्वत का व्यास आठ गुणा, हरिवर्ष क्षेत्र का सोलह गुणा, निषध पर्वत का बत्तीस गुना व महाविदेह क्षेत्र का चौंसठ गुणा है ।

ऐरावत क्षेत्र का व्यास भरत प्रमाण है । ऐरावत क्षेत्र उत्तर की ओर आया हुआ है । ऐरावत क्षेत्र से शिखरी पर्वत का व्यास दुगुणा, हैरण्यवंत क्षेत्र का व्यास चार गुणा, रुक्मि पर्वत का व्यास आठ गुणा, रम्यक् क्षेत्र का व्यास सोलह गुणा, नीलवंत पर्वत का व्यास बत्तीस गुणा व महाविदेह का व्यास चौंसठ गुणा है ।

एक योजन के 19 वें भाग को कला तथा 1 कला के 19 वें भाग को विकला कहते हैं ।

भरतक्षेत्र का विष्कंभ 526 योजन व 6 कला है ।

भरत क्षेत्र के ठीक मध्य में पूर्व–पश्चिम–वैताढ्य पर्वत आया हुआ है, यह वैताढ्य पर्वत भरतक्षेत्र को दो भागों में बाँटता है–

दक्षिणार्ध भरत और उत्तरार्ध भरत ।

हिमवंत पर्वत से निकली हुई और वैताढ्य पर्वत को भेद कर पूर्व और पश्चिम समुद्र में मिलने वाली गंगा व सिंधु नदी के कारण भरतक्षेत्र के छह विभाग होते हैं । इन्हें भरतक्षेत्र के छह खंड भी कहते हैं । प्रत्येक चक्रवर्ती इन छह खंडों का तथा वासुदेव तीन खंडों का विजेता होता है ।

दक्षिणार्ध भरत के 25 देश आर्यदेश कहलाते हैं, शेष 5 खंडों के सभी देश अनार्य कहलाते हैं । तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलदेव आदि की उत्पत्ति इस दक्षिणार्ध भरत के मध्य खंड में होती है ।

भरतक्षेत्र के मध्य में आए हुए वैताढ्य पर्वत का विस्तार 50 योजन और उसकी ऊँचाई 25 योजन है । यह पर्वत 6 योजन व 1 कोश पृथ्वी के भीतर रहा हुआ है ।

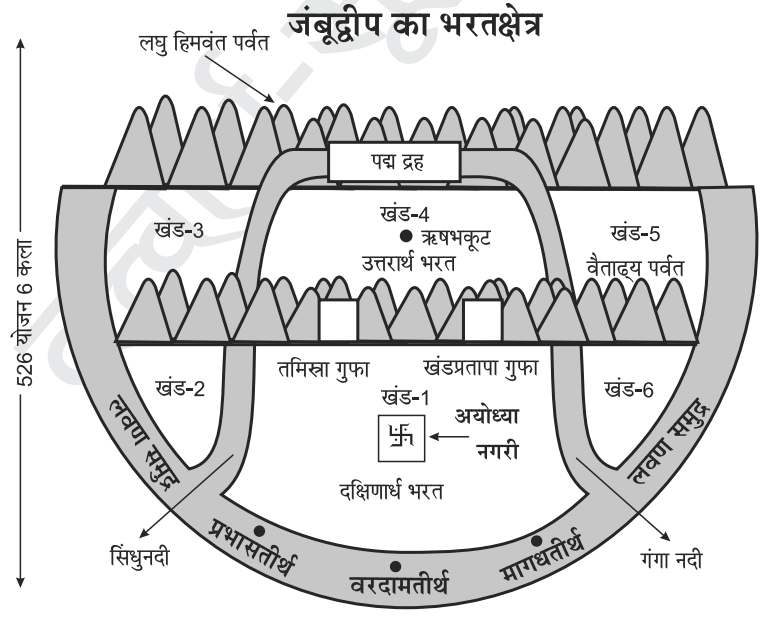

**वैताढ्य पर्वत का ऊपरी दृश्य**

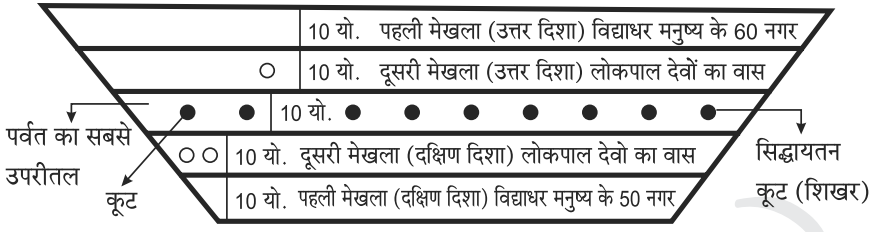


वैताढ्य पर्वत की दक्षिण श्रेणी में 50 व उत्तरश्रेणी में 60 नगर हैं। इन नगरों में विद्याधर मनुष्य रहते हैं।

वैताढ्य पर्वत के पूर्व किनारे पर खंड-प्रपाता और पश्चिम किनारे पर तमिस्रा गुफा है। ये गुफाएँ सदा अंधकारमय होती हैं। ये गुफाएँ आठ योजन ऊँची, बारह योजन चौड़ी और पचास योजन लंबी हैं।

## दीर्घ वैताढ्य पर्वत

नोट : पर्वत पूर्व-पश्चिम योजन लंबा समझना।

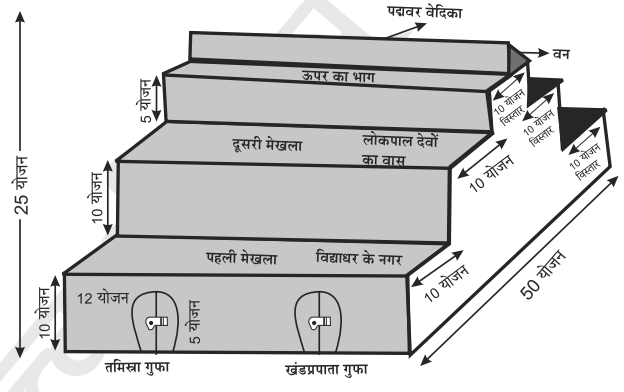


प्रत्येक गुफा की दक्षिण और उत्तर दोनों दिशाओं में दो द्वार होते हैं। प्रत्येक द्वार आठ योजन ऊँचा व चार योजन चौड़ा होता है।

जब कोई चक्रवर्ती भरतक्षेत्र के उत्तर भाग को जीतने के लिए निकलता है, तब उसके सेनापति के दंडरत्न के प्रहार से गुफा के किवाड़ खुल जाते हैं।

हस्तिरत्न पर आरूढ़ चक्रवर्ती जब गुफा में प्रवेश करता है, तब हस्तिरत्न के कुंभस्थल पर तेजस्वी मणि रखता है, जिससे अँधेरी गुफा

प्रकाशित हो जाती है, उसके बाद चक्रवर्ती पीछे आनेवाले सैन्य के लिए काकिणी रत्न से गुफा की दीवालों पर मंडलों का आलेखन करता है, जिससे पीछे आनेवाले सैन्य को प्रकाश मिल जाता है ।

गुफा पार करने के बाद उन्मग्नजला और निमग्नजला नाम की नदियाँ आती हैं । वार्धकी रत्न द्वारा नदी पर पुल तैयार कर चक्रवर्ती उन नदियों को पारकर आगे बढ़ता है । वहाँ उत्तर भरतखंड को जीतकर खंडप्रपाता गुफा के पास आता है और पूर्व की तरह गुफा को पारकर आगे बढ़ता है । पुनः निमग्नजला व उन्मग्नजला नदियों को पारकर चक्रवर्ती अपनी राजधानी में प्रवेश करता है ।

**हैमवंत क्षेत्र :–** हिमवंत और महाहिमवंत पर्वत के बीच में हेमवंतक्षेत्र आया हुआ है । इसके पूर्व और पश्चिम के किनारे लवण समुद्र को स्पर्श किए हुए है ।

इस क्षेत्र का विष्कंभ (उत्तर-दक्षिण व्यास) 2105 योजन 5 कला है । इस क्षेत्र में 56002 नदियाँ हैं । यह भी युगलिक क्षेत्र होने से उन सभी युगलिकों के मनोरथ 10 कल्पवृक्ष पूर्ण करते हैं ।

यहाँ मनुष्यों की ऊँचाई 1 गाउ तथा उत्कृष्ट आयुष्य 1 पल्योपम होता है । शरीर में 64 पसलियाँ होती हैं । ये अपनी संतानों का पालन 79 दिन तक करते हैं और मरकर स्वर्ग में जाते हैं । वे एकांतर आँवले जितना आहार लेते हैं । उनका वज्रऋषभ नाराच नामक पहला संघयण होता है । यहाँ सुषमदुषम आरे जैसा काल हमेशा बना रहता है ।

**हरिवर्ष क्षेत्र :–** महाहिमवंत पर्वत के उत्तर में हरिवर्ष क्षेत्र आया हुआ है । इसका विष्कंभ (उत्तर-दक्षिण व्यास) 8421 योजन 1 कला है । यहाँ 1 लाख 12 हजार 2 नदियाँ बहती हैं ।

इस क्षेत्र में युगलिक मनुष्य पैदा होते हैं जिनका आयुष्य दो पल्योपम होता है । दो–दो दिन के बाद बोर जितना आहार लेते हैं । उनके शरीर में 128 पसलियाँ होती हैं । वे 64 दिन तक संतति का पालन कर मरकर देवलोक में जाते हैं । यहाँ हमेशा सुषम आरे जैसा काल होता है ।

# महाविदेह क्षेत्र

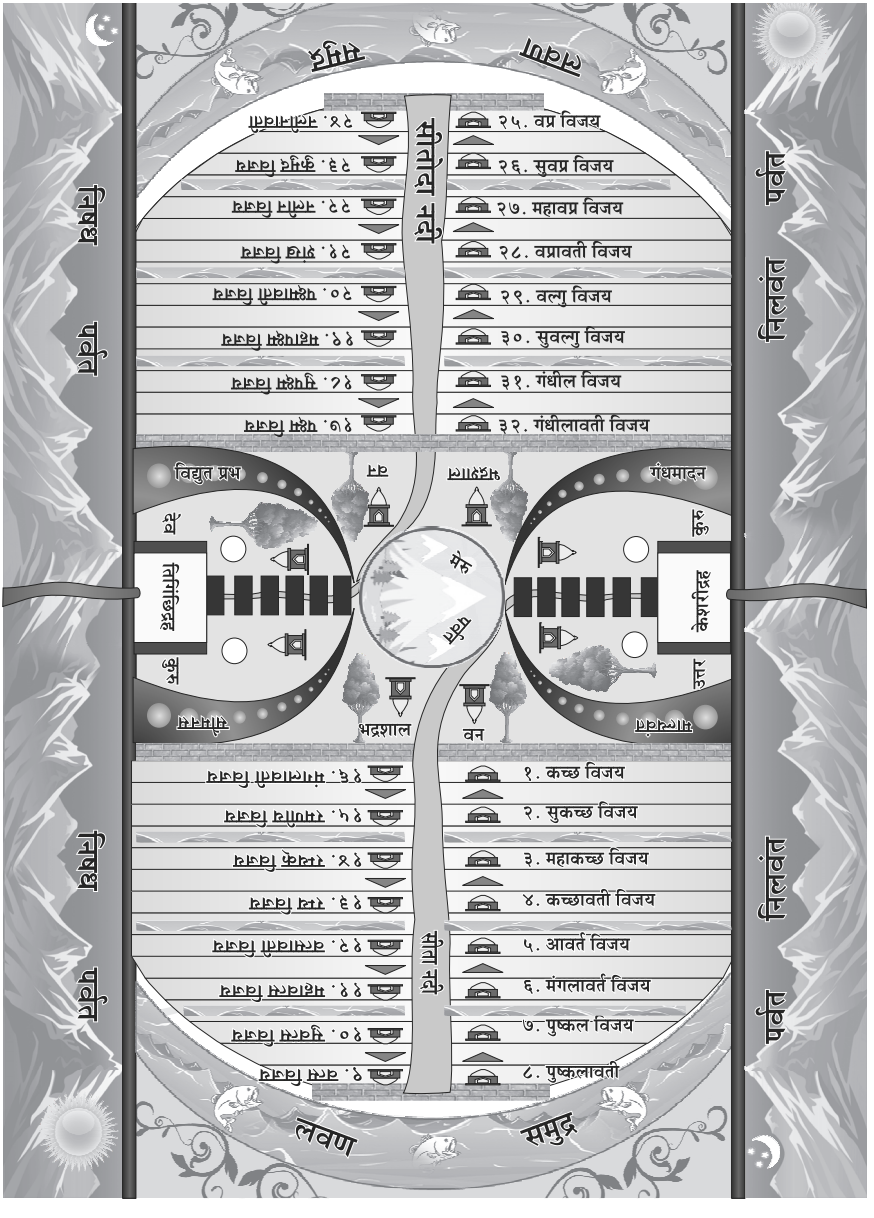
१. कच्छ विजय
२. सुकच्छ विजय
३. महाकच्छ विजय
४. कच्छावती विजय
५. आवर्त विजय
६. मंगलावर्त विजय
७. पुष्कल विजय
८. पुष्कलावती
९. वत्स विजय
१०. सुवत्स विजय
११. महावत्स विजय
१२. वत्सावती विजय
१३. रम्य विजय
१४. रम्यक विजय
१५. नलिनी विजय
१६. नलिनावती विजय
२५. वप्र विजय
२६. सुवप्र विजय
२७. महावप्र विजय
२८. वप्रावती विजय
२९. वल्गु विजय
३०. सुवल्गु विजय
३१. गंधील विजय
३२. गंधीलावती विजय
सीता नदी
सीतोदा नदी
देवकुरु
उत्तरकुरु
मेरु पर्वत
माल्यवान
गंधमादन
विद्युत प्रभ
सौमनस
भद्रशाल वन
निषध पर्वत
नीलवंत पर्वत
लवण समुद्र

**महाविदेह क्षेत्र :–**सबसे बडा क्षेत्र होने के कारण विदेह क्षेत्र को महाविदेह भी कहते हैं। हम हमेशा सुबह के प्रतिक्रमण में सीमंधर स्वामी परमात्मा का चैत्यवंदन करते हैं।

ये सीमंधर स्वामी आदि चार तीर्थंकर परमात्मा जंबूद्वीप के महाविदेह क्षेत्र में पृथ्वी तल पर विचर रहे हैं।

महाविदेह क्षेत्र में हमेशा अवसर्पिणी काल के चौथे आरे जैसे भाव होते हैं। तो चलें, हम भी उस महाविदेह क्षेत्र का कुछ परिचय प्राप्त करें।

नीलवंत और निषध पर्वत के बीच में विदेह क्षेत्र आया हुआ है। सबसे बड़ा होने से इसे महाविदेह भी कहते हैं। इस क्षेत्र का विष्कंभ 33684 योजन व चार कला है।

इस क्षेत्र के मुख्य चार भाग हैं–

1. पूर्व विदेह, 2. पश्चिम विदेह, 3. उत्तरकुरु और 4. देवकुरु

मेरु से उत्तर का भाग उत्तरकुरु कहलाता है, जो गंधमादन और माल्यवंत पर्वतों के बीच है।

मेरु पर्वत के दक्षिण का भाग देवकुरु कहलाता है, जो विद्युत्प्रभ, और सोमनस नामक गजदंत पर्वत के बीच आया हुआ है।

मेरु पर्वत से पूर्व में पूर्व विदेह और पश्चिम में पश्चिम विदेह है।

सीता नदी के उत्तर में और दक्षिण में 8-8 विजय हैं।

सीतोदा नदी के उत्तर व दक्षिण में 8-8 विजय हैं।

**32 विजयों के नाम :–**1) कच्छ 2) सुकच्छ 3) महाकच्छ 4) कच्छवती 5) आवर्त्त 6) मंगलावर्त 7) पुष्कल 8) पुष्कलावती 9) वत्स 10) सुवत्स 11) महावत्स 12) वत्सावती 13) रम्य 14) रम्यक् 15) रमणीय 16) मंगलावती 17) पक्ष्म 18) सुपक्ष्म 19) महापक्ष्म 20) पक्ष्मावती 21) शंख 22) कुमुद 22) नलिन 24) नलिनावती 25) वप्र 26) सुवप्र 27) महावप्र 28) वप्रावती 29) वल्गु 30) सुवल्गु 31) गंधिल और 32) गंधिलावती।

**कच्छ आदि विजयों की राजधानियाँ :–**1) क्षेमा 2) क्षेमपुरी 3) अरिष्टा 4) रिष्टवती 5) खड्गी 6) मंजूषा 7) औषधि 8) पुंडरीकिणी 9) सुसीमा 10) कुंडला 11) अमरावती 12) प्रभंकरा 13) अंकावती

14) पक्ष्मवती 15) शुभा और 16) रत्नसंचया 17) अश्वपुरी 18) सिंहपुरी 19) महापुरी 20) विजय 21) अपराजिता 22) अपराख्या 23) अशोका 24) वीतशोका 25) विजया 26) वैजयंती 27) जयंती 28) अपराजिता 29) चक्रपुरी 30) खड्गपुरी 31) अवंध्या 32) अयोध्या ।

इन सभी विजयों में मनुष्य होते हैं, उनकी ऊँचाई उत्कृष्ट 500 धनुष और उत्कृष्ट आयुष्य पूर्व करोड़ वर्ष का होता है । इनके संघयण व संस्थान विविध प्रकार के होते हैं ।

यहाँ हमेशा चौथे दुषम सुषम आरे के समान सभी भाव होते हैं ।

**रम्यक् क्षेत्र :–** नीलवंत पर्वत के उत्तर और रुक्मि पर्वत के दक्षिण में रम्यक् क्षेत्र आया हुआ है । इसकी लंबाई हरिवर्ष क्षेत्र के समान है ।

मनुष्य की उत्पत्ति, आयुष्य आदि हरिवर्ष क्षेत्र के समान समझनी चाहिए ।

**हैरण्यवंत क्षेत्र :–** रुक्मि पर्वत के उत्तर व शिखरी पर्वत के दक्षिण में हैरण्यवंत क्षेत्र है । इस क्षेत्र का प्रमाण, मनुष्य–तिर्यंचों की ऊँचाई आयुष्य आदि हैमवंत क्षेत्र के समान समझनी चाहिए ।

**ऐरावत क्षेत्र :–** जंबूद्वीप के शिखरी पर्वत के उत्तर में ऐरावत क्षेत्र आया हुआ है । यह ऐरावत क्षेत्र, भरत क्षेत्र की तरह लंबा-चौड़ा है । भरतक्षेत्र में सूर्य उगता है, तब यहाँ भी सूर्य उगता है । भरतक्षेत्र में अवसर्पिणी व उत्सर्पिणीकाल में जिस प्रकार छह आरे, तीर्थंकर चक्रवर्ती आदि की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार ऐरावत क्षेत्र में भी छह आरे, चक्रवर्ती आदि पैदा होते हैं ।

ऐरावत क्षेत्र के मध्य में भी वैताढ्य पर्वत है ।

## वर्षधर पर्वत

**तद्विभाजिनः पूर्वापरायता हिमवन्महाहिमवन्निषध–नील–रुक्मि–शिखरिणो वर्षधरपर्वताः ।।3-11।।**

**सामान्य अर्थ :–** भरत आदि सात क्षेत्र के बीच में पूर्व–पश्चिम में लंबे हिमवान्, महाहिमवान्, निषध, नीलवंत, रुक्मि और शिखरी–ये छह वर्षधर पर्वत हैं ।

**विवेचन :–** जंबूद्वीप में रहे भरत आदि सात क्षेत्रों के बीच में हिमवान् पर्वत, महाहिमवान् पर्वत, निषध पर्वत, नीलवंत पर्वत, रुक्मि पर्वत और शिखरी पर्वत रहे हुए हैं ।

वर्ष यानी क्षेत्र–भरत आदि सात क्षेत्रों की मर्यादा को धारण करने वाले होने से इन्हें वर्षधर पर्वत कहा जाता है ।

**1) हिमवान् (लघु हिमवंत) पर्वत :–** भरतक्षेत्र के उत्तर में जातिवंत सुवर्णमय हिमवान् पर्वत आया हुआ है । यह पर्वत 100 योजन ऊँचा व 25 योजन पृथ्वी के भीतर है । इसका विष्कंभ 1052 योजन व 12 कला है ।

इस पर्वत पर **पद्मद्रह** नामक **द्रह** आया हुआ है, जो हजार योजन लंबा, 500 योजन चौड़ा व 10 योजन गहरा है ।

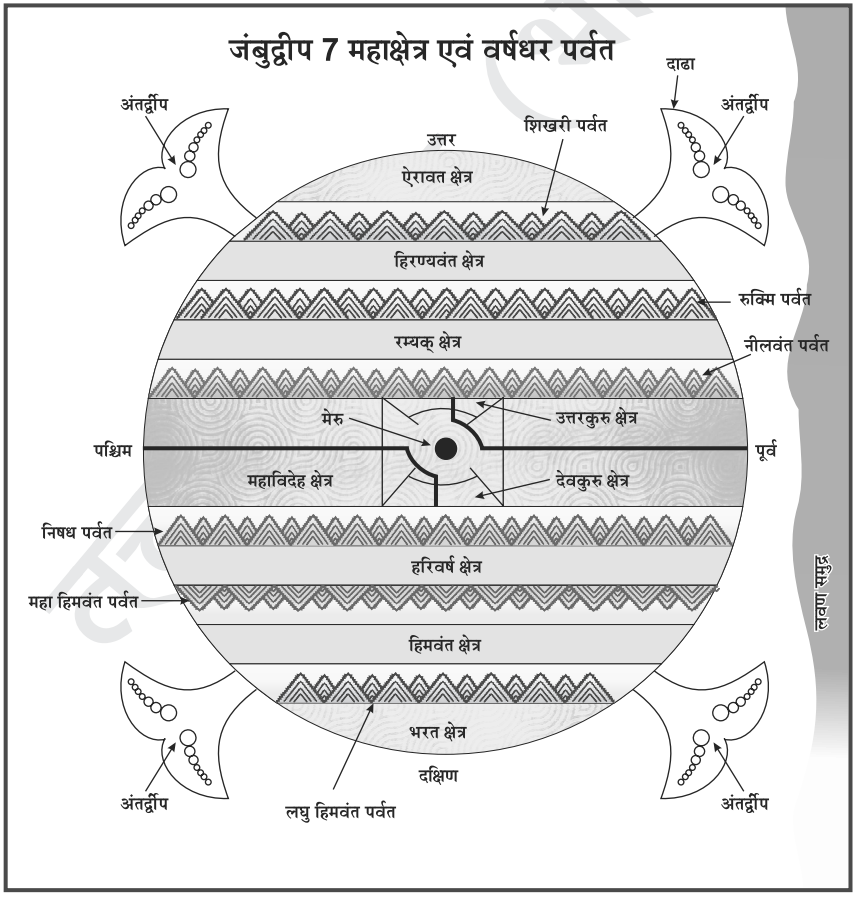

उस पद्मद्रह में **'श्री देवी'** का एक मूल कमल है, जो 1 योजन लंबा–चौड़ा और ½ योजन मोटा है। यह कमल 10 योजन जल में डूबा हुआ है। उस कमल की कर्णिका 1 कोस ऊँची ओर छह वलय हैं।

पहले वलय में 108 कमल हैं, जो मूल कमल से आधे माप वाले हैं। दूसरे वलय में वायव्य, उत्तर और ईशान दिशा में चार हजार सामानिक देवों के 4000 कमल हैं, पूर्व दिशा में महत्तरा देवी के चार कमल हैं। अग्निकोण में अभ्यंतर सभा के देवों के 8000 कमल हैं। दक्षिण दिशा में मध्यम सभा के देवों के 10000 कमल हैं। नैऋत्य कोण में बाह्य पर्षदा के देवों के 12000 कमल हैं। पश्चिम दिशा में सात सेनापति के 7 कमल हैं।

तीसरे वलय में चारों दिशाओं में 4-4 हजार आत्मरक्षक देवों के कमल हैं। चौथे वलय में अभ्यंतर पर्षदा के आभियोगिक देवों के 32 लाख कमल हैं। पाँचवें वलय में मध्यम पर्षदा के आभियोगिक देवों के 40 लाख कमल हैं। छठे वलय में बाह्य पर्षदा के आभियोगिक देवों के 48 लाख कमल है।

इस प्रकार सब मिलकर 1 करोड़ 20 लाख 50 हजार 120 कमल हुए।

हिमवान् पर्वत के पूर्व और पश्चिम किनारे पर लवण–समुद्र में गजदंत के आकार की चार दाढ़ाएँ आयी हुई हैं, इन चार दाढ़ाओं पर 7-7 द्वीप आए हुए हैं। इस प्रकार हिमवान् पर्वत के दोनों ओर कुल 28 द्वीप लवणसमुद्र में आए हुए हैं।

**2) महाहिमवान (महाहिमवंत) पर्वत :–** हेमवंत क्षेत्र के उत्तर की ओर सर्वरत्नमय 200 योजन ऊँचा महाहिमवंत पर्वत है। यह पर्वत 50 योजन पृथ्वी के भीतर है। इसका विष्कंभ 4210 योजन 12 कला है।

इस पर्वत के मध्यभाग में **महापद्म द्रह** है। जो 2000 योजन लंबा 1000 योजन चौड़ा व 10 योजन गहरा है। इसके बीच में छह वलय युक्त कमल है। इन सभी कमलों की संख्या पद्मद्रह के कमलों के समान है, सिर्फ इनकी लंबाई–चौड़ाई दुगुनी है।

मूलकमल में **'ह्री देवी'** का भवन है।

**3) निषध पर्वत :–** हरिवर्ष क्षेत्र के उत्तर में 400 योजन ऊँचा

सुवर्णमय निषध पर्वत है । जो 100 योजन भूमि में है । इसका विष्कंभ 16842 योजन 2 कला है ।

इस पर्वत के मध्य भाग में **तिगिंच्छि द्रह** है, जो 4000 योजन लंबा, 2000 योजन चौड़ा व 10 योजन गहरा है । इस द्रह के बीच **'धीदेवी'** का मूल कमल है, जिसके चारों ओर छह वलयों में पद्मद्रह के समान संख्या में कमल हैं, फर्क इतना ही है कि वे कमल चार गुणे लंबे–चौड़े हैं ।

**4) नीलवंत पर्वत :–** महाविदेह क्षेत्र के उत्तर में वैडुर्य मणिमय नीलवान् पर्वत आया हुआ है । यह पर्वत उत्तर–दक्षिण में चौड़ा व पूर्व–पश्चिम में लंबा है ।

इस पर्वत की लंबाई–चौड़ाई–विष्कंभ आदि निषध पर्वत के समान समझना चाहिए । इस पर्वत पर **केसरी द्रह** नामक द्रह आया हुआ है । इस द्रह में मुख्य कमल चार योजन का है, जिस पर **'कीर्तिदेवी'** का स्थान है । छह वलयों में आए कमलों की संख्या व उन कमलों का माप आदि निषध पर्वत पर के कमलों के समान समझना चाहिए ।

**5) रुक्मि पर्वत :–** रम्यक् क्षेत्र के उत्तर में और हैरण्यवंत क्षेत्र के दक्षिण में रुक्मि वर्षधर पर्वत है । इस पर्वत की लंबाई–चौड़ाई विष्कंभ आदि महाहिमवंत पर्वत के समान समझना चाहिए । इस पर्वत पर **महापुंडरीक** नामक द्रह है, जिस पर दो योजन प्रमाण मुख्य कमल है, उस कमल के चारों ओर छह वलयों में श्रीदेवी के कमलों के समान कमल हैं । यहाँ मुख्य कमल में **'बुद्धिदेवी'** का निवास है ।

**6) शिखरी पर्वत :–** हैरण्यवंत क्षेत्र के उत्तर व ऐरावत क्षेत्र के दक्षिण में शिखरी वर्षधर पर्वत है । इस पर्वत की लंबाई चौड़ाई विष्कंभ आदि हिमवंत पर्वत के समान हैं । इस पर्वत पर **पुंडरीक द्रह** में मुख्य कमल योजन प्रमाण है, जिसके चारों ओर छह वलयों में `श्रीदेवी' के समान संख्या व माप के कमल हैं ।

मुख्य कमल पर **'लक्ष्मी देवी'** का वास है ।

इस तरह जंबूद्वीप में भरत आदि सात क्षेत्र एवं हिमवान् आदि छह वर्षधर पर्वत आये हुए हैं ।

## पर्वतों की विशेष जानकारी

| पर्वत का नाम | कितने शिखर ? | कौन–सा द्रह ? | किस देवी का वास ? | किससे बना ? | ऊँचाई | भूमि में गहराई | लंबाई | चौड़ाई | कौनसी नदी किस ओर निकलती है ? |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| लघु हिमवंत | 11 | पद्म | श्री | पीत सुवर्ण | 100 योजन | 25 योजन | 24932 योजन ½ कला | 1052 योजन 12 कला | पूर्व–गंगा, पश्चिम–सिंधु, उत्तर–रोहितांशा |
| महा हिमवंत | 8 | महापद्म | ह्री | सुवर्ण | 200 योजन | 50 योजन | 53931 योजन 6½ कला | 4210 योजन 10 कला | दक्षिण–रोहिता, उत्तर–हरिकांता |
| निषध | 9 | तिगिच्छि | धी | लाल सुवर्ण | 400 योजन | 100 योजन | 94156 योजन 2 कला | 16842 योजन 2 कला | दक्षिण–हरिसलिला, उत्तर–सीतोदा |
| नीलवंत | 9 | केशरी | कीर्ति | नील वेडूर्य रत्न | 400 योजन | 100 योजन | 94156 योजन 2 कला | 16842 योजन 2 कला | उत्तर–नारीकांता, दक्षिण–सीता |
| रुक्मि | 8 | महापुंडरीक | बुद्धि | चांदी | 200 योजन | 50 योजन | 53931 योजन 6½ कला | 4210 योजन 10 कला | उत्तर–रूप्यकुला, दक्षिण–नरकांता |
| शिखरी | 11 | पुंडरीक | लक्ष्मी | जातिवंत सुवर्ण | 100 योजन | 25 योजन | 24932 योजन ½ कला | 1052 योजन 12 कला | पूर्व–रक्ता, पश्चिम–रक्तवती, दक्षिण–सुवर्णकुला |

**जंबूद्वीप की जगती :–** जंबूद्वीप के चारों ओर एक किल्ला है, जो मूल में 12 योजन चौड़ा तथा ऊपर चार योजन चौड़ा तथा 8 योजन ऊँचा है। वह किल्ला द्वीप की परिधि के अनुसार वलयाकार में है। उसे जगती कहते हैं। उन पूर्व आदि दिशाओं में विजय, वैजयंत, जयंत और अपराजित नाम के चार द्वार हैं।

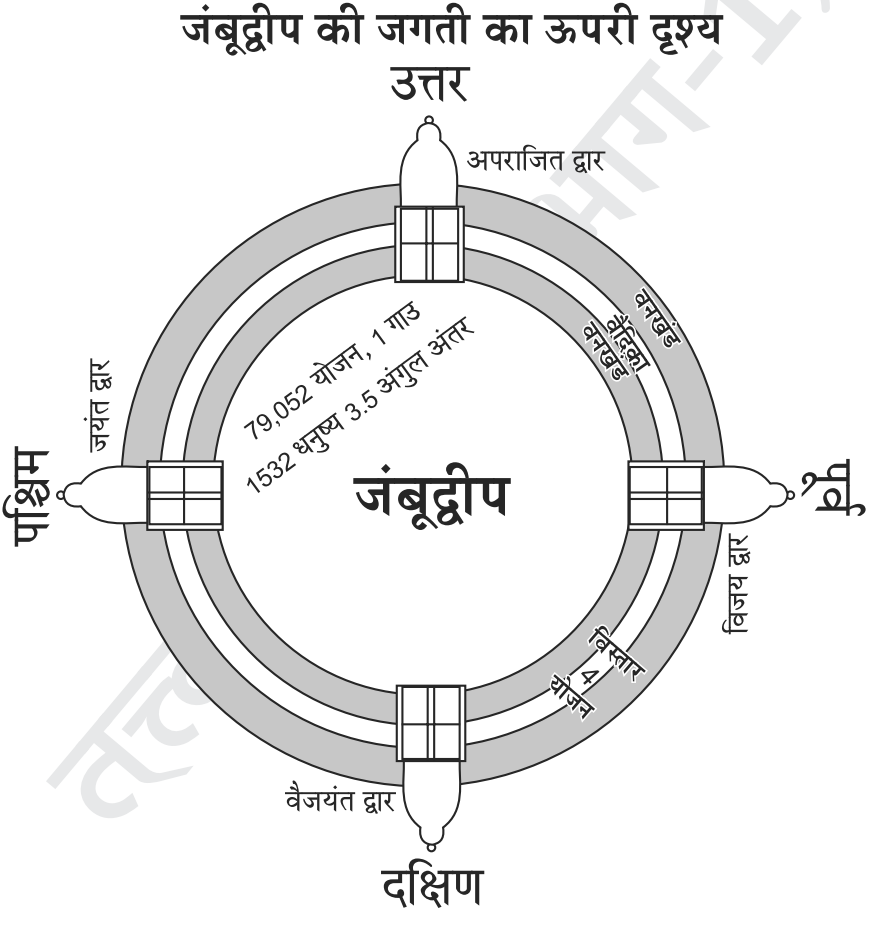

## जंबूद्वीप की जगती का ऊर्ध्व-अधो विच्छेद

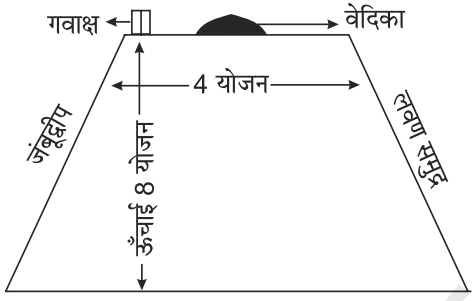


**लवण–समुद्र :–** जंबूद्वीप के चारों ओर वर्तुलाकार में लवण समुद्र है ।

लवण समुद्र का विस्तार 2 लाख योजन है । दोनों किनारों से 95000 योजन 95000 योजन भूमि का उतार है । अतिमध्य 10,000 योजन में जल की गहराई 1000 योजन है । तथा समभूमि से वहाँ 700 योजन जल की ऊँचाई है । इस प्रकार मध्यभाग में जल की कुल ऊँचाई 1700 योजन है ।

लवण समुद्र के मध्य में जहाँ जल की गहराई 1000 योजन है, वहाँ जल के ऊपरी तल से 16000 योजन ऊँची चारों ओर वलयाकार भित्ति समान जलशिखा है ।

इस शिखा के ऊपरी तल में से दिन में दो बार जल दो गाउ ऊँचा चढ़ता है । नागकुमार निकाय के देव इस बढ़ते हुए जलप्रवाह को रोकते हैं ।

**पाताल कलश :–** समुद्र के अतिमध्य भाग में जलशिखा के नीचे भूमितल में चारों दिशाओं में घटाकार चार पाताल कलश हैं । कलश का मुख 10,000 योजन चौड़ा है । मध्य भाग एक लाख योजन चौड़ा तथा कलश का तल भाग 10,000 योजन चौड़ा है, कलश वज्ररत्नमय तथा 1000 योजन जाड़ाई वाला है ।

प्रत्येक महाकलश, नरकप्रतरों को उल्लंघ कर छठे भवनपति निकाय तक गहरा उतरा हुआ है ।

पूर्व दिशा में वड़वामुख, दक्षिण में केयूप, पश्चिम में यूप तथा उत्तर में ईश्वर नामक महाकलश है ।

चार महाकलशों के अंतर में कुल 7884 लघु पातालकलश आये हुए हैं ।

**कलशों में से पवन :–** चारों पाताल कलश 1 लाख योजन गहरे हैं । कलश के नीचे के $\frac{1}{3}$ भाग में मात्र वायु भरा हुआ हैं तथा मध्य के $\frac{1}{3}$ भाग में वायु तथा जल है और ऊपर के $\frac{1}{3}$ भाग में मात्र जल है । इन कलशों में श्वासोश्वास की भाँति महावायु उत्पन्न होकर बाहर निकलने का प्रयास करता है, जिससे पानी उछलता है ।

42,000 नागकुमार देव मध्यवेल (जंबूद्वीप तरफ की वेल), 60,000 देव शिखा ऊपर की तथा 72,000 देव बाह्य वेल को रोकते हैं ।

**वेलंधर पर्वत :–** लवण समुद्र में 42000 योजन दूर जाने पर पूर्वादि चार दिशाओं में 4 वेलंधर तथा विदिशाओं में अनुवेलंधर पर्वत हैं ।

ये पर्वत मूल में 1022 योजन तथा शिखर ऊपर 424 योजन विस्तृत तथा 1721 योजन ऊँचे हैं ।

## धातकी खंड में क्षेत्र और पर्वत

### द्विर्धातकीखण्डे ।।3-12।।

**सामान्य अर्थ :–** जंबूद्वीप की अपेक्षा धातकीखण्ड में क्षेत्र और वर्षधर पर्वत की संख्या दुगुणा है ।

**विवेचन :–** लवणसमुद्र के चारों ओर चार लाख योजन के विस्तारवाला धातकी खंड आया हुआ है । वहाँ धातकी और महाधातकी नामक दो वृक्षों पर उसी नाम के दो अधिपति देव होने के कारण उसका नाम धातकी खंड है । जंबूद्वीप के समान इसकी भी चारों दिशाओं में विजय, वैजयंत, जयंत व अपराजित नाम के द्वार हैं । यह द्वीप शाश्वत है । धातकी खंड के मध्य में 1000 योजन विस्तृत, 500 योजन ऊँचा

इष्वाकार पर्वत आया हुआ है । उससे पूर्वार्ध और पश्चिमार्ध होता है । पूर्वार्ध के मध्य भाग में मेरु पर्वत है । उसके दक्षिण और उत्तर की ओर तीन–तीन क्षेत्र हैं और मध्य भाग में विदेह क्षेत्र हैं । इसी तरह पश्चिमार्ध भाग में भी मेरुपर्वत और क्षेत्र हैं ।

## 14 महाक्षेत्र

| क्षेत्र | क्षे-त्रांक | लंबाई (योजन) | आदि विस्तार | अंत्य विस्तार | मध्य विस्तार |
|---|---|---|---|---|---|
| 2 भरत 2 ऐरवत | 1 | 4लाख | $6614\frac{129}{212}$ | $18574\frac{155}{212}$ | $12581\frac{36}{212}$ |
| 2 हिमवंत 2 हिरण्यवंत | 4 | 4लाख | $26458\frac{92}{212}$ | $14190\frac{196}{212}$ | $50324\frac{144}{212}$ |
| 2 हरिवर्ष 2 रम्यक् | 16 | 4लाख | $105833\frac{156}{212}$ | $296763\frac{148}{212}$ | $201298\frac{152}{212}$ |
| 2 महाविदेह | 64 | 4लाख | $423334\frac{200}{212}$ | $1187054\frac{168}{212}$ | $805194\frac{184}{212}$ |

## धातकी खंड के 14 वर्षधर पर्वत

| | लंबाई | चौड़ाई यो.क. | ऊँचाई | गहराई | द्रह की लंबाई | द्रह की चौडाई | मुख्य की चौ. | कमल ऊँचाई |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| 2 लघुहिमवंत | 4 लाख | 2105.5 | 100 | 25 | 2000 | 1000 | 2 यो. | 1 यो. |
| 2 शिखरी | 4 लाख | 2105.5 | 100 | 25 | 2000 | 1000 | 2 यो. | 1 यो. |
| 2 महाहिमवंत | 4 लाख | 8421.1 | 200 | 50 | 4000 | 2000 | 4 यो. | 2 यो. |
| 2 रुक्मि | 4 लाख | 8421.1 | 200 | 50 | 4000 | 2000 | 4 यो. | 2 यो. |
| 2 निषध | 4 लाख | 23684.4 | 400 | 100 | 8000 | 4000 | 8 यो. | 4 यो. |
| 2 नीलवंत | 4 लाख | 23684.4 | 400 | 100 | 8000 | 4000 | 8 यो. | 4 यो. |
| 2 इष्वाकार | 4 लाख | 1000 | 500 | 125 | | | | |

जंबूद्वीप के समान पूर्वार्ध में 6 और पश्चिमार्ध में 6, इस प्रकार 12

वर्षधर पर्वत और दो इष्वाकार पर्वत मिलकर कुल 14 पर्वत महाचक्र में आरे के समान हैं । 14 पर्वतों के बीच 14 महाक्षेत्र आए हुए हैं । लवण समुद्र की ओर इन क्षेत्रों की चौड़ाई कम है, जब कि कालोदधि समुद्र की ओर इन क्षेत्रों की चौड़ाई अत्यधिक है ।

जंबूद्वीप की अपेक्षा इस खंड की सभी नदियाँ द्विगुण प्रमाण वाली हैं ।

**मेरु पर्वत :–** जंबूद्वीप की भाँति इस द्वीप के पश्चिम तथा पूर्व भाग में 1-1 मेरुपर्वत आया हुआ है । इस मेरु की मूल से ऊँचाई 85000 योजन है । मूल में विस्तार 9500 योजन तथा समभूमि पर विस्तार 9400 योजन है । शिखर पर विस्तार 1000 योजन है ।

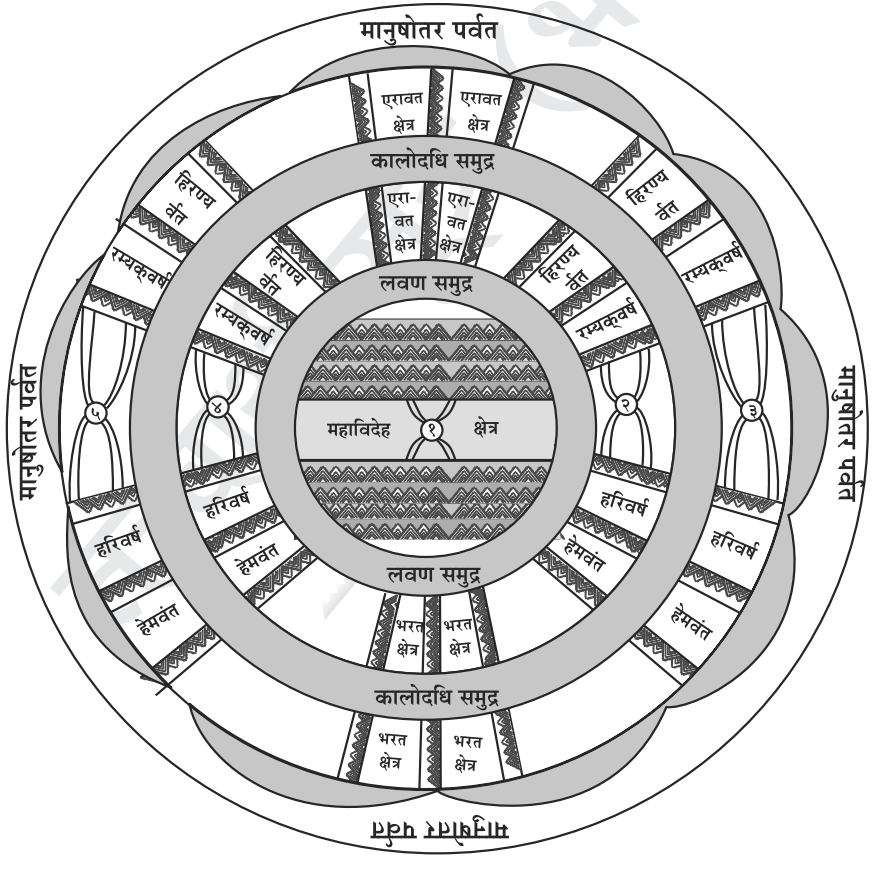

मूल से सोमनस वन की ऊँचाई 57000 योजन है तथा सोमनस वन से पंडकवन की ऊँचाई 28000 योजन है !

**कालोदधि–समुद्र :–** धातकी खंड क्षेत्र के चारों ओर वलयाकार कालोदधि समुद्र आया हुआ है, जिसका विस्तार 8 लाख योजन प्रमाण है । यह समुद्र 1000 योजन गहरा है ।

इस समुद्र के पूर्व भाग का अधिपति देव–कालदेव है, तथा पश्चिम भाग का अधिपति महाकाल है । समुद्र के दोनों ओर गौतम द्वीप समान काल तथा महाकाल द्वीप है ।

धातकी खंड की जगती से 12000 योजन दूर पूर्व दिशा में 12 चन्द्र द्वीप तथा पश्चिम दिशा में 12 सूर्य द्वीप हैं । पुष्कर द्वीप के अभ्यंतर किनारे से 12000 योजन अंदर इस समुद्र में पूर्व दिशा में कालोद समुद्र के 42 चंद्र द्वीप तथा पश्चिम दिशा में 42 सूर्य द्वीप हैं ।

इस प्रकार इस समुद्र में कुल 110 द्वीप हैं । दो द्वीपों पर अधिपति देवों के भवन तथा शेष 108 द्वीपों पर 108 प्रासाद हैं । ये द्वीप जल से 2 गाउ ऊँचे दिखाई देते हैं ।

## पुष्करार्ध द्वीप के क्षेत्र और पर्वत

**पुष्करार्धे च ।।3-13।।**

**सामान्य अर्थ :–** पुष्करवर द्वीप के आधे भाग में भी जंबूद्वीप की अपेक्षा क्षेत्र और वर्षधर पर्वत दुगुणा है ।

**विवेचन :–** कालोदधि समुद्र के चारों ओर 16 लाख योजन विस्तार वाला पुष्करवर द्वीप है । इस द्वीप में प्रथम 8 लाख योजन जाने के बाद 1022 योजन चौड़ा तथा 1721 योजन ऊँचा तथा शिखर ऊपर 424 योजन चौड़ा सिंहनिषादी आकारवाला मानुषोत्तर पर्वत आया हुआ है । यह पर्वत इस द्वीप को दो भागों में विभाजित करता है । पर्वत का अभ्यंतर भाग भित्ति के समान ऊँचा है ।

**अभ्यंतर भाग में :–** इस द्वीप के अभ्यंतर भाग में उत्तर तथा दक्षिण दिशा में सर्वत्र 1000 योजन चौड़ाई वाले दो इष्वाकार पर्वत हैं, जो पुष्करार्द्ध द्वीप को पश्चिम पुष्करार्द्ध तथा पूर्व पुष्करार्द्ध द्वीप में विभाजित करते हैं ।

इन दोनों पुष्करार्द्ध द्वीपों में एक–एक मेरु पर्वत है, जिसकी ऊँचाई तथा आकार आदि धातकी खंड के मेरु के तुल्य है । धातकी खंड की तरह इस द्वीप में भी 12 वर्षधर तथा 2 इष्वाकार पर्वत और 14 महाक्षेत्र आये हुए हैं ।

पुष्करार्द्ध द्वीप में जो 28 महानदियाँ हैं उनमें से 14 तो कालोदधि में मिलती हैं और शेष बाह्य प्रवाह वाली 14 महानदियाँ मानुषोत्तर पर्वत के नीचे विलय पाती हैं ।

जंबूद्वीप के मेरुपर्वत की तरह धातकी खंड और पुष्कर–द्वीप में दो–दो मेरु पर्वत हैं ।

5 मेरुपर्वत पर 30 सिंहासन हैं । भरत–एरावत और महाविदेह में काल का विपर्यय होने से एक साथ 30 तीर्थंकरों का जन्म नहीं होता है, बल्कि उत्कृष्ट से 20 व जघन्य से 10 तीर्थंकरों का जन्म हो सकता है, जो युक्तिसंगत है ।

## मनुष्य क्षेत्र की मर्यादा

**प्राग् मानुषोत्तरान्मनुष्याः ।।3-14।।**

**सामान्य अर्थ :–** मानुषोत्तर पर्वत के पहले (भीतर) ही मनुष्यों का वास है ।

**विवेचन :–** इस पुष्कर द्वीप के 8 लाख योजन बाद मानुषोत्तर पर्वत आया हुआ है, जो पुष्कर द्वीप को दो भागों में बाँटता है । इस पुष्कर द्वीप के आधे भाग तक के भीतरी भाग को ढाई द्वीप या मनुष्य क्षेत्र भी कहते हैं, क्योंकि मनुष्य की उत्पत्ति इस ढाई द्वीप के भीतर ही होती है ।

45 लाख योजन प्रमाण (जंबूद्वीप, लवण समुद्र, धातकी खंड,

कालोदधि समुद्र तथा पुष्करार्द्ध द्वीप) मनुष्य क्षेत्र है। इसे ढाई द्वीप भी कहते हैं, मनुष्य का जन्म–मरण इसी क्षेत्र में है।

ढाई द्वीप के बाहर मनुष्य का जन्म नहीं, मरण नहीं है। वहाँ धर्म नहीं, मोक्ष नहीं, तीर्थंकर नहीं, चक्रवर्ती नहीं। सूर्य चन्द्र स्थिर होने से सदाकाल रात–दिन हैं परन्तु काल–व्यवस्था नहीं है। तथा उत्पात सूचक गांधर्व नगर आदि चिह्न भी नहीं होते हैं।

## मनुष्य के भेद

**आर्या म्लिशाश्च ।।3-15।।**

**सामान्य अर्थ :–** मनुष्य के मुख्य दो भेद हैं–आर्य और म्लेच्छ।

**विवेचन :–** ढाई द्वीप स्वरूप मनुष्य क्षेत्र में पैदा होनेवाले मनुष्य सभी एक समान नहीं होते हैं। मनुष्यों के मुख्यतया दो भेद हैं– आर्य और म्लेच्छ (अनार्य)।

**1) आर्य –** जो शिष्ट लोगों के उचित, अनुकूल आचरण करे वह आर्य। आर्य के छह भेद हैं–

**i) क्षेत्र आर्य –** ढाई द्वीप में रहे पाँच भरत, पाँच एरावत और पाँच महाविदेह के 32 विजयों में चक्रवर्ती के जीतने योग्य 32,000 देश होते हैं।

28 पुरुष और 32 स्त्री रूप 60 व्यक्ति का एक कुल होता है। ऐसे 10,000 कुल का एक ग्राम। 30,000 ग्रामों का एक देश। मध्य खंड को छोड़ अन्य पाँच खंडों में, प्रत्येक में 5336 देश, इस प्रकार 5336 x 5 = 26680 देश एवं मध्य खंड के 5320 देश मिलाकर 32,000 देश होते हैं।

इनमें मात्र अंग, बंग, कलिंग, मगध आदि साढ़े पच्चीस देश ही आर्य देश होते हैं। इन देशों में उत्पन्न होने वाले मनुष्य अच्छे संस्कार वाले और सदाचारी होते हैं। इन क्षेत्रों की भूमि पवित्र होने से धर्म की आराधना भी मात्र इन क्षेत्रों में ही होती है। तीर्थंकर, चक्रवर्ती, वासुदेव,

बलदेव आदि उत्तम पुरुषों का जन्म भी इन्हीं क्षेत्रों में होता है । इनमें पैदा होने वाले मनुष्य, क्षेत्र की अपेक्षा से आर्य मनुष्य होते हैं ।

**(ii) जाति आर्य :–** जो मनुष्य इक्ष्वाकु, विदेह, हरि, ज्ञात, कुरु, उग्र, भोग आदि उत्तम वंश में जन्म लेते हैं, वे जाति की अपेक्षा आर्य मनुष्य होते हैं ।

**(iii) कुल आर्य :–** जो मनुष्य कुलकर, चक्रवर्ती, वासुदेव आदि उत्तम कुल में जन्म लेते हैं, वे कुल की अपेक्षा आर्य मनुष्य होते हैं ।

**(iv) कर्म आर्य :–** जो मनुष्य अल्प पाप-व्यापार कर अपना जीवन निर्वाह करते हैं, वे कर्म की अपेक्षा से आर्य होते हैं । जैसे–व्यापारी, सुथार, शिक्षक आदि ।

**(v) शिल्प आर्य :–** जो मनुष्य, मानवजीवन में उपयोगी कला धारण कर जीवननिर्वाह करते हैं, वे शिल्प की अपेक्षा आर्य होते हैं । जैसे–बुनकर, कुम्हार आदि ।

**(vi) भाषा आर्य :–** जो मनुष्य शिष्ट पुरुषों को मान्य, सुव्यवस्थित शब्दवाली और स्पष्ट उच्चारवाली सभ्य भाषा बोलते हैं, वे भाषा की अपेक्षा आर्य होते हैं ।

**(2) म्लैच्छ –** पाँच भरत, पाँच ऐरावत और पाँच महाविदेह के 32 विजयों में रहे साढ़े पच्चीस देश सिवाय के जो अन्य देश हैं, वे अनार्य देश हैं । वहाँ रहे यवन, शक, भील आदि जाति के मनुष्य तथा लवणसमुद्र में रहे 56 अन्तर्द्वीप के मनुष्य म्लेच्छ अर्थात् अनार्य कहलाते हैं ।

सूर्यप्रज्ञप्ति–अध्याय 5, उद्देश–1 के अनुसार ``जिन देशों में लोगों को `धर्म' शब्द स्वप्न में भी सुनने या जानने में नहीं आता है, वे अनार्य देश हैं ।

## कर्मभूमि की संख्या

**भरतैरावतविदेहाः कर्मभूमयोऽन्यत्र देवकुरूत्तरकुरुभ्यः ।।3-16।।**

**सामान्य अर्थ :–** देवकुरु और उत्तरकुरु को छोड़कर पाँच भरत, पाँच ऐरावत और पाँच महाविदेह–कुल 15 कर्मभूमि हैं ।

**विवेचन :–** ढाई द्वीप में मनुष्य के उत्पन्न होने योग्य 101 क्षेत्र हैं–15 कर्म भूमि, 30 अकर्मभूमि और 56 अन्तर्द्वीप ।

**1) कर्मभूमि :–** जिन-जिन क्षेत्रों में असि, मसि, कृषि आदि व्यापार होता है, उन्हें कर्मभूमि कहते हैं । इन्हीं क्षेत्रों में तीर्थंकरों की उत्पत्ति होती है । तीर्थंकरों द्वारा तीर्थ की स्थापना भी इन्हीं क्षेत्रों में होती है । इन्हीं क्षेत्रों में उत्पन्न मनुष्यों का मोक्ष हो सकता है । ये कर्मभूमियाँ 15 हैं, 5 भरतक्षेत्र, 5 ऐरावतक्षेत्र और 5 महाविदेह क्षेत्र ।

जंबूद्वीप में 1 भरत, 1 ऐरावत और 1 महाविदेह क्षेत्र है । धातकी खंड द्वीप में 2 भरत, 2 ऐरावत और 2 महाविदेह क्षेत्र हैं । पुष्करार्धद्वीप में 2 भरत, 2 ऐरावत और 2 महाविदेह क्षेत्र हैं ।

**2) अकर्मभूमि –** जहाँ असि, मसि, कृषि आदि व्यापार नहीं होता है । जहाँ मनुष्य युगल के रूप में ही (युगलिक) पैदा होते हैं । जहाँ तीर्थंकर की उत्पत्ति, तीर्थ, साधु–साध्वी, श्रावक–श्राविका का अभाव होता है । जहाँ उत्पन्न हुई आत्मा का मोक्ष नहीं होता है । जहाँ मनुष्यों को आहार आदि की प्राप्ति कल्पवृक्षों से हो जाती है । अत्यंत सरल व भद्रिक परिणामी होने के कारण वे सभी युगलिक मरकर देवलोक में उत्पन्न होते हैं । ये अकर्मभूमियाँ 30 हैं, 5 हैमवंत क्षेत्र 5 हिरण्यवंत क्षेत्र, 5 हरिवर्ष क्षेत्र, 5 रम्यक् क्षेत्र, 5 उत्तरकुरु और 5 देवकुरु ।

इन 30 अकर्मभूमियों में से हैमवंत क्षेत्र, हिरण्यवंत क्षेत्र, हरिवर्ष क्षेत्र और रम्यक् क्षेत्र का वर्णन इस अध्याय के 11 वें सूत्र में है । देवकुरु और उत्तरकुरु का स्वरूप बताते हैं–

## देवकुरु और उत्तरकुरु

**देवकुरु क्षेत्र :–** देवकुरु नाम का अधिपति देव उस क्षेत्र में रहने से, उसे देवकुरु कहते हैं ।

**उत्तरकुरु क्षेत्र –** उत्तरकुरु नाम का अधिपति देव उस क्षेत्र में रहने से उसे उत्तरकुरु कहते हैं । (उन दोनों का आयुष्य 1 पल्योपम का होता है । )

मेरुपर्वत के उत्तर में तथा नीलवान् पर्वत के दक्षिण में उत्तरकुरु क्षेत्र है। यह उत्तर–दक्षिण में चौड़ा और पूर्व–पश्चिम में लंबा है। उत्तर–दक्षिण में इसका विस्तार 11842 योजन व दो कला है।

यहाँ 10 प्रकार के कल्पवृक्ष हैं, जो यहाँ उत्पन्न युगलिकों की मनोकामनाओं को पूर्ण करते हैं। यहाँ के मनुष्यों की ऊँचाई तीन कोस और आयुष्य तीन पल्योपम होता है, उनके शरीर में 256 पसलियाँ होती हैं। संतान का पालन 49 दिन करते हैं और मरकर देवलोक में उत्पन्न होते हैं। तीन दिन के बाद आहार लेते हैं।

मेरुपर्वत से दक्षिण में व निषध पर्वत के उत्तर में देवकुरु क्षेत्र आया हुआ है। इसका प्रमाण उत्तरकुरु के समान है। उत्तरकुरु के समान ही यहाँ मनुष्य की ऊँचाई और आयुष्य है।

**3) 56 अन्तर्द्वीप –** लघुहिमवंत पर्वत तथा शिखरी पर्वत में से पूर्व तथा पश्चिम लवण समुद्र में विदिशाओं में 8400 योजन प्रमाणवाली दाढ़ाओं ऊपर 7-7 अन्तर्द्वीप हैं। ये द्वीप गोलाकार तथा 500 धनुष चौड़ी तथा दो गाउ ऊँची पद्मवर वेदिका तथा वनखंड से आवर्तित हैं। लघुहिमवंतादि से प्रथम द्वीप 300 योजन दूर तथा 300 योजन प्रमाण वाला है। इसके बाद क्रमशः दूसरा–तीसरा–चौथा–पाँचवाँ–छठा तथा सातवाँ द्वीप 400-500-600-700-800 तथा 900 योजन प्रमाण विस्तृत तथा एक–दूसरे द्वीप से अंतरवाले हैं।

इन द्वीपों में उत्पन्न मनुष्यों की ऊँचाई 800 धनुष प्रमाण है, युगलिक धर्मवाले तथा रोगादि से मुक्त होते हैं। पल्योपम के असंख्य भाग जितने आयुष्यवाले तथा एकांतर भोजन करनेवाले होते हैं। उनके शरीर में 64 पसलिया होती हैं। अपने जीवन के छह माह का आयुष्य शेष रहने पर वे पुत्र–पुत्री युगल को जन्म देते हैं। 79 दिनों तक उनका पालन-पोषण करके अंत में समाधिपूर्वक मृत्यु प्राप्तकर देवलोक में उत्पन्न होते हैं। नवजात युगल 79 दिनों में युवा व्यक्ति के समान पाँच इन्द्रिय के भोग के काबिल बन जाते हैं। इस क्षेत्र में अन्य अकर्मभूमि की तरह तीर्थंकर, तीर्थ व शासन का अभाव होता है।

## देवकुरु-उत्तरकुरु क्षेत्र

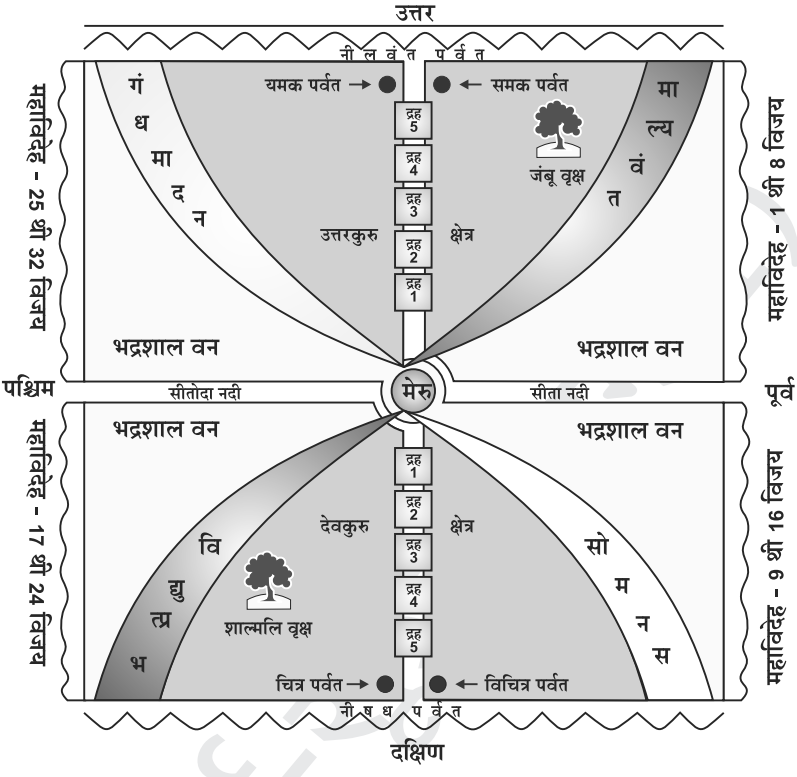


### लवण समुद्र में रहे 56 अंतद्वीप

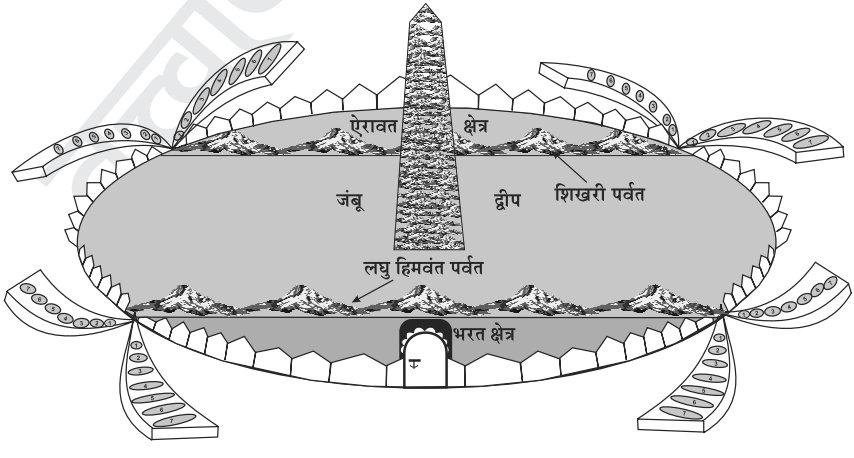

**युगलिक क्षेत्र :** इस क्षेत्र में रहे हुए कल्पवृक्ष के फलों का स्वाद चक्रवर्ती के वर्ण-गंध-रस से बने हुए स्वादिष्ट भोजन से भी अनंतगुणा स्वादिष्ट होता है तथा पृथ्वी की जो मिट्टी होती है वह शक्कर से भी अनंतगुणी मिठी होती है । वहाँ पर गेहूँ, चावल, अनाज होने पर भी अग्नि का अभाव होने से उनका उपयोग नहीं करते । हाथी, सिंह, वाघ, वगैरह हिंसक जानवर उत्पन्न होते हैं, परंतु वे मनुष्यों को किसी भी प्रकार की पीड़ा नहीं करते । घोडा, ऊँट वगैरह प्राणी वहाँ है, परंतु मनुष्य उनका उपयोग नहीं करते हैं । इस क्षेत्र में डाँस, मच्छर, चींटी, मकोड़ा वगैरह शरीर को पीड़ा करनेवाले जंतु उत्पन्न नहीं होते है । मनुष्य को बीमारी आती नहीं है, मात्र खाँसी अथवा छींक आदि आने से आयुष्य पूर्ण हो जाता है । मनुष्य अत्यंत अल्प क्रोध, मान, माया, लोभ वाले, सदा संतोषी, सरल तथा नम्रतावाले होने से मरकर देवलोक में उत्पन्न होते हैं । वहाँ पर स्वामी सेवक भाव नहीं होता है ।

**काल व्यवस्था :** यद्यपि मेरुपर्वत को प्रदक्षिणा देते हुए सूर्य, चंद्र आदि भरत, एरावत और महाविदेह क्षेत्र में समान गति से आते हैं और प्रकाश देते हैं । फिर भी लोकस्थिति ही ऐसी है कि भरत और एरावत क्षेत्र में काल के अनुसार वहाँ उत्पन्न हुए जीवों के आयुष्य, ऊँचाई, शारीरिक-बल, सुख-दुःख आदि में परिवर्तन होता रहता है, लंबे समय तक तीर्थंकर के शासन का सर्वथा अभाव रहता है । उस समय मनुष्य युगलिक के रूप में ही पैदा होते हैं । अकर्मभूमि जैसी स्थिति होती है । जब कि महाविदेह क्षेत्र में सदैव अवस्थित काल रहता है, वहाँ सदैव अवसर्पिणी काल के चौथे आरे जैसे भाव होते हैं । सदाकाल तीर्थंकरों का शासन होने से सदैव मोक्षमार्ग चलता है, वहाँ से जीव मोक्ष में जाते रहते हैं ।

## अवसर्पिणी काल के छह आरे

**1) सुषमसुषमा आरा :–** इसे पहला आरा भी कहते हैं । इस आरे का काल चार कोटा कोटि सागरोपम है, इस आरे में मनुष्य की

ऊँचाई तीन गाउ और आयु तीन पल्योपम होता है ।

मनुष्यों को वज्रऋषभ नाराच नामक पहला संघयण और समचतुरस्त्र संस्थान नामक पहला संस्थान होता है । स्त्री-पुरुष युगल रूप में एक साथ पैदा होते हैं । 10 प्रकार के कल्पवृक्षों से उनकी इच्छाएँ पूर्ण हो जाती हैं । तीन–तीन दिन बाद उन्हें आहार की इच्छा होती है और तुअर प्रमाण आहार से तृप्ति हो जाती है । आयुष्य छह मास बाकी रहने पर स्त्री एक पुत्र–पुत्री युगल को जन्म देती है । 49 दिन तक उनका पालन–पोषण करती है, फिर वे स्वावलंबी हो जाते हैं । उनके शरीर में 256 पसलियाँ होती हैं । अल्प विषय–कषाय व भद्रिक परिणामी होने से वे मरकर देवलोक में पैदा होते हैं ।

**2) सुषम आरा :–** इस दूसरे आरे का प्रमाण तीन कोटाकोटि सागरोपम है । इस आरे में मनुष्य की ऊँचाई दो गाउ तथा आयुष्य दो पल्योपम होता है । शरीर में 128 पसलियाँ होती हैं । उन्हें दो दिन बाद आहार की इच्छा होती है और बोर जितने आहार से तृप्ति हो जाती है । वे 64 दिन तक पुत्र-पुत्री का पालन करते हैं । मरकर देवगति में उत्पन्न होते हैं ।

पहले आरे की अपेक्षा देह, बुद्धि, बल, कीर्ति आदि में हानि होती है ।

**3) सुषम दुःषम आरा :–** इस तीसरे आरे का काल दो कोटा कोटि सागरोपम है । इस आरे में सुख ज्यादा व दुःख थोड़ा होता है । शरीर की ऊँचाई 1 गाउ, आयुष्य 1 पल्योपम, शरीर में 64 पसलियाँ होती हैं । आहार की इच्छा 1 दिन बाद होती है और आँवले जितने आहार से तृप्ति हो जाती है । 79 दिन तक पुत्र-पुत्री का पालन करते है ।

तीसरे आरे के 84 लाख पूर्व, तीन वर्ष 8 मास बाकी रहने पर प्रथम तीर्थंकर का जन्म होता है । काल के प्रभाव से कल्पवृक्षों की महिमा धीरे–धीरे नष्ट हो जाती है । बादर अग्नि पैदा होती है । युगलिकों की विनती से प्रथम तीर्थंकर परमात्मा, दीक्षा लेने के पूर्व लोगों को सभी

शिल्प व कलाएँ सिखाते हैं । राज्य-व्यवस्था, सामाजिक-व्यवस्था, लग्न–व्यवस्था, व्यापार, कृषि आदि का प्रारंभ होता है । प्रथम चक्रवर्ती इस आरे में पैदा होते हैं । प्रथम तीर्थंकर के निर्वाण के 3 वर्ष 8 महीने बाद चौथे आरे का प्रारंभ होता है ।

**4) दु:षम सुषम आरा :–** इस आरे का प्रमाण 42000 वर्ष न्यून 1 कोटाकोटि सागरोपम है । इस आरे में दु:ख ज्यादा व सुख कम होता है । इस आरे में 23 तीर्थंकर 11 चक्रवर्ती, 9 बलदेव, 9 वासुदेव, 9 प्रतिवासुदेव आदि पैदा होते हैं । मनुष्यों का आयुष्य 1 करोड़ पूर्व वर्ष तथा ऊँचाई 500 धनुष की होती है ।

3 वर्ष 8 मास बाकी रहने पर चरम तीर्थपति मोक्ष में जाते हैं । तीसरे व चौथे आरे में उत्पन्न मनुष्य ही मोक्ष में जा सकते हैं ।

**5) दु:षम आरा :–** चरम तीर्थपति के निर्वाण के 3 वर्ष 8½ मास बीतने पर 5वें दु:षम आरे का प्रारंभ होता है । यह आरा 21000 वर्ष प्रमाण है । इस आरे के प्रारंभ में ऊँचाई 7 हाथ, आयुष्य 130 वर्ष व शरीर में 16 पसलियाँ होती हैं । आहार अनियत होता है ।

इस आरे के प्रभाव से लोगों में काम–क्रोध–लोभ व संघर्ष बढ़ते हैं, शहर जंगल व जंगल शहर बन जाते हैं । बल, बुद्धि, आयुष्य में हानि होती है । सुकुल में आचारहीन व हीनकुलवाले आचारसंपन्न दिखाई देते हैं । विनय मर्यादा की हानि, गुणवानों की निंदा, क्षुद्र जंतुओं की उत्पत्ति, दुष्काल, अतिवृष्टि–अनावृष्टि के उपद्रव, हिंसा की वृद्धि, अनेक मत–मतांतरों की उत्पत्ति तथा पाखंडियों का प्रचार होता है । देवी–देवता प्रत्यक्ष नहीं आते हैं, दूध–घी, धान्य, वनस्पति आदि के रसकस में हानि होती है । संयमी को कष्ट पड़ता है, उत्सूत्र प्ररूपणा बढ़ती है, परस्पर प्रेम भाव घटता है । इस प्रकार अनेक प्रकार की विकट परिस्थिति का निर्माण होने से सद्धर्म की आराधना घटती है, मिथ्यात्व का जोर बढ़ता है । दुर्गतिगामी जीव पैदा होते हैं ।

**6. दु:षम–दु:षम आरा :–** इस आरे में दु:ख का परिमाण

अत्यधिक बढ़ जाता है । इस आरे का प्रमाण 21000 वर्ष का है । इस आरे में दिन में भयंकर गर्मी व रात्रि में भयंकर ठंडी पड़ती है । मकान–किले आदि का अभाव होने से लोग वैताढ्य पर्वत के उत्तर व दक्षिण में गंगा व सिंधु नदी के आमने–सामने तट पर 36-36 बिलों में रहते हैं । आयुष्य 20 वर्ष, ऊँचाई 1 हाथ रहती है । आहार की इच्छा अमर्यादित रहती है । खाने पर भी तृप्ति नहीं होती है । लोग मछली आदि जलचरों को पकड़कर रेती में दबाएंगे, सूर्य के ताप से पकने पर रात्रि में उनका भक्षण करेंगे । परस्पर अत्यंत क्लेश बढ़ेगा । भयंकर कोटि के पाप करेंगे, आयुष्य पूर्ण कर नरक तिर्यंचगति में जाएंगे ।

**उत्सर्पिणी काल :** अवसर्पिणी काल से ठीक विपरीत भाव उत्सर्पिणी काल में होते हैं । यहाँ पहला आरा दु:षम दु:षम 21000 वर्ष का होता है । दूसरा दु:षम आरा 21000 वर्ष का, तीसरा दु:षम सुषम 42000 वर्ष न्यून 1 कोटाकोटि सागरोपम का, चौथा सुषम दु:षम आरा दो कोटाकोटि सागरोपम, पाँचवाँ सुषम आरा तीन कोटाकोटि सागरोपम का तथा छठा आरा चार कोटाकोटि सागरोपम का होता है ।

इसमें तीसरे व चौथे आरे में तीर्थंकर पैदा होते हैं ।

**काल चक्र :** एक उत्सर्पिणी और 1 अवसर्पिणी मिलकर 20 कोटाकोटि सागरोपम काल को एक कालचक्र कहते हैं । कालचक्र में कुल 48 तीर्थंकर पैदा होते हैं ।

भरत व ऐरावत क्षेत्र में कालचक्र की यह व्यवस्था रहती है । भरत व ऐरावत क्षेत्र में तीर्थंकर व तीर्थंकर के शासन का अस्तित्व एक कालचक्र में सिर्फ दो कोटाकोटि सागरोपम तक ही रहता है, शेष 18 कोटाकोटि सागरोपम तक धर्म व शासन का सर्वथा अभाव रहता है ।

**कोड़ाकोड़ी का अर्थ :–** एक करोड़ को 1 करोड़ से गुणा करने पर जो संख्या आती है, उसे कोड़ाकोड़ी या कोटाकोटि कहते हैं ।

10 कोटाकोटि का अर्थ 10 करोड़ को 10 करोड़ से गुणने का नहीं है बल्कि 10 करोड़ को 1 करोड़ से गुणना है ।

## मनुष्य और तिर्यंच का जघन्य और उत्कृष्ट आयुष्य

**नृस्थिती परापरे त्रिपल्योपमान्तर्मुहूर्ते ।।3-17।।**
**तिर्यग्योनीनां च ।।3-18।।**

**सामान्य अर्थ :–** मनुष्य और तिर्यंच का उत्कृष्ट आयुष्य तीन पल्योपम है तथा जघन्य आयुष्य अन्तर्मुहूर्त काल है ।

**विवेचन :–** मनुष्य और तिर्यंच की पर अर्थात् उत्कृष्ट आयुष्य स्थिति 3 पल्योपम होती है । यह उत्कृष्ट स्थिति देवकुरु और उत्तर कुरु क्षेत्र तथा कालचक्र के सुषम–सुषम आरे में युगलिक मनुष्य और पंचेन्द्रिय गर्भज चतुष्पद तिर्यंच की होती है ।

तथा उनकी अपर–अर्थात् जघन्य आयुष्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की होती है । मुहूर्त अर्थात् दो घड़ी–48 मिनिट । जो काल दो घड़ी से कम हो, वह अन्तमुहूर्त है ।

### मनुष्य का उत्कृष्ट आयुष्य

| आरा एवं क्षेत्र के मनुष्य | उत्कृष्ट आयुष्य |
|---|---|
| सुषम–सुषम आरा एवं देवकुरु–उत्तरकुरु | 3 पल्योपम |
| सुषम आरा एवं हरिवर्ष क्षेत्र, रम्यक् क्षेत्र | 2 पल्योपम |
| सुषम–दु:षम आरा एवं हिमवंत क्षेत्र, हिरण्यवंत क्षेत्र | 1 पल्योपम |
| 56 अन्तर्द्वीप | पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग |
| दु:षम–सुषम आरा एवं महाविदेह क्षेत्र के 32 विजय. | 1 क्रोड पूर्व वर्ष |
| दु:षम आरा | 130 वर्ष |
| दु:षम–दु:षम आरा | 20 वर्ष |

# तिर्यंचों का उत्कृष्ट आयुष्य

| जीव | उत्कृष्ट आयुष्य |
|---|---|
| पृथ्वीकाय | 22000 वर्ष |
| अप्काय | 7000 वर्ष |
| तेउकाय | 3 दिन |
| वायुकाय | 3000 वर्ष |
| वनस्पतिकाय | 10000 वर्ष |
| द्वीन्द्रिय | 12 वर्ष |
| त्रीन्द्रिय | 49 दिन |
| चतुरिन्द्रिय | 6 मास |
| पंचेन्द्रिय गर्भज जलचर | पूर्व क्रोड़ वर्ष |
| पंचेन्द्रिय गर्भज उरपरिसर्प | पूर्व क्रोड़ वर्ष |
| पंचेन्द्रिय गर्भज भुजपरिसर्प | पूर्व क्रोड़ वर्ष |
| पंचेन्द्रिय गर्भज चतुष्पद | तीन पल्योपम |
| पंचेन्द्रिय गर्भज खेचर | पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग |
| पंचेन्द्रिय संमूर्च्छिम जलचर | पूर्व क्रोड़ वर्ष |
| पंचेन्द्रिय संमूर्च्छिम उरपरिसर्प | 53000 वर्ष |
| पंचेन्द्रिय संमूर्च्छिम भुजपरिसर्प | 42000 वर्ष |
| पंचेन्द्रिय संमूर्च्छिम चतुष्पद | 84000 वर्ष |
| पंचेन्द्रिय संमूर्च्छिम खेचर | 72000 वर्ष |

# अध्याय-3

## नरक

**पृथ्वियाँ**
1) रत्नप्रभा
2) शर्कराप्रभा
3) वालुकाप्रभा
4) पंकप्रभा 5) धूमप्रभा
6) तम:प्रभा 7) महातम:प्रभा

**आधार**
1) घनोदधि
2) घनवात
3) तनवात
4) आकाश

**नित्यदु:ख**
1) अशुभतर लेश्या
2) अशुभतर परिणाम
3) अशुभतर देह
4) अशुभतर विक्रिया

**अन्यदु:ख**
1) परस्पर जनीत दु:ख
2) 4 नरक तक परमाधार्मिक जनीत दु:ख

**उत्कृष्ट आयुष्य (सागरोपम)**
1) 1
2) 3
3) 7
4) 10
5) 17
6) 22
7) 33

## मनुष्यलोक

**द्वीप समुद्र (सूत्र 7,8,9)**
1) जंबूद्वीप आदि शुभ नामवाले
2) सभी दो-दो गुणा विस्तार वाले
3) सभी वलय आकृति के,
4) सबसे मध्ये में 1 लाख योजन विस्तार वाला जंबू द्वीप है ।
5) जंबूद्वीप के बीच में मेरु पर्वत है ।

**जंबूद्वीप के क्षेत्र (सूत्र 10)**
1) भरत
2) हैमवत
3) हरिवर्ष
4) महाविदेह
5) रम्यक्
6) हैरण्यवत
7) एरावत

**क्षेत्र के वीच पर्वत (क्रमश:) (सूत्र 11)**
1) हिमवान्
2) महाहिमवान्
3) निषध
4) नीलवंत
5) रुक्मि
6) शिखरी

**धातकी खंड और पुष्करार्ध द्वीप में (सूत्र 12,13)**
ये सभी क्षेत्र और पर्वत दुगुणे है ।

**मनुष्य क्षेत्र (सूत्र 14)**
मानुपोत्तर पर्वत तक ढाई द्वीप में ही मनुष्य का जन्म और मरण हो सकता है ।

## मनुष्य

**भेद (सूत्र 15)**
1) आर्य
2) म्लेच्छ

**कर्मभूमि**
पांच भरत क्षेत्र
पांच एरावत क्षेत्र
पांच महाविदेह क्षेत्र

**मनुष्य और तिर्यंच के आयुष्य (सूत्र 17,18)**

| जघन्य | उत्कृष्ट |
|---|---|
| अन्तर्मुहूर्त | तीनपल्योपम |

# चतुर्थ अध्याय

तीसरे अध्याय में नारक, मनुष्य एवं तिर्यंच का वर्णन कर अब चौथे अध्याय में देवों का विस्तार से वर्णन करते हैं ।

## देवों के भेद

**देवाश्चतुर्निकायाः ॥4-1॥**

**सामान्य अर्थ :–** देवों के चार निकाय (भेद) है ।

**विवेचन :–** इतिहास के स्वर्णिम पृष्ठों पर कई उत्तम आत्माओं के चरित्रों का आलेखन हुआ है । मनुष्यभव में जो आत्माएँ संपूर्ण कर्मों का क्षय कर देती हैं, वे आत्माएँ तो देह का त्याग कर मोक्ष में चली जाती हैं, जहाँ वे आत्माएँ सदा काल के लिए रहती हैं, वे आत्माएँ जन्म-जरा-मृत्यु आधि व्याधि उपाधि, रोग–शोक–भय आदि से सर्वथा मुक्त हो जाती हैं, परंतु जो आत्माएँ सर्व कर्मों का क्षय नहीं करती हैं, उन आत्माओं को पुनः जन्म धारण करना पड़ता है ।

इस विराट् विश्व में जो अनंतानंत आत्माएँ हैं, वे जन्म-मरण को धारण करती हुई देव, मनुष्य, नरक और तिर्यंच इन चार गतियों में भ्रमण करती हैं ।

जो आत्माएँ अत्यधिक पाप करती हैं, वे आत्माएँ मरकर नरक व तिर्यंचगति में जाती हैं ।

जो आत्माएँ अत्यधिक पुण्य करती हैं, वे आत्माएँ मरकर देव व मनुष्य गति में जाती हैं ।

लोकस्थिति ही ऐसी है कि कोई भी देव मरकर पुनः दूसरे भव में देव नहीं बनता है और नरक के जीव भी मरकर देवलोक में उत्पन्न नहीं होते हैं । इससे स्पष्ट है कि मनुष्य और तिर्यंच ही मरकर देवलोक में पैदा होते हैं ।

देवों के मुख्य चार भेद हैं– 1. भवनपति, 2. व्यंतर, 3. ज्योतिष और 4. वैमानिक ।

यह पूरा विश्व चौदह राजलोक स्वरूप है । ये चौदह राजलोक तीन भागों में विभाक्त किये गए हैं । मेरुपर्वत के भूमितल से 900 योजन ऊपर और 900 योजन नीचे मध्य लोक है । इसे तिर्च्छा लोक भी कहते हैं । ऊपर के 900 योजन के बाद रहे लोक को ऊर्ध्वलोक कहते हैं और नीचे के लोक को अधोलोक कहते हैं ।

चार प्रकार के देवों में से भवनपति निकाय के देवता अधोलोक में हैं । व्यंतर और ज्योतिष निकाय के देवता तिर्च्छालोक में हैं एवं वैमानिक निकाय के देवता ऊर्ध्वलोक में है । तीन लोक की अपेक्षा से बताए ये स्थान उनके जन्म के आश्रय से है । बाकी क्रीड़ा आदि करने हेतु ये देवताओं के महल और भवन, जंबूद्वीप की जगती, मेरुपर्वत, लवण समुद्र आदि तिर्च्छा लोक में अनेक स्थान पर आये हुए हैं ।

## ज्योतिष्क देवों की लेश्याएं

**तृतीयः पीतलेश्यः ।।4-2।।**

**सामान्य अर्थ :–** तीसरे प्रकार के देवता पीत लेश्या वाले होते हैं ।

**विवेचन :–** चारगति में रहे जीवों की अपेक्षा मनुष्य और तिर्यंच की प्राणिसृष्टि हमारे लिए प्रत्यक्ष है परंतु देवता और नारकों की प्राणिसृष्टि परोक्ष है । इसी कारण देवताओं और नारकों के विषय में श्रद्धा होना कठिन है ।

देवों के जो चार निकाय प्रथम सूत्र में बताए हैं, उनमें से सूर्य–चन्द्र आदि ज्योतिष के देव विमान हैं । उनकी लेश्या का वर्ण पीत अर्थात् पीला है ।

अध्याय के प्रारंभ में देवों की जातियाँ बताकर प्रत्यक्ष में दिखने वाले देव विमान, देवों के अस्तित्व को सिद्ध किया है ।

## देवों के भेद

**दशा–ऽष्ट–पञ्च–द्वादश विकल्पाः कल्पोपपन्नपर्यन्ताः ।।4-3।।**

**सामान्य अर्थ :–** भवनपति, व्यंतर, ज्योतिष और वैमानिक के क्रमशः दश, आठ, पाँच और बारह भेद हैं। ये सभी भेद कल्पोपपन्न देवों के हैं।

**विवेचन :–** कल्प अर्थात् आचार–मर्यादा। जहाँ बड़े–छोटे, स्वामी–सेवक भाव आदि आचार मर्यादा होती है, उन्हें कल्पोपपन्न कहा जाता है। चार प्रकार के देवनिकाय में भवनपति के सभी दश भेद, व्यंतर के सभी आठ भेद, ज्योतिष के सभी पाँच भेद एवं वैमानिक के मात्र बारह भेद तक के देवता कल्पोपपन्न कहलाते हैं।

इनसे अतिरिक्त नौ ग्रेवेयक और पाँच अनुत्तर के देवता कल्पातीत हैं, जिनका वर्णन आगे के सूत्र में होगा।

## कल्पोपपन्न देवों के प्रकार

**इन्द्र–सामानिक–त्रायस्त्रिंश–पारिषद्या–ऽऽत्मरक्ष–लोकपाला–ऽनीक-प्रकीर्णका–ऽऽभियोग्य–किल्बिषिकाश्चैकशः ।।4-4।।**

**सामान्य अर्थ :–** कल्पोपपन्न देवों में, भवनपति आदि प्रत्येक में–इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश, पारिषद्य, आत्मरक्षक, लोकपाल, अनीक, प्रकीर्णक, आभियोग्य और किल्बिषिक–ये दश प्रकार के देव होते हैं।

**विवेचन :–** भवनपति आदि देवनिकाय में बताए, दश आदि भेदों में प्रत्येक में दश प्रकार के देवता होते हैं।

**1) इन्द्र –** सभी देवताओं के अधिपति अर्थात् राजा स्वरूप के देवता को इन्द्र कहते हैं।

**2) सामानिक –** इन्द्र के समान ऋद्धिवाले, जो पिता, उपाध्याय आदि की तरह इन्द्र के लिए भी आदरणीय देवता होते हैं, उन्हे सामानिक कहते हैं।

**3) त्रायस्त्रिंश –** जो देवता, इन्द्र के सलाहकार जैसे, अथवा शांतिकर्म करने वाले राज–पुरोहित होते हैं, उन्हें त्रायस्त्रिंश कहते हैं। दैविक भोगों में अति आसक्ति के कारण उन्हें दोगुंदक भी कहते हैं।

**4) पारिषद्य –** इन्द्र की सभा में जो सभ्य होते हैं, उन्हें पारिषद्य कहते हैं। ये देवता इन्द्र के मित्र समान होते हैं। विशेष अवसरों पर ये देवता इन्द्र को आनंद–विनोद करके प्रसन्न करते हैं।

**5) आत्मरक्षक –** इन्द्र की रक्षा के लिए जो देवता शस्त्र सहित, कवच पहनकर सदा युद्ध के लिए तत्पर होते हैं, उन्हें आत्मरक्षक कहते हैं। सामान्य से इन्द्र को किसी का भय नहीं होता है, फिर भी शस्त्रसंबद्ध आत्मरक्षक देवता, उनकी समृद्धि बताने के लिए ही है।

**6) लोकपाल –** इन्द्र के चारों ओर चार दिशा में रहे चौकीदार समान जो देवता होते हैं, उन्हें लोकपाल कहते हैं।

**7) अनीक –** जो सेना अथवा सेनाधिपति समान देव होते हैं, उन्हें अनीक कहते हैं।

**8) प्रकीर्णक –** जो नगर या ग्राम में रहने वाले सामान्य नागरिक के समान देव होते हैं, उन्हें प्रकीर्णक कहते हैं।

**9) आभियोग्य –** जो विमानों को वहन करने आदि कार्य करने वाले नौकर समान देव होते हैं, उन्हें आभियोग्य कहते हैं।

**10) किल्बिषिक –** जो अंत्यज (भंगी) के समान हल्के देव होते हैं, उन्हें किल्बिषिक देव कहते हैं।

सामान्य से उन्हें देवलोक में हल्के कार्य नहीं करने पड़ते हैं, परंतु अन्य देवता, इन्हें इस प्रकार की हल्की दृष्टि से देखते हैं। वैमानिक देवलोक में इनके स्थान पहले–दूसरे देवलोक के नीचे, तीसरे देवलोक के नीचे और छठे देवलोक के नीचे हैं।

## व्यंतर–ज्योतिष देवों में विशेषता

**त्रायस्त्रिंश–लोकपालवर्ज्या व्यन्तर–ज्योतिष्काः ।।4-5।।**

**सामान्य अर्थ :–** व्यंतर और ज्योतिष देवों में त्रायस्त्रिंश और लोकपाल का अभाव है ।

**विवेचन :–** पूर्व के सूत्र में भवनपति आदि के प्रत्येक भेदों में रहे दस प्रकार के देवों के भेद बताए । जबकि व्यंतर और ज्योतिष देवों में त्रायस्त्रिंश और लोकपाल के अभाव का निर्देश इस सूत्र में किया गया है । अर्थात् व्यंतर और ज्योतिष में इन्द्र आदि मात्र आठ भेद ही होते हैं, त्रायस्त्रिंश और लोकपाल देवों का अभाव होता हैं ।

## भवनपति और व्यंतर में इन्द्र

**पूर्वयोर्द्वीन्द्राः ।।4-6।।**

**सामान्य अर्थ :–** प्रारंभ के दो निकाय (भवनपति और व्यंतर) में प्रत्येक भेद में दो–दो इन्द्र होते हैं ।

**विवेचन :–** भवनपति के दस निकाय में प्रत्येक में दो–दो इन्द्र होने से कुल 20 इन्द्र हैं । एवं व्यंतर के दो भेद हैं–व्यंतर और वाणव्यंतर । इन दोनों के आठ–आठ भेद हैं और प्रत्येक में दो–दो इन्द्र हैं । इस तरह व्यंतर निकाय के कुल 2 x 8 x 2 = 32 इन्द्र हैं ।

परमात्मा के जन्माभिषेक में आने वाले 64 इन्द्रों में भवनपति के 20 और व्यंतर के 32 इन्द्र होते हैं । इनसे अतिरिक्त ज्योतिष निकाय में असंख्य सूर्य–चन्द्र के विमान होने पर भी, सूर्य का एक इन्द्र और चन्द्र का एक इन्द्र, इस तरह मात्र दो इन्द्र ही गणना में होते हैं । एवं वैमानिक के कल्पोपपन्न 12 प्रकार में से प्रथम आठ देवलोक के एक–एक इन्द्र एवं 9वें – 10वें का एक और 11वें–12वें का एक, इस तरह 10 इन्द्र होते हैं ।

## भवनपति के 20 इन्द्र

10 प्रकार के भवनपति देव में प्रत्येक में दो दो इन्द्र होते हैं ।

**1) असुरकुमारों के दक्षिण दिशा का स्वामी चमरेन्द्र है ।**

वर्तमान में जो चमरेन्द्र है, वह पूर्वभव में पूरण नाम का तापस था । 12 वर्ष तक दुष्कर तप कर अंत में 1 मास का पादपोपगमन अनशन कर चमरेन्द्र बना । अपनी उत्पत्ति के बाद ज्ञानचक्षु द्वारा उसने अपने ऊपर रहे हुए सौधर्म इन्द्र को देखा, 'मेरे ऊपर यह कौन है ?' इस प्रकार विचार कर उत्तर वैक्रिय रूप कर अपने परिघ नामक शस्त्र को साथ में लेकर सौधर्म सभा में जाकर सौधर्म इन्द्र को ललकारने लगा । चमरेन्द्र की इस बालिश चेष्टा को देख सौधर्म इन्द्र ने गुस्से में आकर उसके पीछे वज्र छोड़ा । वज्र को देख चमरेन्द्र डर गया और अपने रक्षण के लिए वीरप्रभु के चरणों के बीच में घुस गया ।

शक्रेन्द्र ने जब चमरेन्द्र को प्रभु की शरण स्वीकारते हुए देखा, तभी चार अंगुल के अंतर में रहे वज्र का शक्रेन्द्र ने संहरण कर लिया ।

चमरेन्द्र द्वारा सौधर्म देवलोक में जाकर सौधर्म इन्द्र से लड़ने की घटना अनंतकाल में एक आश्चर्य ही समझना चाहिए ।

इस चमरेन्द्र के 64000 सामानिक देव व 33 त्रायस्त्रिंशक देव होते हैं ।

चमरेन्द्र की तीन पर्षदाएँ होती हैं-

1) **अभ्यंतर पर्षदा** इसमें 2½ पल्योपम के आयुष्यवाले 24000 देव व 1½ पल्योपम की स्थितिवाली 250 देवियाँ होती हैं ।

**2) मध्यम पर्षदा :–** इसमें दो पल्योपम की स्थितिवाले 28000 देव और एक पल्योपम के आयुष्यवाली 300 देवियाँ होती हैं ।

**3) बाह्य पर्षदा :–** इसमें 1½ पल्योपम की स्थितिवाले 32000 देव व 1/2 पल्योपम की स्थितिवाली 350 देवियाँ होती हैं ।

चमरेन्द्र के 5 अग्रमहिषियाँ होती हैं ।

चमरेन्द्र के 4 लोकपाल होते हैं ।

चमरेन्द्र के 7 सैन्य व 7 सेनाधिपति होते हैं ।

चमरेन्द्र के चारों दिशाओं में 64000 आत्मरक्षक देव होते हैं ।

**2) असुरकुमार के उत्तर दिशा का स्वामी बलीन्द्र है ।**

इस बलीन्द्र के 60000 सामानिक देव और 33 त्रायस्त्रिंशक देव हैं ।

बलीन्द्र के भी 4 लोकपाल, 5 अग्रमहिषिया, 7 सेना व 7 सेनाधिपति आदि चमरेन्द्र की तरह विशाल समृद्धि है ।

असुरकुमार देवों का देह प्रमाण उत्कृष्ट से 7 हाथ होता है । उत्कृष्ट से उत्तर वैक्रिय शरीर 1 लाख योजन प्रमाण है । दक्षिण दिशा के देवों का आयुष्य 1 सागरोपम व उत्तर दिशा के देवों का आयुष्य 1 सागरोपम से कुछ अधिक है ।

**3) नागकुमार के दक्षिण दिशा का इन्द्र धरणेन्द्र है ।**

वर्तमान में जो धरणेन्द्र है, वह पूर्व भव में साँप था । कमठ तापस पंचाग्नि तप कर रहा था, उस काष्ठ में वह साँप जल रहा था, तभी पार्श्वकुमार ने उस साँप को बाहर निकलवाया और उसे नवकार सुनाया । नवकार के प्रभाव से ही वह साँप मरकर धरणेन्द्र बना है ।

इसी धरणेन्द्र ने पार्श्व प्रभु पर मेघमाली के उपसर्ग को दूर किया था ।

इस धरणेन्द्र के तीन पर्षदाएँ हैं, जिनमें 60000, 70000 और 80000 देव हैं ।

धरणेन्द्र के छह पटरानी हैं । उसके भी आत्मरक्षक देव, सेना, सेनापति आदि विशाल परिवार है ।

**4) नागकुमार के उत्तर दिशा का इन्द्र भूतानंद है ।**

भूतानंद इन्द्र के भी तीन पर्षदाएँ हैं, जिनमें 50, 60 और 70 हजार देव हैं । तीन पर्षदाओं में 225, 200 व 100 देवियाँ हैं ।

भूतानंद इन्द्र के 6000 सामानिक देव, सेना, सेनापति व चारों दिशाओं में 6-6 हजार आत्मरक्षक देव हैं ।

आगे के आठ दक्षिण दिशा के इन्द्रों के सामानिक देव, पर्षदा, देव–देवी की संख्या, लोकपाल, सैन्य, सेनापति आदि परिवार धरणेन्द्र के परिवार के समान समझना चाहिए ।

इसी प्रकार उत्तर दिशा के आठ इन्द्रों की सभी स्थिति भूतानंद इन्द्र के समान समझनी चाहिए ।

5-6) विद्युतकुमार के दक्षिण-उत्तर इन्द्रों के नाम हरिकांत और हरिस्सह हैं ।

7-8) सुपर्णकुमार के दक्षिण व उत्तर दिशा के इन्द्र का नाम वेणुदेव और वेणुदारी है ।

9-10) अग्निकुमार के दक्षिण व उत्तर दिशा के इन्द्रों के नाम अग्निशिख व अग्निमाणव हैं ।

11-12) वायुकुमार के दक्षिण व उत्तर दिशा के इन्द्रों के नाम वेलंब और प्रभंजन हैं ।

13-14) स्तनित कुमार के दक्षिण व उत्तर दिशा के इन्द्रों के नाम घोष और महाघोष हैं ।

15-16) उदधिकुमार के दक्षिण व उत्तर दिशा के इन्द्रों के नाम जलकांत और जलप्रभ हैं ।

17-18) द्वीपकुमार के दक्षिण व उत्तर दिशा के इन्द्रों के नाम पूर्ण और वसिष्ठ हैं ।

19-20) दिक्कुमार के दक्षिण व उत्तर दिशा के इन्द्रों के नाम अमितगति और अमितवाहन हैं ।

## व्यंतर निकाय के 16 इन्द्र

1. किन्नर के दक्षिण – उत्तर दिशा के इन्द्रों के नाम – किन्नर और किंपुरुष हैं ।

2. किंपुरुष के दक्षिण – उत्तर दिशा के इन्द्रों के नाम – सत्पुरुष और महापुरुष हैं ।

3. महोरग के दक्षिण – उत्तर दिशा के इन्द्रों के नाम – अतिकाय और महाकाय हैं ।

4. गंधर्व के दक्षिण – उत्तर दिशा के इन्द्रों के नाम – गीतरति और गीतयशा हैं ।

5. यक्ष के दक्षिण – उत्तर दिशा के इन्द्रों के नाम – पूर्णभद्र और माणिभद्र हैं ।

6. राक्षस के दक्षिण – उत्तर दिशा के इन्द्रों के नाम – भीम और महाभीम हैं ।

7. भूत के दक्षिण – उत्तर दिशा के इन्द्रों के नाम – प्रतिरूप और अतिरूप हैं ।

8. पिशाच के दक्षिण – उत्तर दिशा के इन्द्रों के नाम – काल और महाकाल हैं ।

## वाणव्यंतर के 16 इन्द्र

1. अन्नपन्नी के दक्षिण–उत्तर दिशा के इन्द्रों के नाम – सन्निहित और सामानिक हैं ।

2. पणपन्नी के दक्षिण–उत्तर दिशा के इन्द्रों के नाम – धाता और विधाता हैं ।

3. ऋषिवादी के दक्षिण–उत्तर दिशा के इन्द्रों के नाम – ऋषि और ऋषिपालित हैं ।

4. भूतवादी के दक्षिण–उत्तर दिशा के इन्द्रों के नाम – ईश्वर और महेश्वर हैं ।

5. कंदीत के दक्षिण–उत्तर दिशा के इन्द्रों के नाम – सुवत्स और विशाल हैं ।

6. महाकंदीत के दक्षिण–उत्तर दिशा के इन्द्रों के नाम – हास्य औप हास्यरति हैं ।

7. कोहंड के दक्षिण–उत्तर दिशा के इन्द्रों के नाम – श्रेयांस और महाश्रेयांस हैं ।

8. पतंग के दक्षिण–उत्तर दिशा के इन्द्रों के नाम – पदग और पदगपति हैं ।

## भवनपति और व्यंतर निकाय में लेश्या

**पीतान्तलेश्याः ।।4-7।।**

**सामान्य अर्थ :–** प्रारंभ के दो निकाय के देवों की कृष्ण लेश्या से पीत लेश्या तक की होती है ।

**विवेचन :–** जीवों के अध्यवसाय (मन के परिणाम) स्वरूप लेश्याएँ छह होती हैं –

1. कृष्ण लेश्या, 2. नील लेश्या, 3. कापोत लेश्या, 4. तेजो लेश्या 5. पद्मलेश्या, 6. शुक्ल लेश्या ।

इन छह लेश्या में से भवनपति और व्यंतर निकाय के देवों के प्रारंभिक चार लेश्याएँ होती हैं । (सूत्र में दिया पीत शब्द तेजो लेश्या का समानार्थी है ।)

## देवताओं के काम-भोग

**कायप्रवीचारा आ ऐशानात् ।।4-8।।**

**शेषाः स्पर्श–रूप–शब्द–मनः प्रवीचारा द्वयोर्द्वयोः ।।4-9।।**

**परेऽप्रवीचाराः ।।4-10।।**

**सामान्य अर्थ :–** भवनपति–व्यंतर–ज्योतिष और वैमानिक में (पहले

दो देवलोक)–सौधर्म और ईशान तक के देव काया से प्रवीचार (मैथुन सेवन) करते हैं । शेष दो–दो देवों में क्रमशः स्पर्श से, रूप-दर्शन से, शब्द-श्रवण से और मानसिक विचार से मैथुन-सेवन होता है । बारहवें देवलोक के ऊपर के देवों में मैथुन सेवन का अभाव है ।

**विवेचन :–** भवनपति, व्यंतर, ज्योतिष और प्रथम दो वैमानिक देवलोक के देव काम–वासना जगने पर देवियों के साथ मनुष्य की तरह काया से मैथुन सेवन करते हैं ।

तीसरे व चौथे देवलोक के देवता स्पर्श (देवियों के विविध अंगों के स्पर्श) से कामसेवन करते हैं ।

पाँचवें व छठे देवलोक के देवता देवियों के रूपदर्शन से कामसेवन करते हैं ।

सातवें-आठवें देवलोक के देवता, देवियों के मधुर संगीत, मृदुहास्य आदि के श्रवण से कामसेवन करते हैं । नौवें-दसवें-ग्यारहवें तथा बारहवें देवलोक के देवता देवी का मन से संकल्प कर काम-सेवन करते हैं ।

**देवताओं में स्त्री-पुरुष अर्थात् देव-देवी होते हैं, नपुंसक नहीं ।**

देवियों की उत्पत्ति भी भुवनपति, व्यंतर, ज्योतिष और सौधर्म व ईशान प्रथम दो वैमानिक देवलोक तक ही है ।

तीसरे आदि देवलोक में देवियाँ नहीं होती हैं, परंतु उन देवलोक के देवताओं के संकल्प मात्र से, दैवी शक्ति से वे देवियाँ स्वयं ही उन देवताओं के पास पहुँच जाती हैं और उनकी इच्छाओं को पूर्ण करती हैं ।

सौधर्म व ईशान देवलोक में दो–दो प्रकार की देवियाँ होती हैं–

**1) परिगृहीता :-** किसी देव की पत्नी रूप में रही हुई देवी परिगृहीता कहलाती है ।

**2) अपरिगृहीता :-** सर्व सामान्य देव के उपभोग में आनेवाली देवी अपरिगृहीता कहलाती है ।

नौ ग्रैवेयक व पाँच अनुत्तर के देवता मैथुन–सेवन नहीं करते हैं ।

संसार में रहे जीवों को वेद मोहनीय कर्म के उदय के कारण मैथुन सेवन की इच्छा जागृत होती है । इस इच्छा का मात्र क्षणिक प्रतिकार रुप है मैथुन सेवन । नौ ग्रैवेयक और पाँच अनुत्तर के देवों को ऐसी काम–वासना न होने से मैथुन सेवन के बिना ही वे सुख का अनुभव करते हैं ।

## भवनपति के दस भेद

**भवनवासिनोऽसुर–नागविद्युत्सुपर्णाग्नि–वातस्तनितोदधि-द्वीप-दिक्कुमाराः ।।4-11।।**

**सामान्य अर्थ :–** भवनपति के दस भेद हैं–असुरकुमार, नागकुमार, विद्युतकुमार, सुपर्णकुमार, अग्निकुमार, वायुकुमार, स्तनितकुमार, उदधिकुमार, द्वीपकुमार और दिक्कुमार ।

**विवेचन :–** भवनपति निकाय के अधिकांश देव भवनों में रहते हैं, इस कारण उन्हें भवनपति कहते हैं । कुमार की तरह कांतदर्शनवाले, मृदु, ललित गतिवाले और क्रीड़ा में तत्पर होने से कुमार कहलाते हैं ।

असुरकुमार देव अधिकांशतः आवास में रहते हैं, कभी-कभी भवनों में भी रहते हैं, जबकि नागकुमार आदि नौ प्रकार के देव प्रायः भवनों में ही रहते हैं ।

आवास देहप्रमाण और सम चौरस होते हैं । चारों ओर से खुले होने से आवास मंडप जैसे लगते हैं, जबकि भवन बाहर से गोल व अंदर से समचौरस होते हैं ।

भवनों के तल भाग पुष्पकर्णिका के आकार के होते हैं । भवनों का विस्तार जघन्य से जंबूद्वीप प्रमाण और उत्कृष्ट से असंख्य योजन प्रमाण होता है । भवनपति देवों के मुकुटों पर विशेष प्रकार के चिह्न होते हैं । उनके शरीर और वस्त्रों का वर्ण अलग-अलग होता है ।

| क्रम | निकाय | मुकुट में चिह्न | शरीरवर्ण | वस्त्र वर्ण | दक्षिण में भवन | उत्तर में भवन |
|---|---|---|---|---|---|---|
| 1. | असुरकुमार | चूड़ामणि | श्याम | लाल | 34 लाख | 30 लाख |
| 2. | नागकुमार | सर्पफणा | गौर | हरा | 44 लाख | 40 लाख |
| 3. | विद्युतकुमार | वज्र | रक्त | हरा | 38 लाख | 34 लाख |
| 4. | सुवर्णकुमार | गरुड | पीत | श्वेत | 40 लाख | 36 लाख |
| 5. | अग्निकुमार | कलश | रक्त | हरा | 40 लाख | 36 लाख |
| 6. | वायुकुमार | मगर | हरा | संध्या जैसा | 40 लाख | 36 लाख |
| 7. | स्तनितकुमार | शराव संपुट | पीला | श्वेत | 40 लाख | 36 लाख |
| 8. | उदधिकुमार | अश्व | गौर | हरा | 40 लाख | 36 लाख |
| 9. | द्वीपकुमार | सिंह | रक्त | हरा | 50 लाख | 46 लाख |
| 10. | दिक्कुमार | हाथी | पीला | श्वेत | 40 लाख | 36 लाख |

संमूर्च्छिम और गर्भज तिर्यंच, छह संघयणवाले गर्भज मनुष्य, मिथ्यात्वी अज्ञानतप करनेवाले और द्वैपायन ऋषि की तरह अत्यंत क्रोधी, तप का गर्व करनेवाले अरिहंत शासन की विराधना के बाद उन निकायों में उत्पन्न होते हैं।

यहाँ से च्यवकर संख्यात स्थितिवाले गर्भज मनुष्य, गर्भज तिर्यंच, पर्याप्त बादर पृथ्वीकाय, अप्काय और वनस्पतिकाय में पैदा होते हैं।

इन देवों को कृष्ण, नील, तेजो और कापोत ये चार लेश्याएँ होती हैं।

15 प्रकार के परमाधामी भी भवनपति निकाय में आते हैं। 15 परमाधामियों के नाम–

1) अंब 2) अंबरीष 3) श्याम 4) शबल 5) रुद्र 6) उपरुद्र 7) काल 8) महाकाल 9) असि 10) असिपत्रवन 11) कुंभी 12) वालुका 13) खरस्वर 14) वैतरणी 15) महाघोष।

# भवनपति देवो का स्थान

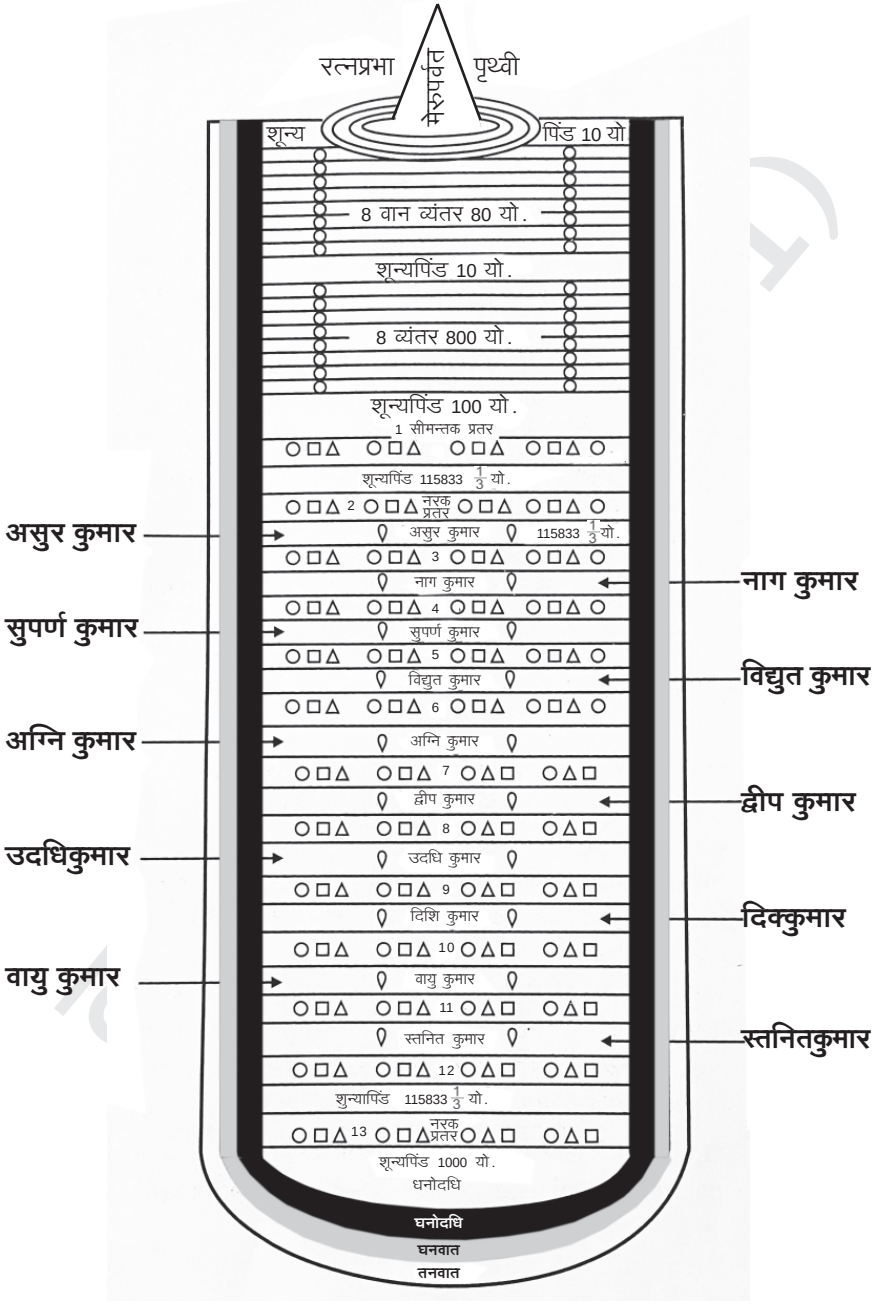

## भवनपति के भवनों का स्थान

रत्नप्रभा पृथ्वी, जो 1 लाख 80 हजार योजन मोटी है, उस पृथ्वी के ऊपर और नीचे एक–एक हजार योजन छोड़ने पर शेष 1,78,000 योजन पृथ्वी में पहली नरक का पहला प्रतर 3,000 योजन का है, फिर 11,583 $\frac{1}{3}$ योजन शून्य पिंड है, फिर नरक का दूसरा प्रतर 3,000 योजन का है, फिर 11,583 $\frac{1}{3}$ योजन में भवनपति के असुरकुमार के भवन हैं, फिर तीसरा प्रतर 3,000 योजन का है, फिर 11,583 $\frac{1}{3}$ योजन में भवनपति के नागकुमार के भवन हैं। इसी तरह बारह प्रतर तक दस भवनपति के भवन हैं। फिर 11,583 $\frac{1}{3}$ योजन शून्य पिण्ड है, बाद में पहली नरक का तेरहवाँ प्रतर 3,000 योजन का है। इस तरह 1,78,000 योजन में–39,000 योजन में पहली नरक के 13 प्रतर, 1,15,833 $\frac{1}{3}$ योजन में भवनपति के 10 भवन एवं 23,166 $\frac{2}{3}$ योजन में शून्य पिंड है। (39,000 + 1,15,833 $\frac{1}{3}$ + 23,166 $\frac{2}{3}$ = 178000)

## व्यंतर निकाय के आठ भेद

**व्यंतराः किन्नर–किंपुरुष–महोरग–गान्धर्व–यक्ष–राक्षस–भूत–पिशाचाः ।।4-12।।**

**सामान्य अर्थ :–** व्यंतर निकाय के आठ भेद है–जिनके नाम हैं–किन्नर, किंपुरुष, महोरग, गांधर्व, यक्ष, राक्षस, भूत और पिशाच।

**विवेचन :–** रत्नप्रभा पृथ्वी के ऊपर के 1000 योजन में से ऊपर–नीचे 100–100 योजन छोड़ने पर 800 योजन का जो अंतर रहता है, उसमें आठ प्रकार के व्यंतर निकाय के देव रहते हैं। तथा ऊपर से 100 योजन छोड़े गए हैं, उस 100 योजन में से ऊपर–नीचे 10–10 योजन छोड़ने पर जो 80 योजन का अंतर रहता है, उसमें 8 प्रकार के वाण व्यंतर निकाय के देव रहते हैं।

ये व्यंतर निकाय के देव ऊपर, नीचे और तिर्च्छा लोक में भवन, शहर और आवासों में रहते हैं ।

अन्य-अन्य पर्वत गुफा, जंगल व द्वीपों में भी रहते हैं, विविध अंतरवाले होने से उनका व्यंतर नाम रूढ़ हुआ है । ये देव–चक्रवर्ती आदि पुण्यशाली मनुष्यों की सेवा करते हैं ।

## आठ व्यंतर

**1) किन्नर :–** इसके किन्नर, किंपुरुष आदि 10 भेद हैं । इनका शारीरिक वर्ण हरा एवं ध्वज-चिह्न अशोक वृक्ष है ।

**2) किंपुरुष :–** इसके पुरुष आदि 10 भेद हैं । इनका शारीरिक वर्ण श्वेत एवं ध्वज चिह्न चंपकवृक्ष है ।

**3) महोरग :–** इसके भुजग आदि 10 भेद हैं । इनका शारीरिक वर्ण काला एवं ध्वज चिह्न नाग वृक्ष है ।

**4) गांधर्व :–** इसके हाहा आदि 12 भेद हैं । इनका शारीरिक वर्ण काला एवं ध्वज चिह्न तुंबरु वृक्ष है ।

**5) यक्ष :–** इसके पूर्णभद्र आदि 13 भेद हैं । इनका शारीरिक वर्ण काला एवं ध्वज चिह्न वटवृक्ष है ।

**6) राक्षस :–** इसके भीम आदि 7 भेद हैं । इनका शारीरिक वर्ण सफेद एवं ध्वज चिह्न खट्वांग है ।

**7) भूत :–** इसके सुरूप आदि 9 भेद हैं । इनका शारीरिक वर्ण काला एवं ध्वज चिह्न सुलसवृक्ष है ।

**8) पिशाच :–** इसके कुष्मांड आदि 15 भेद हैं । इनका शारीरिक वर्ण काला एवं ध्वज चिह्न कदंबवृक्ष है ।

## आठ वाण व्यंतर

1) अणपन्नी 2) पणपन्नी 3) इसीवादी 4) भूतवादी

5) कंदित 6) महाकंदित 7) कोहंड 8) पतंग

## दस तिर्यक्जृंभक

1) अन्नजृंभक 2) पानजृंभक 3) वस्त्रजृंभक 4) लेणजृंभक 5) पुष्पजृंभक 6) फलजृंभक 7) पुष्पफल जृंभक 8) शयनजृंभक 9) विद्याजृंभक 10) अवियत्त जृंभक ।

## ज्योतिष निकाय के पाँच भेद–

**ज्योतिष्काः सूर्याश्चन्द्रमसो-ग्रह-नक्षत्र-प्रकीर्णतारकाश्च।।4-13।।**

**सामान्य अर्थ :–** ज्योतिष निकाय में पाँच भेद हैं–सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र और बिखरे हुए तारे ।

**विवेचन :–** ज्योतिष निकाय के सूर्य, चंद्र, ग्रह, नक्षत्र और तारा ये पाँच भेद हैं ।

समभूतला पृथ्वी से 790 योजन की ऊँचाई पर तारे आए हुए हैं ।
तारों से 10 योजन ऊपर सूर्य का विमान है ।
सूर्य से 80 योजन ऊपर चंद्र का विमान है ।
चंद्र से 4 योजन ऊपर नक्षत्रों के विमान हैं ।
नक्षत्रों से 4 योजन ऊपर बुधग्रह का विमान है ।
बुध से 3 योजन ऊपर शुक्र का विमान है ।
शुक्र से 3 योजन ऊपर गुरु का विमान है ।
गुरु से 3 योजन ऊपर मंगल का विमान है ।
मंगल से 3 योजन ऊपर शनि का विमान है ।

इस प्रकार संपूर्ण ज्योतिष चक्र ऊँचाई में 110 योजन और लंबाई में असंख्य द्वीप समुद्र-प्रमाण है । सूर्य आदि देव उनके विमान ज्योतिष-प्रकाशमान होने से उन्हें ज्योतिष्क कहा जाता है ।

सूर्य आदि देवों के मुकुट में सूर्य आदि के प्रभामंडल का चिह्न होता है ।

## ज्योतिष विमानों का परिभ्रमण क्षेत्र

**मेरुप्रदक्षिणा नित्यगतयो नृलोके ।।4-14।।**

**सामान्य अर्थ :–** पाँच प्रकार के ज्योतिष विमान, मनुष्य क्षेत्र में सदा मेरु पर्वत को प्रदक्षिणा करते हुए घूमते रहते हैं ।

**विवेचन :–**पाँचों प्रकार के ज्योतिष्क विमान मनुष्यलोक-ढाईद्वीप में मेरुपर्वत के चारों ओर प्रदक्षिणा आकार में 1121 योजन दूर रहकर घूमते हैं ।

**मनुष्यलोक में संख्या**

| द्वीप-समुद्र | सूर्य | चंद्र | ग्रह | नक्षत्र | तारा |
|---|---|---|---|---|---|
| जंबूद्वीप | 2 | 2 | 176 | 56 | 1,33,950 कोड़ाकोड़ी |
| लवणसमुद्र | 4 | 4 | 352 | 112 | 2,67,900 कोड़ाकोड़ी |
| धातकीखंड | 12 | 12 | 1056 | 336 | 8,03,700 कोड़ाकोड़ी |
| कालोदधि | 42 | 42 | 3696 | 1176 | 28 ,12 ,950 कोड़ाकोड़ी |
| पुष्करार्ध | 72 | 72 | 6336 | 2013 | 48,22,200 कोड़ाकोड़ी |

ग्रह, नक्षत्र और तारा चंद्र का ही परिवार हैं और जो चंद्र का परिवार है, वही सूर्य का भी परिवार है । सूर्य का अलग परिवार नहीं है ।

1 चंद्र के परिवार में 88 ग्रह, 28 नक्षत्र और 66975 कोड़ाकोड़ी तारा हैं ।

मनुष्यलोक में सूर्य आदि के ये विमान सदैव घूमते रहते हैं । चंद्र आदि से सबकी गति क्रमशः अधिक-अधिक है । चंद्र की गति सबसे कम है, उससे अधिक सूर्य की गति है । सूर्य से ग्रह की गति अधिक है, ग्रह से नक्षत्र की गति अधिक है और नक्षत्र से तारों की गति अधिक है ।

तारों की ऋद्धि सबसे कम है, तारों से नक्षत्र की ऋद्धि अधिक है । नक्षत्र से ग्रह की ऋद्धि अधिक है । ग्रह से सूर्य की ऋद्धि अधिक है और सूर्य से चंद्र की ऋद्धि अधिक है ।

**ज्योतिष विमानों की आकृति एवं प्रमाण** – ज्योतिष विमानों की आकृति आधी मोसंबी के आकार की है। ये–स्फटिक रत्नमय हैं।

चन्द्र की लंबाई–चौड़ाई 56/61 योजन और ऊँचाई 28/61 योजन है।

सूर्य की लंबाई–चौड़ाई 48/61 योजन और ऊँचाई 24/61 योजन है।

ग्रह की लंबाई–चौड़ाई 2 कोस और ऊँचाई 1 कोस है।

नक्षत्र की लंबाई–चौड़ाई 1 कोस और ऊँचाई ½ कोस है।

तारा की लंबाई–चौड़ाई ½ कोस और ऊँचाई ¼ कोस है।

ज्योतिष के ये विमान स्वाभाविक परिभ्रमण करते हैं। फिर भी इनकी समृद्धि प्रकट करने हेतु, आभियोगिक नाम कर्म के उदयवाले देव इन्हें वहन करते हैं। पूर्व में सिंह, दक्षिण में हाथी, पश्चिम में बैल और उत्तर में घोड़े के रूप में सूर्य–चन्द्र को 16000 देव, ग्रह को 8000 देव, नक्षत्र को 4000 और तारों को 2000 देव वहन करते हैं।

## ज्योतिष विमानों के परिभ्रमण से काल

**तत्कृतः कालविभागः ॥4-15॥**

**सामान्य अर्थ :–** सूर्य–चन्द्र आदि के परिभ्रमण से दिन–रात आदि काल विभाग होता है।

**विवेचन :–** ढाई द्वीप रूप मनुष्यलोक में सूर्य आदि की गति के कारण ही कालविभाग का व्यवहार चलता है।

जिस क्षेत्र में अदृश्य सूर्य दृश्यमान होता है, वह सूर्योदय कहलाता है और दृश्यमान सूर्य अदृश्य हो जाता है, वह सूर्यास्त कहलाता है। सूर्योदय से लेकर सूर्यास्त का काल दिन कहलाता है और सूर्यास्त से सूर्योदय का काल रात्रि कहलाती है। 15 दिन और रात्रि का एक पक्ष, 2 पक्ष का एक मास, 2 मास की एक ऋतु, 3 ऋतु का एक अयन, 2 अयन का एक वर्ष, पाँच वर्ष का एक युग, 100 वर्ष की एक

शताब्दी, 84 लाख वर्ष का एक पूर्वांग, 84 लाख पूर्वांग का एक पूर्व । असंख्य वर्ष का एक पल्योपम, 10 कोटाकोटी पल्योपम का एक सागरोपम, 20 कोटाकोटी सागरोपम का एक कालचक्र होता है ।

ज्योतिष चक्र के परिभ्रमण से स्थूल काल की गिनती होती है । काल के अविभाज्य अंश को समय कहते हैं । सबसे जघन्य गतिवाले परमाणु को एक आकाशप्रदेश से पास वाले आकाशप्रदेश तक जाने में जितना काल लगता है, वह एक समय कहलाता है । यह काल इतना सूक्ष्म है कि मात्र केवलज्ञानी भी इस काल के दो विभाग नहीं कर सकते हैं । ऐसे असंख्य समयों की एक आवलिका होती है । संख्यात आवलिका का एक श्वास, स्वस्थ मनवाले पुरुष के एक श्वास का एक प्राण, सात प्राण का एक स्तोक, सात स्तोक का एक लव, 38½ लव की एक घड़ी, दो घड़ी का एक मुहूर्त, 30 मुहूर्त का एक अहोरात्र, आदि क्रमशः कालव्यवहार होता है ।

## मनुष्यलोक के बाहर ज्योतिष की स्थिरता

**बहिरवस्थिताः ।।4-16।।**

**सामान्य अर्थ :–** मनुष्यलोक के बाहर ज्योतिष के विमान अवस्थित हैं ।

**विवेचन :–** मनुष्यलोक के बाहर असंख्य सूर्य-चंद्र आदि के विमान हैं, परंतु वे सब स्थिर हैं ।

सूर्य-चंद्र आदि स्थिर होने से जिस क्षेत्र में सूर्य आदि का प्रकाश नहीं पहुँचता है, उस क्षेत्र में सदाकाल अँधेरा रहता है ।

मनुष्यलोक के बाहर के सूर्य-चंद्र के विमानों का प्रकाश समशीतोष्ण होता है अर्थात् सूर्य की किरणें अतितीक्ष्ण नहीं होती हैं और चंद्र की किरणें अतिशीतल नहीं होती हैं ।

## वैमानिक देवता

**वैमानिकाः ।।4-17।।**

**कल्पोपपन्नाः कल्पातीताश्च ।।4-18।।**

**उपर्युपरि ।।4-19।।**

**सौधर्मैशान-सानत्कुमार-माहेन्द्र-ब्रह्मलोक-लान्तक-महाशुक्र-सहस्त्रारेष्वानत-प्राणतयोरारणाऽच्युतयोर्नवसु ग्रैवेयकेषु विजय-वैजयन्त-जयन्ता-ऽपराजितेषु सर्वार्थसिद्धे च।।4-20।।**

**सामान्य अर्थ :–** भवनपति, व्यंतर और ज्योतिष के वर्णन के पश्चात् अब वैमानिक देवों का वर्णन करते है । वैमानिक देवों के मुख्य दो प्रकार हैं–कल्पोपपन्न और कल्पातीत । इनके अवस्थान क्रमशः ऊपर–ऊपर हैं । इनके नाम–सौधर्म, ईशान, सानत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्मलोक, लान्तक, महाशुक्र, सहस्त्रार, आनत, प्राणत, आरण, अच्युत, नौ ग्रैवेयक, विजय, वैजयन्त, जयंत, अपराजित और सर्वार्थसिद्ध है ।

**विवेचन :–** भवनपति, व्यंतर और ज्योतिष देवों का वर्णन कर अब वैमानिक देवों का वर्णन करते हैं । वैसे तो ज्योतिष देव भी विमानों में ही उत्पन्न होते हैं फिर भी पारिभाषिक शब्द की अपेक्षा विमान में उत्पन्न होने के कारण इन्हें वैमानिक कहते हैं । वैमानिक देवों के मुख्य दो भेद हैं– 1) कल्पोपपन्न और 2) कल्पातीत ।

जहाँ छोटे-बड़े की मर्यादा है, उस देवलोक को **कल्प** कहते हैं । कल्प में उत्पन्न हुए देवताओं को **कल्पोपपन्न** और जहाँ कल्प नहीं हैं, ऐसे देवलोक में उत्पन्न हुए देवताओं को **कल्पातीत** कहा जाता हैं ।

12 देवलोक में कल्प होने से उन्हें कल्पोपपन्न कहते हैं । उसके बाद 9 ग्रैवेयक और 5 अनुत्तर में कल्प का अभाव होने से उन देवताओं को कल्पातीत कहते हैं ।

वैमानिक देवों के अवस्थान व्यंतर निकाय की तरह अव्यवस्थित नहीं हैं और ज्योतिष की तरह तिरछे भी नहीं हैं, बल्कि ऊर्ध्व लोक में क्रमशः ऊपर–ऊपर आये हुए हैं ।

ज्योतिष चक्र से ऊपर असंख्य योजन जाने पर मेरु के दक्षिण भाग में सौधर्म और उत्तर भाग में ईशान कल्प आया हुआ है । ईशान देवलोक कुछ ऊपर है-दोनों समश्रेणि में नहीं हैं ।

सौधर्म से असंख्य योजन ऊपर समश्रेणि में सानतकुमार का कल्प है । ईशान से असंख्य योजन ऊपर समश्रेणि में माहेन्द्र कल्प है ।

सानतकुमार व माहेन्द्र के बीच में ऊपर ब्रह्मलोक है । उसके ऊपर-ऊपर क्रमशः लांतक, महाशुक्र और सहस्त्रार देवलोक हैं ।

उसके ऊपर सौधर्म-ईशान की तरह आनत और प्राणत दो कल्प आए हुए हैं और उसके ऊपर आरण और अच्युत आए हुए हैं ।

उसके ऊपर 9 ग्रैवेयक और सबसे ऊपर विजय, वैजयंत, जयंत, अपराजित और सर्वार्थसिद्ध स्वरूप पाँच अनुत्तर देवविमान आए हुए हैं ।

ये विमान पूर्व-पश्चिम में लंबे व उत्तर दक्षिण में चौड़े असंख्य कोड़ाकोड़ी योजन प्रमाण हैं ।

पहले दूसरे देवलोक में 13-13 प्रतर हैं ।

तीसरे-चौथे देवलोक में 12-12 प्रतर हैं ।

पाँचवें देवलोक में 6 प्रतर हैं । छठे देवलोक में 5 प्रतर हैं ।

सातवें-आठवें देवलोक में 4-4 प्रतर हैं ।

नौवें, दसवें, ग्यारहवें, बारहवें देवलोक में 4-4 प्रतर हैं ।

नौ ग्रैवेयक के 9 प्रतर तथा अनुत्तर विमान का 1 प्रतर है ।

इस प्रकार ऊर्ध्व लोक में वैमानिक देवताओं के कुल 62 प्रतर हैं ।

इन सभी प्रतरों में जो बीच में विमान होते हैं उन्हें इन्द्रक विमान कहते हैं । इनके उडु, चन्द्र आदि 62 नाम हैं ।

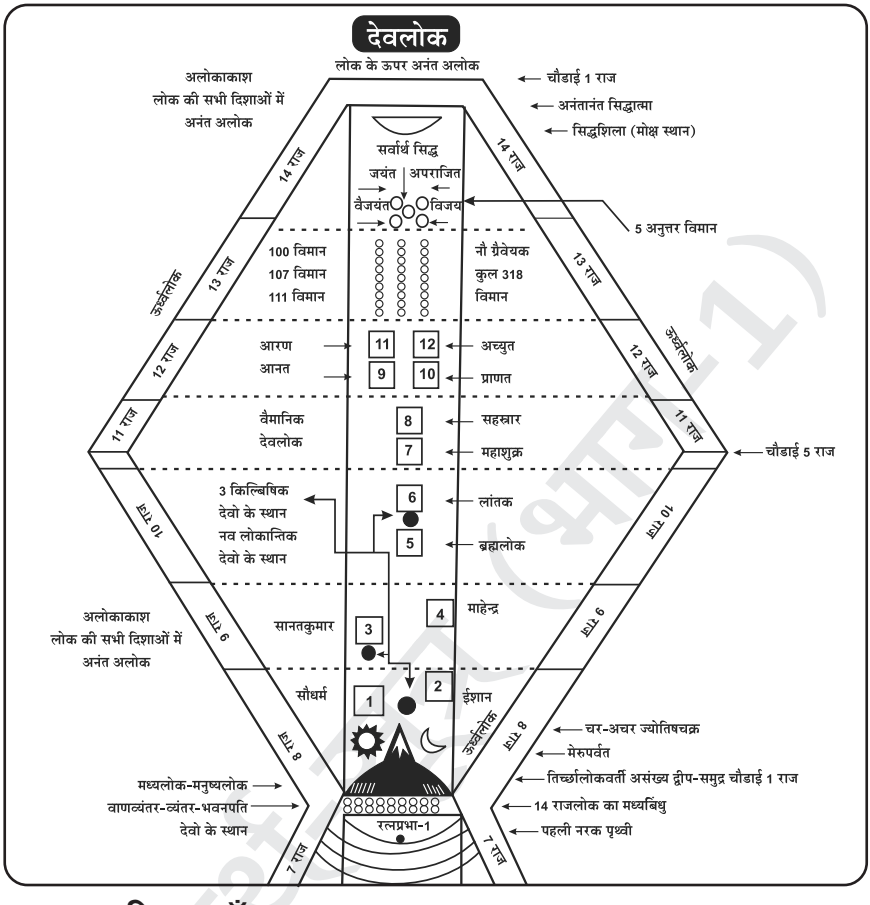


## 5 प्रकार की सभाएँ –

**1) उपपात सभा –** देवों के जन्म को उपपात जन्म कहते हैं । मनुष्य की तरह देवों को गर्भावास नहीं होता है । इस सभा में वस्त्र से ढकी हुई अनेक शय्याएँ होती हैं । इस शय्या में देवता उत्पन्न होते हैं । उत्पन्न होने के बाद अन्तर्मुहूर्त में छह पर्याप्ति पूरी करके युवावस्था समान अवस्था प्राप्त कर लेते हैं । देवों को जीवन–भर ऐसी ही अवस्था रहती है ।

**2) अभिषेक सभा –** नए देव का जन्म होने के बाद पहले जन्मे देवता ``जय जय नंदा–जय जय भद्दा'' द्वारा बधाई देकर फिर उन्हें स्नान कराने के लिए अभिषेक सभा में ले जाते हैं ।

## 12 वैमानिक देवो के विमान आदि

| नं. | देवलोक के नाम | मुकुट चिह्न | शरीर का वर्ण | विमान | विमान की ऊँचाई | विमान की विस्तार | विमान में वर्ण | विमान आधार | विमान आधिपत्य की संख्या | सामानिक देव | आत्मरक्षक देव |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| 1. | सौधर्म | मृग | सुवर्ण | पालक | 500 यो. | 2700 यो. | 5 | धनोदधि | 32,00,000 | 84,000 | 3,36,000 |
| 2. | ईशान | महिष | सुवर्ण | पुष्पक | 500 यो. | 2700 यो. | 5 | धनोदधि | 28,00,000 | 80,000 | 3,20,000 |
| 3. | सानत्कुमार | वराह | पद्म | सौमनस | 600 यो. | 2600 यो. | 4 | धनवात | 12,00,000 | 72,000 | 2,88,000 |
| 4. | माहेन्द्र | सिंह | पद्म | श्रीवत्स | 600 यो. | 2600 यो. | 4 | धनवात | 8,00,000 | 70,000 | 2,80,000 |
| 5. | ब्रह्मलोक | बकरा | पद्म | नंदावर्त | 700 यो. | 2500 यो. | 3 | धनवात | 4,00,000 | 60,000 | 2,40,000 |
| 6. | लांतक | दर्दुर | श्वेत | कामगम | 700 यो. | 2500 यो. | 3 | धनोदधि | 50,000 | 50,000 | 2,00,000 |
| 7. | महाशुक्र | घोडा | श्वेत | प्रीतिगम | 800 यो. | 2400 यो. | 2 | धनोदधि | 40,000 | 40,000 | 1,60,000 |
| 8. | सहस्त्रार | हाथी | श्वेत | मनोरथ | 800 यो. | 2400 यो. | 2 | धनोदधि | 6,000 | 30,000 | 1,20,000 |
| 9. | आनत | साँप | श्वेत | विमल | 900 यो. | 2300 यो. | 1 | आकाश | 400 | 20,000 | 80,000 |
| 10. | प्राणत | गेंडा | श्वेत | विमल | 900 यो. | 2300 यो. | 1 | आकाश | | | |
| 11. | आरण | वृषभ | श्वेत | सर्वतोभद्र | 900 यो. | 2300 यो. | 1 | आकाश | 300 | 10,000 | 40,000 |
| 12. | अच्युत | मृग | श्वेत | सर्वतोभद्र | 900 यो. | 2300 यो. | 1 | आकाश | | | |

**3) अलंकार सभा –** स्नान कराने के बाद उसे अलंकार सभा में ले जाया जाता है, जहाँ पूर्ववर्ती देव नए जन्मे देव को सुन्दर दिव्य वस्त्र और उत्तम आभूषण पहनाते हैं ।

**4) व्यवसाय सभा –** इसमें देवों के योग्य विधि–नियम, आचार–परंपरा और कर्तव्य के बोध हेतु विशाल पुस्तक भंडार होता है । नए जन्मे देव अपने कार्य–अकार्य का निर्णय करके यहाँ से बाहर निकलकर नंदा नाम के जलाशय में स्नान कर, सम्यग्दृष्टि देवता भक्ति भाव से जिनपूजा और मिथ्यादृष्टि अपने आराध्य देव की पूजा आदि विधि करते हैं ।

**5) सुधर्म सभा –** मूल विमान से ईशान कोने में, तीन दिशाओं में तीन द्वार से युक्त सुधर्मसभा है । यहाँ चारों ओर अनेक वनखंड, बड़े–बड़े सरोवर आदि होते हैं, जहाँ वैमानिक देव भव–धारणीय शरीर से दिव्य क्रीड़ा करते रहते हैं ।

सुधर्म सभा के ईशान कोण में जिनेश्वर परमात्मा का जिनालय है ।

उस सुधर्म सभा के मध्य में मणिपीठिका है, उसके ऊपर 60 योजन ऊँचा, एक योजन चौड़ा व 1 योजन गहरा माणवक नामक चैत्यस्तंभ है । उस स्तंभ के मध्य में सोने-चांदी के फलक हैं । उन फलकों में वज्र रत्न की खूँटियाँ हैं । उसके ऊपर छींके में रहे वज्र के संपूट हैं । उन संपूटों में अरिहंत परमात्मा की अस्थियाँ होती हैं, जो देवों के लिए पूज्य होती हैं ।

इन अस्थियों का प्रक्षालन जल छाँटने से देवताओं के क्लेश व आवेश आदि दोष तत्काल नष्ट हो जाते हैं ।

सिद्धायतन के मध्य भाग में मणिपीठिका है, उसमें सुंदर देवछंद हैं, वहाँ श्री अरिहंतों की शाश्वती 108 प्रतिमाएँ होती हैं, जिन्हें वैमानिक देव-देवी भक्ति से पूजते हैं ।

ये पाँच प्रकार की सभाएँ देवों की राजधानियों में होती हैं। विभिन्न देवों की अपनी–अपनी बाह्य, मध्यम और अभ्यंतर तीन–तीन पर्षदाएँ होती हैं। इनके अलग–अलग नाम भी हैं।

## नौ ग्रैवेयक

14 राजलोक को एक पुरुष की आकृति जैसा माना गया है, जिसमें गले के स्थान पर आभूषण रूप 9 ग्रैवेयक आये हुए हैं। नौ ग्रैवेयक तीन–तीन विभाग में स्थित हैं। इनमें पहले तीन विमान अधस्तन तीन, बीच के तीन विमान मध्यम तीन एवं ऊपर के तीन विमान उपरितन तीन कहे जाते हैं। इनके नाम हैं 1) सुदर्शन, 2) सुप्रतिबद्ध, 3) मनोरम, 4) सर्वतोभद्र, 5) सुविशाल, 6) सौमनस, 7) सुमनस, 8) प्रियंकर, 9) आदित्य।

पहले तीन ग्रैवेयक में 111 विमान, दूसरे तीन ग्रैवेयक में 107 विमान और तीसरे तीन ग्रैवेयक में 100 विमान हैं।

## पाँच अनुत्तर

नौ ग्रैवेयक के ऊपर 5 अनुत्तर विमान हैं। अनुत्तर यानी सबसे श्रेष्ठ। इनके नाम हैं– 1) विजय, 2) वैजयन्त, 3) जयन्त, 4) अपराजित, 5) सर्वार्थसिद्ध। इन पाँचों के नाम के मात्र एक–एक ही विमान है।

अभव्य आत्मा साधु जीवन को स्वीकार करे तो अधिकतम नौवें ग्रैवेयक तक जा सकती है।

***सम्यग्दृष्टि साधु महात्मा ही पाँच अनुत्तर में जा सकते हैं। सर्वार्थसिद्ध विमानवासी एकावतारी होते हैं तथा शेष चार अनुत्तरवासी के अधिकतम 24 भव होते हैं, वे भी सिर्फ देव और मनुष्य के ही भव होते हैं।***

***9 ग्रैवेयक व 5 अनुत्तर विमानवासी कल्पातीत होते हैं, अर्थात् वहाँ स्वामी सेवक भाव नहीं होते हैं। सभी अहमिन्द्र हैं।***

अनुत्तर विमानवासी देव अपना दीर्घकाल तत्त्वचिंतन में ही व्यतीत करते हैं। तत्त्वचिंतन में कहीं शंका पड़े तो महाविदेह आदि क्षेत्रों में रहे तीर्थंकर परमात्मा, वहीं रहते हुए उनकी शंकाओं का समाधान कर देते हैं।

**देवताओं के विषय में विशेष जानकारी–** देवगति और मोक्ष में बहुत बड़ा अंतर है। देवगति के देव भी इस संसार में ही हैं। उनके भी जन्म-मरण का भव भ्रमण चालू हैं। देवगति के देव भी पूर्ण रूप से सुखी नहीं हैं। राग-द्वेष, लोभ-ईर्ष्या आदि से वे भी दुःखी होते हैं। आयुष्य पूर्ण होने पर उन्हें भी देवलोक की दिव्य दुनिया का त्याग कर मनुष्य या तिर्यंच गति में जाना पड़ता है।

ये देवता मरकर पंचेंद्रिय पशु-पक्षी और पृथ्वीकाय, अप्काय और वनस्पतिकाय में भी चले जाते हैं, अतः यह देवलोक भी इच्छनीय नहीं है, इच्छनीय तो एक मात्र मोक्ष ही है, क्योंकि वहाँ जाने के बाद दुःख का लेश भी नहीं है।

देवलोक की प्राप्ति तो पुण्य की लीला है और यह पुण्य कभी भी धोखा दे सकता है। अतः देवलोक की प्राप्ति भी हमारे जीवन का लक्ष्य नहीं होना चाहिए !

यद्यपि सभी देवता पंचेन्द्रिय कहलाते हैं, परंतु उनका जन्म मनुष्य या पंचेन्द्रिय तिर्यंच की तरह गर्भ से नहीं होता है, पुण्य के उदय से उन्हें गर्भ की पीड़ा नहीं सहनी पड़ती है।

देवलोक में कुछ स्थलों में विशिष्ट शय्याएँ होती हैं, जिनमें देव अपने शरीर की ऊँचाई, कांति व युवावस्था के साथ ही जन्म लेते हैं। देवताओं को बाल्यकाल बचपन नहीं होता है, वे सदैव युवावस्था में ही रहते हैं।

देवशय्या में देवताओं के इस जन्म को **'उपपात'** कहते हैं। एक अन्तर्मुहूर्त में ही देवताओं का शरीर तैयार हो जाता है।

वृद्धावस्था के कारण जिस प्रकार मनुष्य का शरीर शिथिल कमजोर हो जाता है, ऐसी वृद्धावस्था देवताओं को नहीं होती है ।

***मनुष्य और तिर्यंचों का शरीर औदारिक वर्गणा के पुद्गलों से बना होता है । मानवदेह में हड्डी, मांस, खून, चर्बी आदि अशुचिकारक पदार्थ होते हैं, मानवदेह की उत्पत्ति भी अशुचि में ही होती है, जबकि देवताओं का शरीर वैक्रिय वर्गणा के पुद्गलों से बना होता है । औदारिक वर्गणा के पुद्गलों की अपेक्षा वैक्रिय वर्गणा के पुद्गल अत्यंत शुभ और सूक्ष्म होते हैं ।***

देवताओं के शरीर में किसी प्रकार की अशुचि, मल-मूत्र, मांस-चर्बी, हड्डी आदि नहीं होते हैं ।

मानवदेह के साथ ज्वर, खाँसी, सिरदर्द, पेट का दर्द, सर्दी, जुखाम, टी.बी., डायाबिटीस, कैंसर, एड्स आदि अनेक प्रकार की बीमारियाँ जुड़ी हुई हैं जबकि देवताओं के शरीर में किसी प्रकार के शारीरिक रोग नहीं होते हैं ।

मनुष्य को रोग-निवारण के लिए हॉस्पिटल में जाना पड़ता है, यहाँ अनेक दर्दों के निवारण के लिए अनेक प्रकार की हॉस्पिटलें हैं, देवलोक में रोग का अभाव होने से किसी प्रकार की हॉस्पिटलें नहीं हैं । सामान्य मानव के आयुष्य पर किसी भी समय उपघात लग सकता है, क्योंकि उनका आयुष्य सोपघाती होता है, हाँ, तीर्थंकर, गणधर, चरम शरीरी आदि मनुष्यों का आयुष्य निरुपघाती होने से उनके आयुष्य पर किसी प्रकार का उपघात नहीं लगता है ।

देवताओं का आयुष्य निरुपघाती होता है अर्थात् वे अपने आयुष्य का पूर्ण उपभोग करते हैं, उनकी अकाल-मृत्यु नहीं होती है ।

**देवताओं में आहार–**आहार के मुख्य तीन भेद हैं-

1) ओजाहार 2) लोमाहार और 3) कवलाहार

1) उत्पत्ति के प्रथम समय से शरीरपर्याप्ति की पूर्णता तक ग्रहण किए जा रहे पुद्गलों के आहार को **ओजाहार** कहते हैं ।

2) शरीर पर्याप्ति पूर्ण होने पर स्पर्शनेन्द्रिय द्वारा जो पुद्गलों का आहार लेते हैं, उसे **लोमाहार** कहते हैं ।

3) मुंह से जो आहार लेते हैं, उसे **कवलाहार** कहते हैं ।

***देवताओं को कवलाहार नहीं होता है । सर्व से जघन्य स्थितिवाले देवताओं को आहार की इच्छा एकांतर होती है । पल्योपम की स्थिति वाले देवताओं को 2 से 9 दिन के बाद आहार की इच्छा होती है । जितने सागरोपम की स्थिति होती है, उतने हजार वर्ष के बाद आहार की इच्छा होती है ।***

**प्रश्न :–** देवता किस प्रकार आहार लेते हैं ?

**उत्तर :–** देवताओं के आहार संबंधी उपर्युक्त समय–निर्देश लोमाहार संबंधी है ।

लोमाहार के दो प्रकार हैं 1) आभोग और 2) अनाभोग । इरादे पूर्वक जो लोमाहार लिया जाता है, उसे आभोग लोमाहार कहते हैं और बिना इरादे के ही जो प्रतिसमय लोमाहार होता है, उसे अनाभोग लोमाहार कहते हैं ।

यहाँ देवताओं के आहार का अन्तर आभोग लोमाहार की अपेक्षा समझना चाहिए । देवताओं को जब आहार की इच्छा होती है तब उनके पुण्योदय से मन से कल्पित आहार के शुभ पुद्गल स्पर्शनेन्द्रिय द्वारा शरीर रूप में परिणत हो जाते हैं और उस समय मन में तृप्ति व आह्लाद का अनुभव होता है ।

**श्वासोच्छ्वास :–**1) जघन्य स्थितिवाले देवता 7-7 स्तोक के बाद एक बार श्वास लेते हैं ।

2) पल्योपम की स्थितिवाले देवता दिन में 1 बार श्वास लेते हैं ।

3) जितने सागरोपम की स्थिति होती है, वे देवता उतने पक्ष के बाद श्वास लेते हैं ।

देवताओं का जन्म उपपात शय्या में होता है । उनका शरीर अत्यंत सुगंधित होता है । उनके मुख का पवन भी सुगंधित होता है उन्हें पसीना नहीं होता है । सौभाग्य आदि गुण–समूह से उनका शरीर अत्यंत सुंदर होता है ।

**वेदना :–** देवताओं को लगभग शाता वेदनीय का उदय होता है, बीच–बीच में अशाता का भी उदय होता है । सतत शाता का उदय छह मास तक रहता है, फिर अशाता का उदय होता है, जो उत्कृष्ट से अन्तर्मुहूर्त तक रहता है । फिर पुनः शाता का उदय चालू हो जाता है ।

**देवलोक में उपपात–**

***1) अन्य तीर्थिकी 12वें देवलोक तक उत्पन्न हो सकते हैं ।***

***2) मिथ्यादृष्टि संयत 9वें ग्रैवेयक तक उत्पन्न हो सकते हैं ।***

***3) सम्यग्दृष्टि साधु वैमानिक देव से लेकर सर्वार्थसिद्ध विमान में उत्पन्न हो सकते हैं ।***

***4) चौदहपूर्वी 5वें ब्रह्म देवलोक से सर्वार्थसिद्ध में उत्पन्न हो सकते हैं ।***

***5) पंचेंद्रिय तिर्यंच मरकर 8वें देवलोक में पैदा हो सकते हैं ।***

**देवताओं के विमान—**

देवताओं के विमान लोकस्थिति से आकाश में बिना किसी आधार के रहे हुए हैं ।

तीर्थंकर के जन्माभिषेक, केवलज्ञान, निर्वाण आदि के प्रसंग पर इन्द्रों के आसन स्वतः कंपित होते हैं ।

रत्नमय इन विमानों में सदैव प्रकाश रहता है, कहीं भी अँधेरा नहीं होता है । वहाँ दिन–रात की व्यवस्था नहीं है ।

देवता अपने सभी अंगों में रत्न के आभूषण धारण करते हुए रहते है । जैसे मस्तक पर मुकुट, कंठ में दिव्य हार, हाथों में कड़े,

कानों में कुंडल, पैरों में मोजड़ी इत्यादि। कहा जाता है कि, ``मनुष्यलोक का सभी धन–सुवर्ण–रत्न भी देवों की मोजड़ी के एक रत्न की तुलना नहीं कर सकता है।''

***देवताओं के पूरे जीवन में सदा यौवन काल अवस्थित रहता है। उनकी पलकें कभी झपकती नहीं हैं। वे जब भी पृथ्वी पर आते हैं तब, उनके पैर जमीन से 4 अंगुल आकाश में अधर रहते हैं। मात्र मन से वे अपनी सभी इच्छाएँ पूर्ण कर देते हैं। वे परस्पर अर्धमागधी (प्राकृत) भाषा में बोलते हैं।***

***देवताओं के गले में रही फूल की माला जीवन भर म्लान नहीं होती है। मात्र मरण के छह महीने जब बाकी हों तब मरण के चिह्न रूप में म्लान होने लगती है।***

## स्थिति आदि में वृद्धि

**स्थिति–प्रभाव–सुख–द्युति–लेश्या-विशुद्धीन्द्रिया–ऽवधि–विषयतोऽधिकाः ।।4-21।।**

**सामान्य अर्थ :–** ऊपर–ऊपर के देवों में, स्थिति, प्रभाव, सुख, कांति, लेश्या विशुद्धि, इन्द्रिय का विषय और अवधिज्ञान का विषय क्रमशः अधिक–अधिक है।

**विवेचन :–** वैमानिक देवों में जैसे–जैसे ऊपर बढ़ते हैं, वैसे–वैसे देवों की स्थिति आदि सात विषयों में वृद्धि होती है अर्थात् सौधर्म देवलोक की अपेक्षा ईशान देवलोक में स्थिति आदि का प्रमाण अधिक होता है।

**1) स्थिति –** स्थिति अर्थात् देवगति का आयुष्य। इसी अध्याय के 29वें सूत्र से इसका वर्णन होगा।

**2) प्रभाव –** प्रभाव अर्थात् शक्तियाँ और लब्धियाँ। अनुग्रह और निग्रह के द्वारा अन्य पर अपना वर्चस्व बनाए रखना–शक्ति है और अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा आदि लब्धियाँ हैं।

**3) सुख –** सुख अर्थात् शाता वेदनीय कर्म के उदय से बाह्य विषयों में इच्छित अनुभव ।

**4) द्युति –** द्युति अर्थात् देवों के देह, वस्त्र, आभूषण आदि की कांति ।

**5) लेश्याविशुद्धि –** लेश्या अर्थात् मन के परिणाम । वैमानिक देवों को शुभ लेश्या होती है, उसमें भी जैसे-जैसे ऊपर जाते हैं, वैसे-वैसे लेश्या की विशुद्धि में वृद्धि होती है, एवं समान लेश्या होने पर भी ऊपर–ऊपर के देवों में विशुद्धि अधिक होती है । लेश्या के विषय में सूत्र 23 में वर्णन होगा ।

**6) इन्द्रिय विषय –** इन्द्रियविषय अर्थात् चक्षु आदि इन्द्रिय की विषय को ग्रहण करने की शक्ति ।

**7) अवधिज्ञान विषय –** सभी देवताओं का अवधिज्ञान-क्षेत्र एक समान नहीं है । जैसे–जैसे ऊपर बढ़ते है, वैसे–वैसे अवधिज्ञान का क्षेत्र भी बढ़ता है ।

## देवताओं का अवधिज्ञान का क्षेत्र

| देव नाम | नीचे | तिर्च्छा | ऊपर |
|---|---|---|---|
| *सौधर्म, ईशान* | *रत्नप्रभा तक* | *असंख्य द्वीप समुद्र* | *अपने विमान की ध्वजा तक* |
| *सानतकुमार, माहेन्द्र* | *शर्कराप्रभा* | *उससे विशेष असंख्य द्वीप समुद्र* | *अपने विमान की ध्वजा तक* |
| *ब्रह्मलोक, लांतक* | *वालुकाप्रभा* | *उससे (विशेष असंख्य) द्वीप समुद्र* | *अपने विमान की ध्वजा तक* |
| *महाशुक्र, सहस्त्रार* | *पंकप्रभा* | *उससे (विशेष असंख्य) द्वीप समुद्र* | *अपने विमान की ध्वजा तक* |
| *आनत, प्राणत* | *धूमप्रभा* | *उससे असंख्य द्वीप समुद्र* | *अपने विमान की ध्वजा तक* |
| *आरण, अच्युत* | *तमः प्रभा* | *उससे असंख्य द्वीप समुद्र* | *अपने विमान की ध्वजा तक* |
| *नीचे व मध्य के 3-3 ग्रैवेयक* | *तमः प्रभा* | *उससे असंख्य द्वीप समुद्र* | *अपने विमान की ध्वजा तक* |
| *ऊपर के 3 ग्रैवेयक* | *महातमः प्रभा* | *उससे असंख्य द्वीप समुद्र* | *अपने विमान की ध्वजा तक* |
| *5 अनुत्तर* | *लोकनाली अंततक* | *उससे स्वयंभूरमण समुद्र* | *थोडा न्यून लोक नालिका तक* |

## गति आदि में हीनता

**गति-शरीर-परिग्रहाऽभिमानतो हीनाः ।।4-22।।**

**सामान्य अर्थ :–** ऊपर–ऊपर के देवों में गति, शरीर की ऊँचाई, परिग्रह और अभिमान क्रमशः हीन–हीन है ।

**विवेचन :–** वैमानिक देवों में जैसे–जैसे ऊपर बढ़ते हैं, वैसे वैसे देवों की गति आदि चार विषयों में हीनता होती है । अर्थात् सौधर्म देवलोक की अपेक्षा ईशान देवलोक में गति आदि कम होती है ।

**1) गति –** गति अर्थात् अन्य स्थल में जाने की शक्ति । जिन देवलोक में देवों का जघन्य आयुष्य स्थिति दो सागरोपम है, वे देव नीचे की ओर–सातवीं पृथ्वी तक तथा तिर्च्छी चारों दिशा में असंख्य योजन तक जा सकते हैं । जिन देवलोक में देवों की जघन्य आयुष्य की स्थिति दो सागरोपम से कम है, उनमें जैसे–जैसे आयुष्य स्थिति घटती है, वैसे–वैसे गति में हीनता होती है । सबसे जघन्य स्थिति वाले देव नीचे चार नरक तक जा सकते हैं । यह विचार, शक्ति की अपेक्षा से है, इस अपेक्षा से ऊपर–ऊपर जाने पर गति की शक्ति में वृद्धि होती है ।

ऊपर–ऊपर के देवता में महानता और माध्यस्थता अधिक–अधिक होने के कारण वे गति नहीं करते हैं । नौ ग्रैवेयक और पाँच अनुत्तर के देवता तो अपने पूरे जीवन में कभी भी अपने विमान के बाहर नहीं जाते हैं ।

**2) शरीर –** शरीर अर्थात् ऊँचाई । देवों की ऊँचाई इस प्रकार है–

| देव | ऊँचाई |
|---|---|
| भवनपति, व्यंतर, वाण व्यंतर, ज्योतिष, तिर्यक्जृंभक, परमाधार्मिक, पहले व दूसरे देवलोक एवं पहले किल्बिषिक देव | 7 हाथ |
| तीसरा-चौथा देवलोक एवं दूसरा किल्बिषिक | 6 हाथ |
| पाँचवाँ-छठा देवलोक और तीसरा किल्बिषिक नवलोकांतिक | 5 हाथ |

| | |
|---|---|
| सातवाँ-आठवाँ देवलोक | 4 हाथ |
| नौवाँ-दसवाँ-ग्यारहवाँ बारहवाँ देवलोक | 3 हाथ |
| नौ ग्रेवेयक | 2 हाथ |
| पाँच अनुत्तर | 1 हाथ |

**3) परिग्रह –** परिग्रह अर्थात् विमानों का परिवार । वैमानिक के विमान तीन प्रकार के होते हैं । इन्द्रक, श्रेणिगत और पुष्पावकीर्ण । प्रतर के बीच में विमान को इन्द्रक कहते हैं । चारों दिशाओं में पंक्तिबद्ध विमानों को श्रेणिगत कहते हैं । पुष्प की तरह बिखरे हुए विमानों को पुष्पावकीर्ण कहते हैं । इन्द्रक विमान की चारों दिशाओं में पहले त्रिकोण, फिर चतुष्कोण फिर गोल, इस क्रम से श्रेणिगत विमान होते हैं । श्रेणिगत विमानों के बीच–बीच में नंदावर्त, स्वस्तिक आदि आकार में पुष्पावकीर्ण विमान होते हैं । ये विमान पूर्व दिशा के अलावा अन्य तीन दिशाओं में ही होते हैं ।

**सौधर्म देवलोक की एक प्रत्तर**

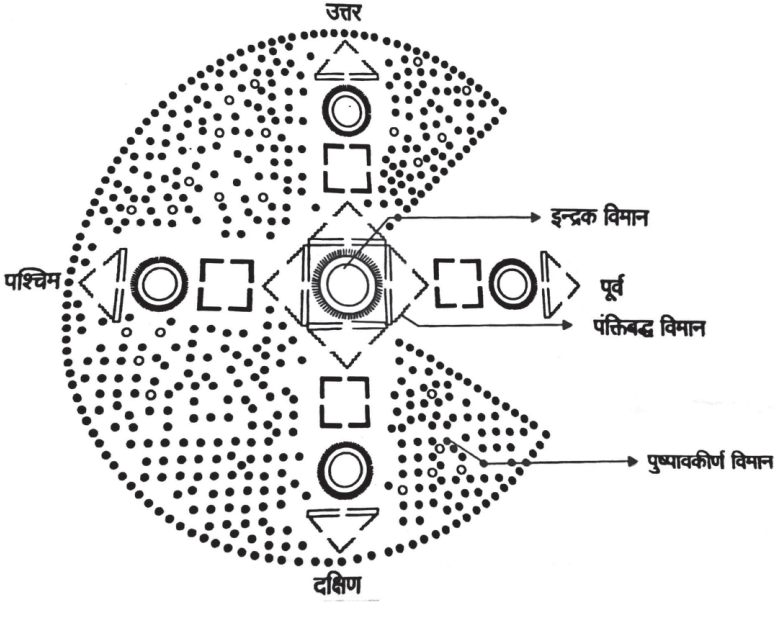

चित्र में बताए सौधर्म देवलोक के एक प्रतर के बीच में एक द्वार और कंगूरे वाले गढ़ से युक्त इन्द्रक विमान है। फिर चारों ओर श्रेणिगत विमान हैं, जिनमें पहले तीन द्वारवाला त्रिकोण विमान है, जो एक ओर वेदिका और दो ओर कंगूरे वाले गढ़ से युक्त है। फिर चार द्वारवाला चतुष्कोण विमान है, जिसके चारों ओर वेदिका है। फिर एक द्वारवाला, कंगूरे से युक्त गोल विमान है। इसी तरह आगे क्रमबद्ध दूसरे भी विमान आये हुए हैं।

पहले देवलोक से दूसरे देवलोक में प्रतर और विमानों की संख्या कम होती जाती है। सकल तीर्थ सूत्र में पहले देवलोक से लेकर पाँच अनुत्तर तक के देवविमानों की संख्या बताई है जो क्रमशः 1) 32 लाख, 2) 28 लाख, 3) 12 लाख, 4) 8 लाख, 5) 4 लाख, 6) 50 हजार, 7) 40 हजार, 8) 6 हजार, (9-10) 400, (11-12) 300, 9 ग्रैवेयक–318, पाँच अनुत्तर में 5 इस तरह कुल 84,97,023 विमान क्रमशः हीन-हीन संख्या में हैं।

**4) अभिमान –** नीचे से ऊपर जाते हुए देवों की स्थिति आदि अधिक होने पर भी अभिमान अल्प–अल्प ही होता है। अभिमान की अल्पता के कारण वे अधिक सुखी होते हैं।

## वैमानिक देवों में लेश्या

### पीत–पद्म–शुक्ललेश्या द्वि–त्रि–शेषेषु ॥4-23॥

**सामान्य अर्थ :–** पहले दो देवलोक में पीत (तेजो) लेश्या, फिर तीन देवलोक में पद्म लेश्या और उसके बाद के सभी देवलोक में शुक्ललेश्या होती है।

**विवेचन :–** सौधर्म और ईशान देवलोक में तेजोलेश्या होती है। सनत्कुमार, माहेन्द्र और ब्रह्मलोक में पद्मलेश्या होती है। लान्तक, महाशुक्र, सहस्रार, आनत, प्राणत, आरण, अच्युत, नौ ग्रैवेयक और पाँच अनुत्तर में शुक्ल लेश्या होती है।

यह लेश्या द्रव्यलेश्या की अपेक्षा से है, भावलेश्या तो सभी छह होती हैं ।

## कल्प की सीमा

**प्राग् ग्रैवेयकेभ्यः कल्पाः ।।4-24।।**

**सामान्य अर्थ :–** ग्रैवेयक के पहले तक कल्प व्यवस्था होती है ।

**विवेचन :–** वैमानिक देवों के दो भेद 18वें सूत्र में बताए गए थे–कल्पोपपन्न और कल्पातीत । कल्प अर्थात् स्वामी–सेवक भाव, पूज्य–पूजक भाव, बड़े–छोटे का व्यवहार । इस प्रकार की आचार मर्यादावाले बारह देवलोक तक के देव कल्पोपपन्न हैं और इस मर्यादा से रहित नौ ग्रैवेयक और पाँच अनुत्तर के देव कल्पातीत हैं । इसी कारण 12 देवलोक को कल्प भी कहते हैं ।

## लोकान्तिक देवों के स्थान और नाम

**ब्रह्मलोकालया लोकान्तिकाः ।।4-25।।**

**सारस्वता–ऽऽदित्य–वह्न्यरुण–गर्दतोय–तुषिता–ऽव्याबाध–मरुतो–ऽरिष्टाश्च ।।4-26।।**

**सामान्य अर्थ :–** लोकान्तिक देवों का स्थान पाँचवाँ कल्प–ब्रह्मलोक है । उनके नाम–सारस्वत, आदित्य, वह्नि, अरुण, गर्दतोय, तुषित, अव्याबाध, मरुत और अरिष्ट हैं ।

**विवेचन :–** 9 लोकांतिक देव ब्रह्मदेवलोक के अंत भाग में एक ओर रहते हैं । ये देव अधिकतम 7-8 भवों में मोक्षगामी होते हैं । ब्रह्मलोक की चार दिशा, चार विदिशा और 1 मध्य में, स्थित ये विमान हैं ।

### 9 लोकांतिक देवों के नाम

1) सारस्वत 2) आदित्य 3) वह्नि 4) अरुण 5) गर्दतोय 6) तुषित 7) अव्याबाध 8) मरुत 9) अरिष्ट ।

तीर्थंकर परमात्मा का दीक्षाकाल नजदीक आने पर 1 वर्ष पूर्व,

प्रभु के पास आकर **'जय जय नंदा, जय जय भद्दा'** कहकर प्रभु की स्तुति करते हैं और भगवान को **'भयवं तित्थं पवत्तेहिं'** हे भगवन् ! जगत् के जीवों के कल्याण के लिए तीर्थ प्रवर्तन करो ।' ऐसा कहकर निवेदन करते हैं ।

ये देवता लघुकर्मी होते हैं और कुछ ग्रंथों के अनुसार **'एकावतारी'** होते हैं ।

## अनुत्तर विमानों में देवों का संसार काल

**विजयादिषु द्विचरमाः ।।4-27।।**

**सामान्य अर्थ :–** विजय आदि विमानों में रहे देवों के अंतिम दो भव बाकी होते हैं ।

**विवेचन :–** नौ ग्रैवेयक के ऊपर के भाग में पाँच अनुत्तर विमान आये हुए हैं । अभव्य की आत्मा यदि उत्कृष्ट चारित्र का पालन करे तो नौवें ग्रैवेयक तक जा सकती है । परंतु उसके ऊपर पाँच अनुत्तर विमानों में मात्र सम्यग्दृष्टि चारित्रधर आत्माएँ ही जाती हैं । इन आत्माओं का संसार अति अल्प होता है ।

इस सूत्र में पाँच अनुत्तर विमानों में से सर्वार्थसिद्ध विमान को छोड़ अन्य चार–विजय, वैजयन्त, जयंत और अपराजित विमानों के देवों का संसार, मनुष्य के दो भव जितना बताया है । अर्थात् ये देवता इन विमानों से च्यवकर मनुष्य बनते हैं । वहाँ उत्कृष्ट चारित्र की आराधना कर पुनः पाँच अनुत्तर विमान में आते हैं और फिर च्यवकर मनुष्यजन्म प्राप्त कर अवश्य मोक्ष में जाते हैं । कुल मिलाकर तीन भव होते हैं, फिर भी मोक्ष की प्राप्ति मात्र मनुष्यभव में होने से दो भव मनुष्य के बताए हैं, बीच में होने वाले देव भव की गणना नहीं की है । सर्वार्थसिद्ध विमान में रहे देवता एकावतारी होते हैं । वहाँ से च्यवकर मनुष्य भव पाकर अवश्य मोक्ष में जाते हैं ।

***जिन मुनियों की चारित्र साधना मात्र छट्ठ तप जितनी और***

***आयुष्य अन्तर्मुहूर्त जितनी अधिक होती है तो वे चारित्रवान आत्माएँ अवश्य ही मोक्ष में जातीं । परंतु इतनी कमी के कारण उन्हें अनुत्तर विमानों में जाकर, संसार का सर्वोच्च सुख भोगकर पुनः मनुष्यजन्म और चारित्र की साधना द्वारा कर्मक्षयकर मोक्ष की प्राप्ति होती है ।***

शेष वैमानिक देवता एक, दो, तीन, चार आदि भवों को करके मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं । इनके मोक्षप्राप्ति का कोई निश्चित नियम नहीं है, जैसे गोशाला की आत्मा बारहवें देवलोक से च्यवकर अनंत काल संसार में परिभ्रमण कर मोक्ष में जाएगी ।

## तिर्यंच गति के जीव

**औपपातिक–मनुष्येभ्यः शेषास्तिर्यग्योनयः ।।4-28।।**

**सामान्य अर्थ :–** औपपातिक जन्मवाले और मनुष्य को छोड़ अन्य जीव तिर्यंच योनिवाले हैं ।

**विवेचन :–** चार गति की अपेक्षा उपपात जन्मवाले और मनुष्य को छोड़ अन्य सभी जीव तिर्यंच योनिवाले हैं । देवों का जन्म उपपात शय्या में होता है और नारकों का जन्म कुम्भिपाक में होता है । इस कारण देवों और नारकों को औपपातिक कहा जाता है ।

पूर्व के सूत्रों में इन्द्रिय की अपेक्षा से जीवों को एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय के रूप में विभाजित किया था । उनमें पंचेन्द्रिय के रुप में देव, नारक, मनुष्य और तिर्यंच के गति की अपेक्षा भेद किये । अब तिर्यंच गति के जीवों का निरूपण करते हुए कहा है कि–देव, नारक और मनुष्य को छोड़ एकेन्द्रिय से लेकर चार इन्द्रिय के सभी जीव एवं पंचेन्द्रिय तिर्यंच, तिर्यंच योनिवाले हैं ।

## जीवों की स्थिति

**स्थितिः ।।4-29।।**

**सामान्य अर्थ :–** यहाँ से स्थिति का अधिकार प्रारंभ होता है ।

**विवेचन :–** इस अध्याय में चार प्रकार के देवों का वर्णन करके अब उन–उन देवों की जघन्य और उत्कृष्ट आयुष्य स्थिति का निरूपण करते हैं ।

## भवनपति इन्द्रों की उत्कृष्ट स्थिति

**भवनेषु दक्षिणार्धाधिपतीनां पल्योपममध्यर्धम् ।।4-30।।**

**शेषाणां पादोने ।।4-31।।**

**असुरेन्द्रयोः सागरोपममधिकं च ।।4-32।।**

**सामान्य अर्थ :–** भवनपति निकाय में दक्षिणार्ध के इन्द्रों की उत्कृष्ट स्थिति डेढ़ (1.5) पल्योपम है । शेष उत्तरार्ध के इन्द्रों की स्थिति पौने दो (1.75) पल्योपम है । असुरेन्द्र के दक्षिणार्ध इन्द्र की एक सागरोपम और उत्तरार्ध इन्द्र की एक सागरोपम से कुछ अधिक है ।

**विवेचन :–** भवनपति देवों के 10 भेद हैं, उन प्रत्येक के दक्षिणार्ध और उत्तरार्ध रूप दो–दो विभाग हैं । दोनों ओर के इन्द्र भिन्न-भिन्न हैं । दक्षिणार्ध के इन्द्र को दक्षिणार्धाधिपति और उत्तरार्ध के इन्द्र को उत्तरार्धाधिपति कहा जाता है । इस तरह भवनपति के 20 इन्द्र हुए । इनमें दूसरे से दसवें के दक्षिणार्धाधिपति की उत्कृष्ट आयुष्य स्थिति डेढ़ पल्योपम है । दूसरे से दसवें उत्तरार्धाधिपति की उत्कृष्ट आयुष्य स्थिति पौने दो पल्योपम है । असुरेन्द्र में दक्षिणार्धाधिपति चमरेन्द्र की उत्कृष्ट आयुष्य स्थिति एक सागरोपम है और उत्तरार्धाधिपति बलीन्द्र की उत्कृष्ट आयुष्य स्थिति एक सागरोपम से कुछ अधिक है ।

## वैमानिक देवों की उत्कृष्ट स्थिति

**सौधर्मादिषु यथाक्रमम् ।।4-33।।**

**सागरोपमे ।।4-34।।**

**अधिके च ।।4-35।।**

**सप्त सानत्कुमारे ।।4-36।।**

**विशेष–त्रि–सप्त–दशैकादश–त्रयोदश–**
**पञ्चदशभिरधिकानि च।।4-37।।**
**आरणाऽच्युतादूर्ध्वमेकैकेन नवसु ग्रैवेयकेषु विजयादिषु सर्वार्थसिद्धे च ।।4-38।।**

**सामान्य अर्थ :–** सौधर्म आदि देवलोक में देवों की उत्कृष्ट आयुष्य स्थिति क्रमशः इस प्रकार है–(1) सौधर्म कल्प में 1 सागरोपम, (2) ईशान कल्प में 1 सागरोपम से कुछ अधिक, (3) सनत्कुमार कल्प में 7 सागरोपम, (4) माहेन्द्र कल्प में 7 सागरोपम से कुछ विशेष अधिक, (5) ब्रह्मलोक में 7 + 3 = 10 सागरोपम, (6) लांतक में 7 + 7 = 14 सागरोपम, (7) महाशुक्र में 7 + 10 = 17 सागरोपम, (8) सहस्त्रार में 7 + 11 = 18 सागरोपम, (9-10) आनत–प्राणत में 7 + 13 = 20 सागरोपम, (11-12) आरण–अच्युत में 7 + 15 = 22 सागरोपम। आरण–अच्युत की स्थिति से एक–एक सागरोपम की वृद्धि प्रत्येक ग्रैवेयक में, विजय आदि चार अनुत्तरों में एवं सर्वार्थसिद्ध विमान में होती है।

**विवेचन :–** पूर्व के 21 वें सूत्र में बताया था कि ऊपर–ऊपर के देवताओं की स्थिति अधिक–अधिक बढ़ती है। वैमानिक देवों की उत्कृष्ट स्थिति का निरूपण इन सूत्रों में किया गया है। (विस्तार नीचे के कोष्टक में दिया है।)

## जघन्य स्थिति

**अपरा पल्योपममधिकं च ।।4-39।।**
**सागरोपमे ।।4-40।।**
**अधिके च ।।4-41।।**
**परतः परतः पूर्वा–पूर्वाऽनन्तरा ।।4-42।।**

**सामान्य अर्थ :–** सौधर्म और ईशान कल्प में जघन्य आयुष्य स्थिति क्रमशः एक पल्योपम और साधिक पल्योपम है। सनत्कुमार कल्प में 2

सागरोपम है। माहेन्द्र कल्प में साधिक 2 सागरोपम है। माहेन्द्र के बाद वाले देवलोक में, उसके ऊपर के देवलोक की जो उत्कृष्ट स्थिति है, वही उनकी जघन्य स्थिति है।

## वैमानिक देवों की जघन्य और उत्कृष्ट आयुष्य

| देवलोक | जघन्य आयुष्य | उत्कृष्ट आयुष्य |
|---|---|---|
| 1 सौधर्म | 1 पल्योपम | दो सागरोपम |
| 2 ईशान | साधिक पल्योपम | दो सागरोपम से कुछ अधिक |
| 3 सानत्कुमार | 2 सागरोपम | सात सागरोपम |
| 4 माहेन्द्र | साधिक 2 सागरोपम | 7 सागरोपम से कुछ अधिक |
| 5 ब्रह्मलोक | साधिक 7 सागरोपम | 10 सागरोपम |
| 6 लांतक | 10 सागरोपम | 14 सागरोपम |
| 7 महाशुक्र | 14 सागरोपम | 17 सागरोपम |
| 8 सहस्त्रार | 17 सागरोपम | 18 सागरोपम |
| 9 आनत, 10 प्राणत | 18 सागरोपम | 20 सागरोपम |
| 11 आरण, 12 अच्युत | 20 सागरोपम | 22 सागरोपम |
| पहला ग्रैवेयक | 22 सागरोपम | 23 सागरोपम |
| दूसरा ग्रैवेयक | 23 सागरोपम | 24 सागरोपम |
| तीसरा ग्रैवेयक | 24 सागरोपम | 25 सागरोपम |
| चौथा ग्रैवेयक | 25 सागरोपम | 26 सागरोपम |
| पाँचवाँ ग्रैवेयक | 26 सागरोपम | 27 सागरोपम |
| छठा ग्रैवेयक | 27 सागरोपम | 28 सागरोपम |
| सातवाँ ग्रैवेयक | 28 सागरोपम | 29 सागरोपम |
| आठवाँ ग्रैवेयक | 29 सागरोपम | 30 सागरोपम |
| नौवाँ ग्रैवेयक | 30 सागरोपम | 31 सागरोपम |
| विजय आदि चार अनुत्तर में | 31 सागरोपम | 32 सागरोपम |
| सर्वार्थसिद्ध में | 33 सागरोपम | 33 सागरोपम |

टिप्पणी – बृहत्संग्रहणी आदि ग्रंथों के अनुसार आनत की 19 सागरोपम प्राणत की 20 सागरोपम आरण की 21 सागरोपम अच्युत की 22 सागरोपम उत्कृष्ट स्थिति है ।

## वैमानिक देवियों का जघन्य-उत्कृष्ट आयुष्य

| देवलोक | देवी | जघन्य आयुष्य | उत्कृष्ट आयुष्य |
|---|---|---|---|
| सौधर्म | परिगृहीता | 1 पल्योपम | 7 पल्योपम |
| | अपरिगृहीता | 1 पल्योपम | 50 पल्योपम |
| इशान | परिगृहीता | साधिक 1 पल्योपम | 9 पल्योपम |
| | अपरिगृहीता | साधिक 1 पल्योपम | 55 पल्योपम |

## नारकों का जघन्य आयुष्य

**नारकाणां च द्वितीयादिषु ।।4-43।।**

**दशवर्षसहस्राणि प्रथमायाम् ।।4-44।।**

**सामान्य अर्थ :–** नारकों में दूसरी से सातवीं नरक की जघन्य आयुष्य स्थिति उसके बाद वाली नरक की उत्कृष्ट आयुष्य स्थिति है । पहली नरक में जघन्य आयुष्य 10 हजार वर्ष है ।

**विवेचन :–** तीसरे अध्याय में नारकों की उत्कृष्ट स्थिति बताई थी । अब जघन्य स्थिति का निरूपण करते हैं । पहली नरक में 10,000 वर्ष, दूसरी नरक में 1 सागरोपम, तीसरी नरक में 3 सागरोपम, चौथी नरक में 7 सागरोपम, पाँचवीं नरक में 10 सागरोपम, छठी नरक में 17 सागरोपम और सातवीं नरक में 22 सागरोपम है ।

| नरक | जघन्य आयुष्य | 4 | 7 सागरोपम |
|---|---|---|---|
| 1 | 10,000 वर्ष | 5 | 10 सागरोपम |
| 2 | 1 सागरोपम | 6 | 17 सागरोपम |
| 3 | 3 सागरोपम | 7 | 22 सागरोपम |

## भवनपति का जघन्य आयुष्य

**भवनेषु च ।।4-45।।**

**सामान्य अर्थ :–** भवनपति में भी देवों का जघन्य आयुष्य 10 हजार वर्ष है ।

## भवनपति के देव-देवियों की जघन्य और उत्कृष्ट आयुष्य

| निकाय → देव–देवी ↓ | असुरकुमार का उत्कृष्ट आयुष्य | नागकुमार आदि 9 भेद का उत्कृष्ट आयुष्य | सभी भवनपति का जघन्य आयुष्य |
|---|---|---|---|
| **दक्षिण के देव** | 1 सागरोपम | 1½ पल्योपम | 10,000 वर्ष |
| **दक्षिण की देवी** | 3½ पल्योपम | ½ पल्योपम | 10,000 वर्ष |
| **उत्तर के देव** | साधिक 1 सागरोपम | 1¾ पल्योपम | 10,000 वर्ष |
| **उत्तर की देवी** | 4½ पल्योपम | 1 पल्योपम से न्यून | 10,000 वर्ष |

## व्यंतरों की जघन्य–उत्कृष्ट स्थिति

**व्यन्तराणां च ।।4-46।।**

**परा पल्योपमम् ।।4-47।।**

**सामान्य अर्थ :–** व्यंतर निकाय में देवों का जघन्य स्थिति 10,000 वर्ष है और उत्कृष्ट स्थिति एक पल्योपम है ।

### व्यंतर देव–देवियों का जघन्य–उत्कृष्ट आयुष्य

| देव–देवी | जघन्य आयुष्य | उत्कृष्ट आयुष्य |
|---|---|---|
| व्यंतर देव | 10,000 वर्ष | 1 पल्योपम |
| व्यंतर देवी | 10,000 वर्ष | ½ पल्योपम |

## ज्योतिष देवों की उत्कृष्ट–जघन्य स्थिति

**ज्योतिष्काणामधिकम् ।।4-48।।**

**ग्रहाणामेकम् ।।4-49।।**

**नक्षत्राणामर्धम् ।।4-50।।**

**तारकाणां चतुर्भागः ।।4-51।।**

**जघन्या त्वष्टभागः ।।4-52।।**

**चतुर्भागः शेषाणाम् ।।4-53।।**

**सामान्य अर्थ :–** ज्योतिष देवों की उत्कृष्ट स्थिति एक पल्योपम से कुछ अधिक है । ग्रह की एक पल्योपम है, नक्षत्र की आधा पल्योपम और तारों की ¼ पल्योपम उत्कृष्ट स्थिति है । तारों की जघन्य स्थिति $\frac{1}{8}$ पल्योपम है, शेष ज्योतिष देवों की जघन्य स्थिति ¼ पल्योपम है ।

## ज्योतिष देव–देवी की उत्कृष्ट–जघन्य आयुष्य

| विमान | देव की उत्कृष्ट स्थिति | देवी की उत्कृष्ट स्थिति | देव–देवी की जघन्य स्थिति |
|---|---|---|---|
| चन्द्र | 1 लाख वर्ष अधिक 1 पल्योपम | 50 हजार वर्ष अधिक आधा पल्योपम | $\frac{1}{4}$ पल्योपम |
| सूर्य | 1 हजार वर्ष अधिक 1 पल्योपम | 500 वर्ष अधिक $\frac{1}{2}$ पल्योपम | $\frac{1}{4}$ पल्योपम |
| ग्रह | 1 पल्योपम | $\frac{1}{2}$ पल्योपम | $\frac{1}{4}$ पल्योपम |
| नक्षत्र | $\frac{1}{2}$ पल्योपम | साधिक $\frac{1}{4}$ पल्योपम | $\frac{1}{4}$ पल्योपम |
| तारा | $\frac{1}{4}$ पल्योपम | साधिक $\frac{1}{8}$ पल्योपम | $\frac{1}{8}$ पल्योपम |

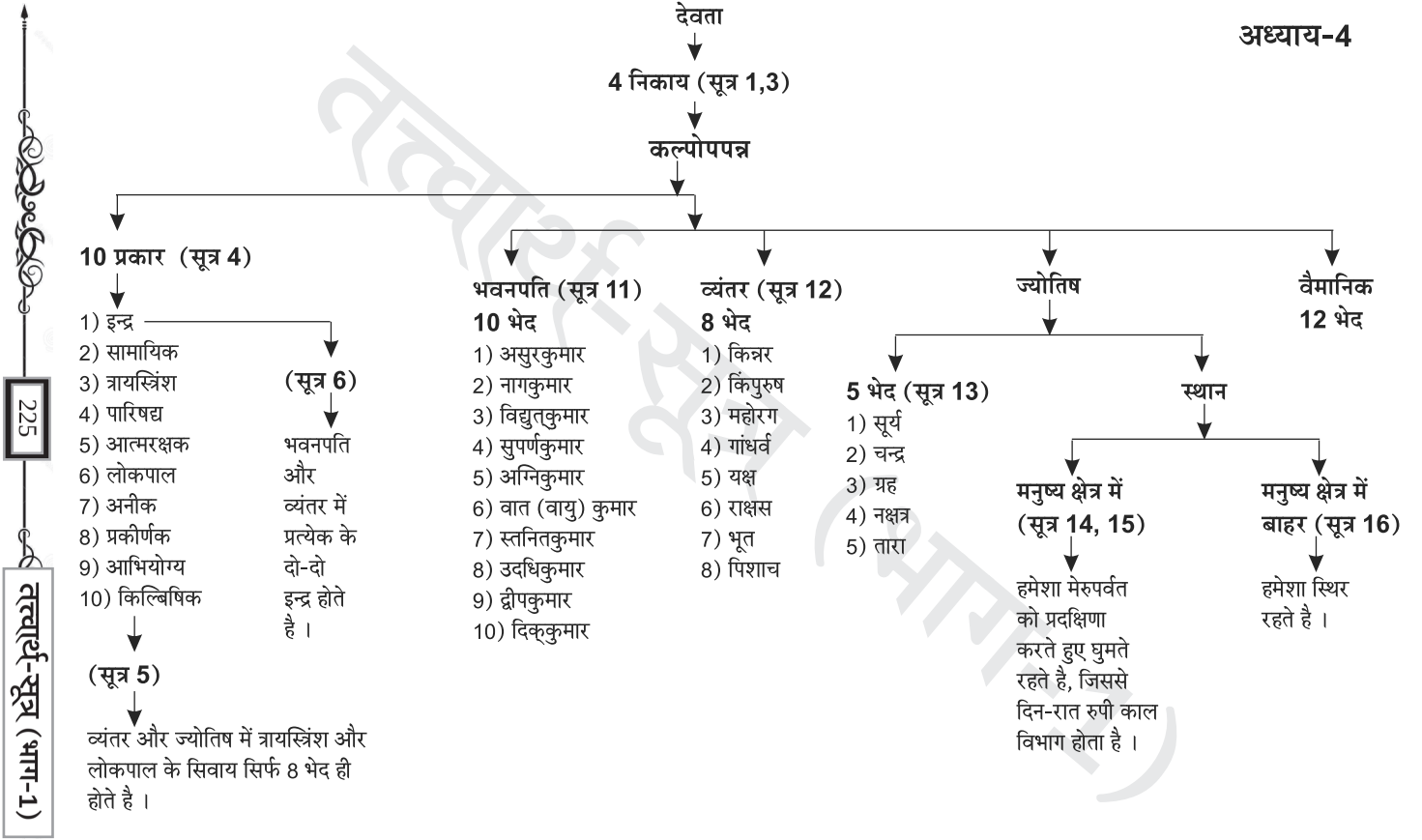
देवता
4 निकाय (सूत्र 1,3)
कल्पोपपन्न
10 प्रकार (सूत्र 4)
1) इन्द्र
2) सामायिक
3) त्रायस्त्रिंश
4) पारिषद्य
5) आत्मरक्षक
6) लोकपाल
7) अनीक
8) प्रकीर्णक
9) आभियोग्य
10) किल्बिषिक
(सूत्र 6)
भवनपति और व्यंतर में प्रत्येक के दो-दो इन्द्र होते है ।
(सूत्र 5)
व्यंतर और ज्योतिष में त्रायस्त्रिंश और लोकपाल के सिवाय सिर्फ 8 भेद ही होते है ।
भवनपति (सूत्र 11)
10 भेद
1) असुरकुमार
2) नागकुमार
3) विद्युत्कुमार
4) सुपर्णकुमार
5) अग्निकुमार
6) वात (वायु) कुमार
7) स्तनितकुमार
8) उदधिकुमार
9) द्वीपकुमार
10) दिक्कुमार
व्यंतर (सूत्र 12)
8 भेद
1) किन्नर
2) किंपुरुष
3) महोरग
4) गांधर्व
5) यक्ष
6) राक्षस
7) भूत
8) पिशाच
ज्योतिष
5 भेद (सूत्र 13)
1) सूर्य
2) चन्द्र
3) ग्रह
4) नक्षत्र
5) तारा
स्थान
मनुष्य क्षेत्र में (सूत्र 14, 15)
हमेशा मेरुपर्वत को प्रदक्षिणा करते हुए घुमते रहते है, जिससे दिन-रात रुपी काल विभाग होता है ।
मनुष्य क्षेत्र में बाहर (सूत्र 16)
हमेशा स्थिर रहते है ।
वैमानिक
12 भेद

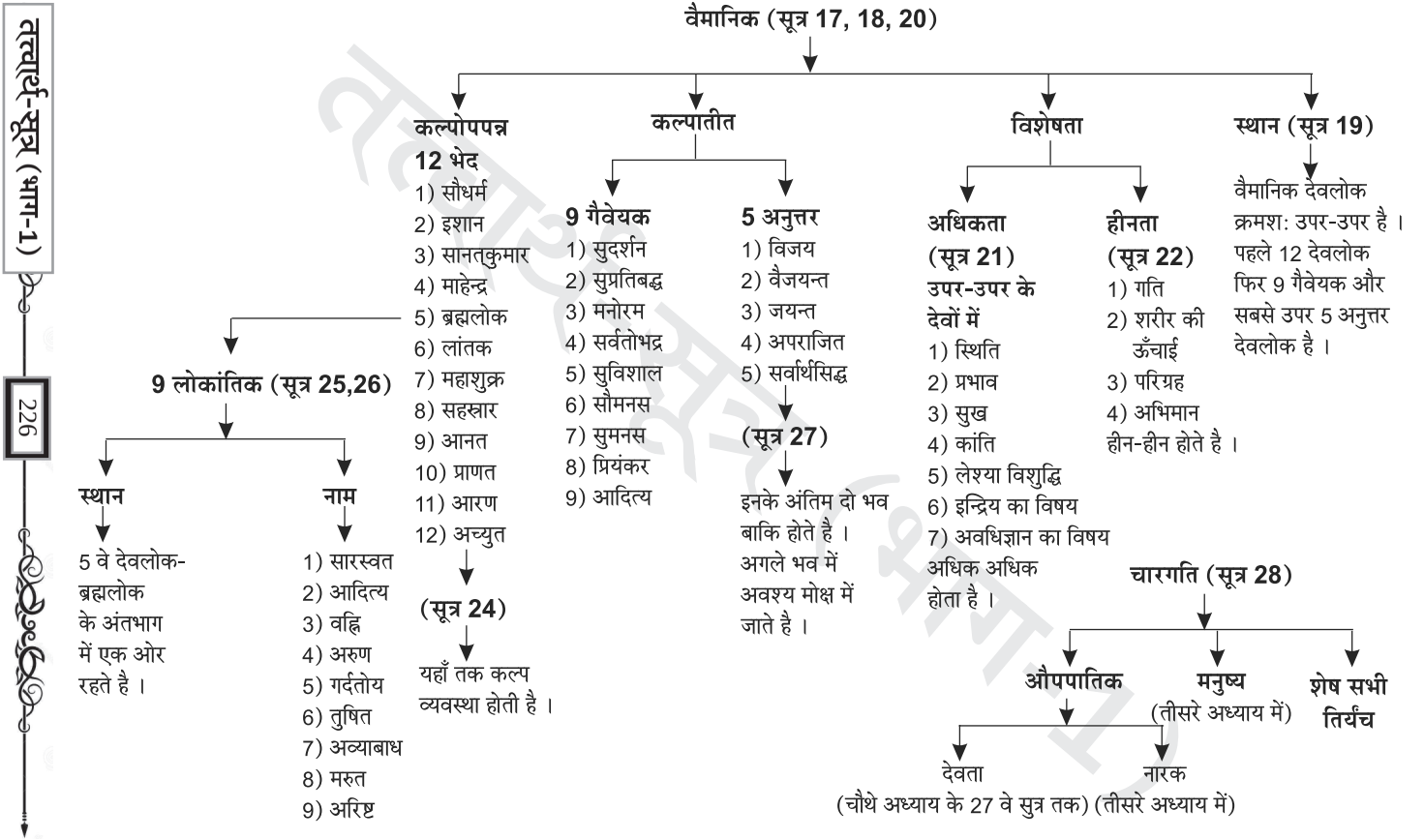
वैमानिक (सूत्र 17, 18, 20)
कल्पोपपन्न
12 भेद
1) सौधर्म
2) इशान
3) सानत्कुमार
4) माहेन्द्र
5) ब्रह्मलोक
6) लांतक
7) महाशुक्र
8) सहस्रार
9) आनत
10) प्राणत
11) आरण
12) अच्युत
(सूत्र 24)
यहाँ तक कल्प व्यवस्था होती है ।
9 लोकांतिक (सूत्र 25,26)
स्थान
5 वे देवलोक- ब्रह्मलोक के अंतभाग में एक ओर रहते है ।
नाम
1) सारस्वत
2) आदित्य
3) वह्नि
4) अरुण
5) गर्दतोय
6) तुषित
7) अव्याबाध
8) मरुत
9) अरिष्ट
कल्पातीत
9 गैवेयक
1) सुदर्शन
2) सुप्रतिबद्ध
3) मनोरम
4) सर्वतोभद्र
5) सुविशाल
6) सौमनस
7) सुमनस
8) प्रियंकर
9) आदित्य
5 अनुत्तर
1) विजय
2) वैजयन्त
3) जयन्त
4) अपराजित
5) सर्वार्थसिद्ध
(सूत्र 27)
इनके अंतिम दो भव बाकि होते है । अगले भव में अवश्य मोक्ष में जाते है ।
विशेषता
अधिकता (सूत्र 21)
उपर-उपर के देवों में
1) स्थिति
2) प्रभाव
3) सुख
4) कांति
5) लेश्या विशुद्धि
6) इन्द्रिय का विषय
7) अवधिज्ञान का विषय
अधिक अधिक होता है ।
हीनता (सूत्र 22)
1) गति
2) शरीर की ऊँचाई
3) परिग्रह
4) अभिमान
हीन-हीन होते है ।
स्थान (सूत्र 19)
वैमानिक देवलोक क्रमशः उपर-उपर है । पहले 12 देवलोक फिर 9 गैवेयक और सबसे उपर 5 अनुत्तर देवलोक है ।
चारगति (सूत्र 28)
औपपातिक
देवता
(चौथे अध्याय के 27 वे सुत्र तक)
नारक
(तीसरे अध्याय में)
मनुष्य
(तीसरे अध्याय में)
शेष सभी तिर्यंच

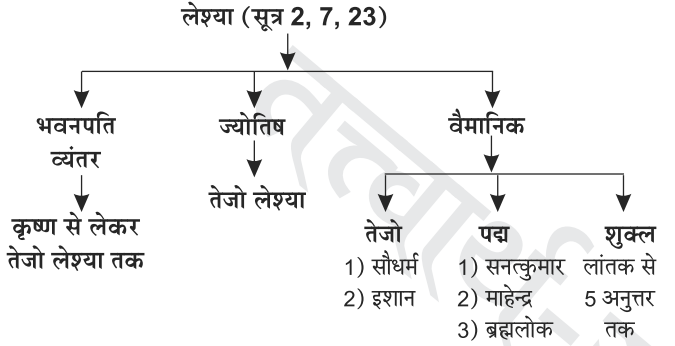


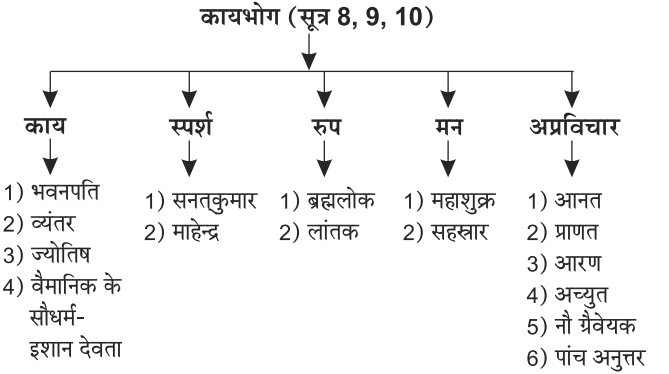


- स्थिति के सूत्र 29 से 53 तक के कोष्टक उन-उन सूत्र के विवेचनों के साथे है ।

5

# पंचम अध्याय

पहले के अध्यायों में जीव द्रव्य का वर्णन पूर्ण किया, अब अजीव तत्त्व का वर्णन करते हैं–

## अजीव तत्त्व के मुख्य भेद

**अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गलाः ।।5-1।।**

**सामान्य अर्थ :–** धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय ये चार अजीवकाय हैं ।

**विवेचन :–** अस्ति अर्थात् विद्यमान होना । काय अर्थात् प्रदेशों का समूह । जिसका अस्तित्व हो और प्रदेशों के समूह से बना हो उसे अस्तिकाय कहते हैं ।

अजीव तत्त्व में धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल अस्तित्व धारण करते हैं और प्रदेशों के समूह रूप हैं अतः उन्हें धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय कहते हैं ।

जीव भी अस्तित्व रखता है और प्रदेशों के समूह रूप है अतः उसे भी जीवास्तिकाय कहते हैं ।

काल द्रव्य के अलग प्रदेश नहीं होते हैं । उसके साथ **'अस्तिकाय'** शब्द का प्रयोग नहीं करते हैं ।

**1) धर्मास्तिकाय :–** किसी भी पदार्थ को सहज गति करनी हो अथवा लंबे समय तक गतिशील रहना हो तो उसे सहायता करनेवाला द्रव्य धर्मास्तिकाय है । यह एक स्वतंत्र द्रव्य है ।

जिस प्रकार तालाब में मछली स्वयं गति करती है, परंतु उस गति में उसे तालाब का पानी सहायता करता है, पानी उस मछली को जबरदस्ती गति नहीं कराता है परंतु मछली को गति करनी हो तो जल उसे अवश्य सहायक बनता है । उसी प्रकार धर्मास्तिकाय द्रव्य किसी

जीव और पुद्गल द्रव्य को गति में सहायता करता है, परंतु गति करने में प्रेरक बल नहीं बनता है ।

लोक-व्यवहार में धर्म–अधर्म शब्द का प्रयोग जिस अर्थ में किया जाता है, वह अर्थ यहाँ नहीं लेने का है ।

लोक में धर्म का अर्थ कर्त्तव्य, पुण्यकार्य, सुकृत आदि किया जाता है, वह अर्थ यहाँ संगत नहीं है ।

लोक में अधर्म का अर्थ पापकार्य, बुरा कार्य, दुष्कृत्य आदि किया जाता है, वह अर्थ यहाँ संगत नहीं हैं ।

धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय स्वतंत्र द्रव्य हैं ।

गतिशील पदार्थों को गति प्रदान करने में धर्मास्तिकाय द्रव्य सहायक बनता है ।

**2) अधर्मास्तिकाय :–** जीव और पुद्गल द्रव्य को स्थिर रहने में अधर्मास्तिकाय द्रव्य सहायता करता है ।

जिस प्रकार पृथ्वी किसी को खड़े रहने में मदद करती है, उसी प्रकार अधर्मास्तिकाय द्रव्य भी पदार्थ को स्थिर रहने में सहाय करता है ।

धर्म और अधर्म द्रव्य संपूर्ण लोकाकाश में एक समान रूप से व्याप्त हैं ।

लोकाकाश के जितने असंख्य आकाशप्रदेश हैं उतने ही धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय के असंख्य असंख्य प्रदेश हैं ।

लोकाकाश जितना ही इन दोनों द्रव्यों का विस्तार है ।

जगत् में धर्म–अधर्म नाम के द्रव्य नहीं होते तो जगत् में कुछ भी व्यवस्था ही नहीं होती ।

जगत् में धर्मास्तिकाय नाम का द्रव्य नहीं होता तो जगत् में किसी भी पदार्थ की गति ही नहीं होती और अधर्मास्तिकाय पदार्थ नहीं होता तो कोई पदार्थ स्थिर ही नहीं रहता ।

धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय दोनों अमूर्त अर्थात् अरूपी हैं, उनमें शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श नहीं होने से वे इन्द्रियों से ग्राह्य नहीं हैं ।

धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय सिर्फ लोकाकाश में हैं अलोकाकाश में नहीं हैं ।

धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय द्रव्य गति व स्थिति में सहायक होने के बावजूद स्वयं निष्क्रिय हैं, अतः वे बहिरंग हेतु हैं, परंतु मुख्य हेतु नहीं हैं ।

संपूर्ण लोकाकाश में धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय एक और अखंड द्रव्य रुप में हैं ।

**3) आकाशास्तिकाय :–** जीव और अजीव पदार्थों को अवकाश अर्थात् जगह देने का काम आकाश करता है ।

जिस प्रकार पानी के Glass में शक्कर डालते हैं तो पानी उस शक्कर को जगह (स्थान) दे देता है । उसी प्रकार सभी जीव व जड़ पदार्थों को रहने के लिए आकाश जगह देता है ।

किसी को जगह देते समय आकाश अपने स्थान से हटता नहीं है ।

आकाश स्वयं कोई भी जगह नहीं रोकता है, अतः किसी को जगह देने के लिए उसे हटने की जरूरत नहीं रहती है ।

वह अपने स्थान से हटे बिना सभी पदार्थों को अपने में समा लेता है । स्वयं स्थिर रहकर दूसरों को जगह देने का काम आकाश करता है ।

यह आकाश शाश्वत और अरूपी है, उसमें किसी प्रकार का रूप–रस–गंध और स्पर्श नहीं है।

**आकाश के दो भेद :– 1) लोकाकाश और 2) अलोकाकाश**

1) जहाँ जीव और अजीव दो द्रव्य रहे हुए हैं, उसे लोकाकाश कहते हैं ।

2) जहाँ आकाश को छोड़कर अन्य कोई द्रव्य रहा हुआ नहीं है, उसे अलोकाकाश कहते हैं ।

यद्यपि आकाश लोकालोक प्रमाण होने से क्षेत्र से अनंत है, परंतु लोकाकाश की अपेक्षा असंख्य है अर्थात् अलोकाकाश अनंत है जब कि लोकाकाश परिमित है ।

यद्यपि आकाश, लोक और अलोक में एक समान है, फिर भी धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय के साथ में रहने से लोकाकाश और अलोकाकाश ये दो भेद होते हैं ।

लोकाकाश के जितने आकाशप्रदेश (असंख्य) हैं उतने ही प्रदेश धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय के हैं ।

एक ही आकाशप्रदेश में धर्मास्तिकाय द्रव्य भी रहा हुआ है और अधर्मास्तिकाय भी रहा हुआ है ।

आकाशास्तिकाय, धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय तीनों का स्थान-ऐक्य होने पर भी तीनों का कार्य भिन्न-भिन्न है ।

**प्रश्न :–** गति और स्थिति आकाश का ही स्वभाव मान लें तो क्या आपत्ति है ?

**उत्तर :–** गति व स्थिति आकाश का धर्म मान लें तो अलोकाकाश में भी जीव व पुद्गल की गति व स्थिति माननी पड़ेगी–यदि ऐसा हो तो सभी पदार्थ अनंत अलोकाकाश में बिखर जाएंगे जिससे विश्व की समुचित व्यवस्था सिद्ध नहीं होगी अतः जीव और पुद्गल की गति और स्थिति में सहायक धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय स्वतंत्र द्रव्य ही हैं ।

**लोकाकाश :–** चारों ओर से घिरे हुए अंनत अलोकाकाश के बीच में 14 राजलोक प्रमाण लोकाकाश है ।

लोकाकाश की रचना कमर पर हाथ देकर दोनों पाँवों को चौड़ाकर गोलाकर घूमते हुए मनुष्य की आकृति जैसी है ।

चौदह राजलोक प्रमाण विश्व के तीन विभाग हो सकते हैं, जिन्हें ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और तिर्च्छालोक कहते हैं ।

ऊर्ध्वलोक में देवों के विमान हैं ।

अधोलोक में नरकावास है ।

तिर्च्छालोक में भवनपति, व्यंतर ,ज्योतिष देव, मनुष्य तथा तिर्यंच हैं ।

चौदह राजलोक के मध्य में गोलाकार एक राजलोक प्रमाण चौड़ी व 14 राजलोक प्रमाण ऊँची त्रस नाड़ी है, जिसमें त्रस जीव रहते हैं ।

त्रस नाड़ी के बाहर सिर्फ एकेन्द्रिय जीव रहते हैं ।

**4) पुद्गलास्तिकाय :–** 6 द्रव्यों में पुद्गल ही रूपी है अर्थात् मूर्त्त है। पुद्गल में ही शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श आदि गुणधर्म हैं। ये गुणधर्म अन्य किसी द्रव्य में नहीं हैं। हमें जो भी दिखाई देता है या जो व्यवहार में आता है, वह सब पुद्गल ही है।

पुद्गल के मुख्य चार गुण–रूप, रस, गंध और स्पर्श पुद्गल के प्रत्येक परमाणु में है। ये ही परमाणु जब स्कंध का रूप लेते हैं, तब उनमें शब्द, अंधकार, प्रकाश, छाया, सूक्ष्मत्व, स्थूलत्व आदि कई विकार पैदा होते हैं।

पाँचों इन्द्रियों के द्वारा जो कुछ भी ग्राह्य होता है, वह एक पुद्गल ही है।

पुद्गल के अविभाज्य अंश को परमाणु कहते हैं। उस परमाणु के दो भेद हैं– 1) सूक्ष्म और 2) व्यावहारिक।

जिसे हम व्यवहार नय से परमाणु कहते हैं, वह निश्चय नय से सूक्ष्म परिणाम को प्राप्त अनंत परमाणुओं का स्कंध है।

पुद्गल वह है जिसमें पूरण और गलन होता है अर्थात् संयोजन और विभाजन होता है।

**पुद्गलों की वर्गणाएँ :–**

विश्व में स्वतंत्र 1–1 परमाणु भी अनंत की संख्या में हैं।

दो परमाणु इकट्ठे होने पर द्व्यणुक बनते हैं।

तीन परमाणु इकट्ठा होने पर त्र्यणुक आदि बनते हैं, इस प्रकार अनंत परमाणु बनते हैं।

हमें दिखाई देने वाले सभी पदार्थ औदारिक वर्गणा से बने हैं।

पुद्गलों से बनी कुल 26 वर्गणाए हैं, उनमें से सिर्फ 8 ही ग्राह्य है, शेष अग्राह्य हैं।

इन वर्गणाओं के मुख्य दो भेद है– 1) औदारिक आदि 16 महावर्गणाएँ एवं 2) शेष 10 वर्गणाएं।

**पुद्गलों की 16 महावर्गणाएँ :–** इस 14 राजलोक प्रमाण लोक

में जितने पुद्गल परमाणु हैं, उन सब को मुख्यतया 8 भागों में बाँट सकते हैं–

1. औदारिक 2. वैक्यि 3. आहारक 4. तैजस 5. भाषा 6. श्वासोच्छवास 7. मन और 8. कार्मण ।

ये आठ वर्गणाएँ क्रमशः सूक्ष्म–सूक्ष्मतर हैं । ग्रहण और अग्रहण की अपेक्षा इनके 16 भेद हैं–

**1-2 औदारिक अग्रहण और औदारिक ग्रहण महावर्गणा :–**

इस जगत् में स्वतंत्र रूप से एक-एक परमाणु भी अनंत की संख्या में बिखरे हुए हैं, परन्तु वे सब परमाणु अग्राह्य हैं ।

दो-दो परमाणुओं के संयोजन से बने स्कंध भी इस दुनिया में अनंत हैं ।

तीन-तीन, चार-चार, करोड़-करोड़, असंख्य-असंख्य और अनंत-अनंत परमाणुओं के संयोजन से बनी हुई वर्गणाएँ भी इस दुनिया में अनंत हैं ।

अनंत परमाणुओं के समूह से बनी ये वर्गणाएँ भी जीवात्मा के द्वारा अग्राह्य होती हैं । ये औदारिक अग्रहण वर्गणा कहलाती है । अग्रहण वर्गणा में 1 परमाणु जुड़ने पर वही औदारिक ग्रहण वर्गणा बन जाती है । अनंत परमाणुओं के स्कंध से बनी यह औदारिक वर्गणा, मनुष्य और तिर्यंच के द्वारा ग्राह्य होती है ।

जैसे कोई व्यापारी मात्र सौ-सौ के नोटो से ही व्यापार में लेन-देन करता हो, तो उसके लिए एक से निन्यान्वें रुपये अग्राह्य हो जाती है । फिर एक रुपया बढने पर सौ पूर्णांक होने से ग्राह्य हो जाती है । पुनः एक सौ एक से एक सौ निन्न्यान्वें अग्राह्य हो जाती है । फिर एक रुपया बढने पर दो सौ पूर्णांक होने से ग्राह्य हो जाती है ।

वैसे ही इन सभी ग्राह्य-अग्राह्य वर्गणाओं में भी समझना चाहिए ।

**3-4 वैक्रिय अग्रहण और वैक्रिय ग्रहण महावर्गणा :–**औदारिक ग्रहण वर्गणा के स्कंधों में एक-एक परमाणु की वृद्धि से लेकर अनंत

परमाणु की वृद्धि होती है, तब वे स्कंध औदारिक और वैक्रिय दोनों के लिए अग्राह्य हो जाते हैं। पुनः उनमें एक-एक परमाणु की क्रमशः वृद्धि होने पर वह वैक्रिय शरीरवाले देव, नारक और वैक्रिय लब्धिधारी मानवों के लिए ग्रहण योग्य बनती है। औदारिक वर्गणा की अपेक्षा वैक्रिय वर्गणा में परमाणुओं की वृद्धि होने पर भी वह महावर्गणा सूक्ष्म-सूक्ष्म बनती जाती है।

**5-6 आहारक अग्रहण तथा आहारक ग्रहण महावर्गणाः—** वैक्रिय ग्रहण वर्गणा के स्कंधों में अनंत परमाणुओं की वृद्धि हो जाने पर वह वैक्रिय और आहारक के लिए अग्रहण योग्य बन जाती है। तत्पश्चात् उनमें एक-एक परमाणु की वृद्धि होने पर वह आहारक लब्धिधारी मुनियों के लिए ग्रहण योग्य बनती है।

**7-8 तैजस अग्रहण और तैजस ग्रहण महावर्गणाः—** ग्रहण किए आहार को पचाने में तैजस शरीर काम करता है। शरीर में रही जठराग्नि भी वास्तव में तैजस शरीर ही है।

आहारक महावर्गणा में अनंत परमाणु जुड़ने पर वह तैजस अग्रहण योग्य वर्गणा बन जाती है और उसी अग्रहण योग्य वर्गणा में एक परमाणु मिलने पर वह तैजस ग्रहण योग्य वर्गणा बन जाती है।

**9-10 भाषा अग्रहण और भाषा के लिए ग्रहण योग्य महावर्गणाः—** तैजस वर्गणा के द्वारा ग्राह्य स्कंधों में अनंत परमाणु मिलने पर वह भाषा अग्रहण योग्य वर्गणा बन जाती है और उसी में 1 परमाणु मिलने पर वह भाषा के लिए ग्रहण योग्य वर्गणा बन जाती है।

**11-12 श्वासोच्छ्वास अग्रहण और श्वासोच्छ्वास ग्रहण महावर्गणाः—** भाषा वर्गणा के स्कंधों में अनंत परमाणु जुड़ने पर वह श्वासोच्छ्वास के लिए अग्रहण बन जाती है और उसी में 1 परमाणु की वृद्धि होने पर वह श्वासोच्छ्वास ग्रहण योग्य महावर्गणा बन जाती है।

**13-14 मन अग्रहण और मन ग्रहण महावर्गणा :—** श्वासोच्छ्वास महावर्गणा के स्कंधों में जब अनंत परमाणुओं की वृद्धि हो जाती है तब

वह मन के लिए अग्रहण वर्गणा बन जाती है और उसी में 1 परमाणु की वृद्धि होने पर मन के लिए ग्रहण योग्य वर्गणा बन जाती है ।

**15-16 कर्म अग्रहण और कर्म ग्रहण महावर्गणा :–** मनो वर्गणा के स्कंधों में अनंत परमाणु की वृद्धि होने पर कर्म के लिए अग्रहण योग्य बन जाती है और उसी में अनंत परमाणु जुड़ने पर वह कर्म के लिए ग्रहण योग्य वर्गणा बन जाती है ।

**शेष 10 मार्गणाएँ जो सभी अग्राह्य है,** उनके नाम–

17) ध्रुवाचित्त 18) अध्रुवाचित्त 19) प्रथम ध्रुवशुन्य 20) प्रत्येक शरीर 21) द्वितीय ध्रुवशुन्य 22) बादर निगोद 23) तृतीय ध्रुवशुन्य 24) सुक्ष्म निगोद 25) चतुर्थ ध्रुवशुन्य 26) अचित्त महास्कंध ।

इनका विशेष वर्णन कर्मप्रकृति आदि ग्रंथों में किया गया है ।

**आकाशप्रदेश और पुद्गल :–**

लोकाकाश रूप चौदह राजलोक में आकाशप्रदेश असंख्य हैं, जब कि पुद्गलास्तिकाय के परमाणु अनंतानंत हैं । अर्थात् पुद्गल परमाणु अत्यधिक हैं ।

पुद्गल परमाणुओं की विशेषता है कि जिस आकाशप्रदेश में एक पुद्गल परमाणु रहा हुआ हो, वहीं पर दो–चार और यावत् अनंत परमाणु भी रह सकते हैं ।

पुद्गल–परमाणु एक–दूसरे का प्रतिघात न करें ऐसे सूक्ष्म परिणाम की अवस्था को प्राप्त हों तो एक आकाश प्रदेश में अनंत परमाणु भी रह सकते हैं ।

पुद्गल परमाणु में एक–दूसरे के अंदर समाविष्ट होने का एक विशिष्ट गुणधर्म होता है ।

जिस प्रकार तपे हुए लोहे के गोले में पानी के परमाणुओं का सहज प्रवेश हो जाता है अथवा अतिघन लोहे को आग में तपाने पर अग्नि के परमाणुओं का सहज प्रवेश हो जाता है ।

अनंत परमाणुओं से बने स्कंध में सूक्ष्म परिणाम पाने की भी शक्ति रही हुई है ।

**'पू.उपा. विनयविजयजी म.सा.'** ने **'लोकप्रकाश ग्रंथ'** में इस बात को समझाते हुए कहा है कि –

एक कर्ष (माप) प्रमाण पारे में 100 कर्ष प्रमाण सोना समाविष्ट हो जाता है फिर भी पारे का प्रमाण एक कर्ष प्रमाण ही रहता है ।

फिर औषधि के प्रयोग द्वारा उसमें से 100 कर्ष सोना और 1 कर्ष पारा अलग किया जा सकता है ।

अमुक औषधि का प्रयोग करने पर पारे में बुभुक्षित परिमाण पैदा होता है और वह सोने को भी खा जाता है फिर भी पारे का वजन बढ़ता नहीं है तथा रेचक औषधि द्वारा उस सोने को वापस अलग कर सकते हैं ।

यह कोई चमत्कार या आश्चर्य नहीं है, परंतु पुद्गल का ही विशिष्ट गुणधर्म है ।

पुद्गल स्कंध के दो प्रकार हैं–

**1) बादर परिणामी स्कंध :** जिसमें आठ स्पर्श होते हैं ।

**2) सूक्ष्म परिणामी स्कंध :** जिसमें चार स्पर्श होते है ।

बादर परिणामी स्कंध जब सूक्ष्म परिणाम में बदल जाता है, तब वजनरहित और अदृश्य हो जाता है ।

पुद्गल द्रव्य में वर्ण, गंध, रस, स्पर्श और संस्थान होता है । इन पाँच गुणधर्मों में स्पर्श के आठ भेद हैं । ये परस्पर विरोधी चार युगलरूप हैं । 1) मृदु–कठोर, 2) लघु–गुरु, 3) शीत–उष्ण और 4) स्निग्ध–रुक्ष ।

एक समय में एक साथ में चार जोड़ों में से एक–एक अर्थात् चार गुणधर्म होते हैं ।

बादर परिणामी स्कंध जब सूक्ष्म परिणामी बनते हैं, तब उनमें स्पर्श के दो ही गुणधर्म रहते हैं । शीत–उष्ण में से एक तथा स्निग्ध–रुक्ष में से एक अर्थात् दो ही गुणधर्म रहते हैं तथा मृदु–कठोर व गुरु–लघु ये चार गुणधर्म अदृश्य हो जाते हैं । इस कारण वे स्कंध वजनरहित बन जाते हैं ।

**पंचास्तिकाय रूप विश्व :–**

यद्यपि जीव भी प्रदेशों के समूह रूप होने से अस्तिकाय रूप है, परंतु यहाँ सिर्फ अजीव तत्त्व का ही विषय होने से चार की ही बात की है ।

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय के स्कंध, देश और प्रदेश में तीन–तीन भेद होते हैं तथा पुद्गलास्तिकाय के स्कंध, देश, प्रदेश और परमाणु ये चार भेद होते हैं ।

स्कंध अर्थात् वस्तु का संपूर्ण विभाग । देश अर्थात् वस्तु का सविभाज्य एक भाग । प्रदेश अर्थात् वस्तु के साथ जुडा हुआ वस्तु का निर्विभाज्य भाग ।

निर्विभाज्य अर्थात् केवली की दृष्टि से भी जिसके पुनः दो भाग नहीं हो सकते हो, ऐसा सूक्ष्म अंश ।

परमाणु अर्थात् मूल वस्तु से अलग हुआ निर्विभाज्य भाग ।

**प्रदेश और परमाणु में फर्क :–**

केवली की दृष्टि से भी जिसके दो विभाग न हो उसे प्रदेश और परमाणु कहते हैं । परंतु उन दोनों में फर्क इतना ही है कि प्रदेश स्कंध से जुड़ा हुआ होता है और परमाणु स्कंध से अलग हुआ होता है ।

इस प्रकार तत्त्वार्थ-सूत्रकार ने अजीव तत्त्व के कुल तेरह भेद बतलाए ।

| | | |
|---|---|---|
| धर्मास्तिकाय के तीन भेद | – | स्कंध, देश और प्रदेश । |
| अधर्मास्तिकाय के तीन भेद | – | स्कंध, देश और प्रदेश । |
| आकाशास्तिकाय के तीन भेद | – | स्कंध, देश और प्रदेश । |
| पुद्गलास्तिकाय के चार भेद | – | स्कंध, देश, प्रदेश और परमाणु । |

`नवतत्त्व प्रकरण' में अजीव तत्त्व के 14 भेद हैं । वहाँ काल को चौदहवें भेद के रूप में लिया है । यहाँ काल का वर्णन 38 वें सूत्र में होगा । काल द्रव्य, अस्तिकाय न होने से उसका वर्णन यहाँ नहीं किया है ।

## पंचास्तिकाय में जीव द्रव्य

**द्रव्याणि जीवाश्च ।।5-2।।**

**सामान्य अर्थ :–** धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, तथा पुद्गलास्तिकाय आदि चार तथा जीव ये पाँच द्रव्य कहलाते हैं ।

**विवेचन :–** धर्मास्तिकाय आदि चार तथा जीवास्तिकाय ये पाँच द्रव्य कहलाते हैं ।

द्रव्य की व्याख्या इसी अध्याय के 37 वें सूत्र में बताई जाएगी ।

जो गुण व पर्याय से युक्त हो, उसे द्रव्य कहते हैं । गुण अर्थात् जो सदैव द्रव्य के साथ रहते हैं । उदा. ज्ञान आत्मा का गुण है, अतः वह सदैव आत्मा के साथ ही रहता है, वह आत्मा से कभी अलग नहीं होता है । जहाँ आत्मा होगी, वहाँ ज्ञान गुण होगा ही । पर्याय अर्थात् वस्तु की बदलती हुई अवस्थाएँ । उदा. मानव देह की अवस्थाएँ बदलती रहती हैं । आज जो बाल शरीर है, वह कुछ समय बाद युवा हो जाता है । आज जो युवा शरीर है, वह कुछ समय बाद वृद्ध हो जाता है ।

बाल, युवा, वृद्धावस्था आदि मानवदेह के ही पर्याय कहलाते हैं ।

जैन दर्शन के अनुसार यह सारा जगत् पाँच द्रव्यों से बना हुआ है । इन्हें पंचास्तिकाय भी कहते हैं । अस्तिकाय अर्थात् प्रदेशों का समूह । धर्मास्तिकाय आदि पाँच की **'द्रव्य'** यह सामान्य संज्ञा है और **'धर्मास्तिकाय'** आदि विशेष संज्ञा है ।

## धर्मास्तिकाय आदि द्रव्यों में समानता–असमानता

**नित्याऽवस्थितान्यरूपाणि ।।5-3।।**

**रूपिणः पुद्गलाः ।।5-4।।**

**सामान्य अर्थ :–** धर्मास्तिकाय आदि पाँचों द्रव्य–नित्य तथा अवस्थित (स्थिर) हैं तथा पुद्गलास्तिकाय सिवाय शेष चार द्रव्य अरूपी हैं । पुद्गलास्तिकाय रूपी है ।

**विवेचन :–** पूर्व के सूत्र में पंचास्तिकाय के नाम बताए । प्रस्तुत सूत्र में उनमें रही समानता–असमानता बताते हैं ।

धर्मास्तिकाय आदि पाँच द्रव्यों में नित्यता और अवस्थितता की समानता है । जबकि पुद्गलास्तिकाय के सिवाय धर्मास्तिकाय आदि चार द्रव्यों में अरूपी स्वभाव की समानता है । पुद्गल द्रव्य रूपी होने से उसमें असमानता है ।

**नित्यता =** जिन द्रव्यों के स्वभाव (धर्म) में व्यय अर्थात् विनाश नहीं होता है, वे द्रव्य नित्य कहलाते हैं । धर्मास्तिकाय आदि पाँच द्रव्य अपने अपने स्वभाव को कभी छोड़ते नहीं हैं । उनके स्वभाव का वर्णन इसी अध्याय के **17** वें सूत्र से बताया जाएगा । ये सभी पाँच द्रव्य अनादि काल से विद्यमान हैं और अनंत काल तक रहनेवाले हैं ।

**अवस्थितता =** जिन द्रव्यों के स्वभाव (धर्म) में कभी परिवर्तन नहीं होता है, वे द्रव्य अवस्थित कहलाते हैं । धर्मास्तिकाय आदि पाँच द्रव्य कभी कम नहीं होते हैं और कभी बढ़ते भी नहीं हैं । हमेशा अवस्थित ही रहते हैं । जैसे जड़ के गुणधर्म कभी जीव द्रव्य में नहीं आते हैं और जीव के गुणधर्म कभी जड़ द्रव्य में नहीं आते हैं ।

**अरूपी =** जिन द्रव्यों में रूप का अभाव होता है, वे अरूपी कहलाते हैं । धर्मास्तिकाय आदि चार द्रव्यों का कोई रूप नहीं है और रूप का अभाव होने से उनमें स्पर्श का भी अभाव है । ये सभी चार द्रव्य पाँचों इन्द्रियों से अग्राह्य हैं ।

**रूपी =** जिस द्रव्य में रूप होता है, वह रूपी कहलाता है । पुद्गल द्रव्य ही रूपी है । रूप अर्थात् आकार । वह आकार–रूप, रस, गंध, स्पर्श स्वरूप एक विशिष्ट परिणाम है, जो आँख आदि इन्द्रियों से ग्राह्य है । पुद्गल द्रव्य में रूप होने से स्पर्श आदि भी अवश्य होते हैं । परमाणु से लेकर अनंतप्रदेशी स्कंध तक सभी पुद्गल द्रव्य रूपी ही हैं ।

## तीन द्रव्यों की एकता

**आऽऽकाशादेकद्रव्याणि ।।5-5।।**

**सामान्य अर्थ :–** पंचास्तिकाय में आकाश तक के द्रव्य एक-एक हैं ।

**विवेचन :–** पंचास्तिकाय में धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय समस्त चौदह राजलोक में एक–एक ही हैं । इनके समान कोई दूसरा द्रव्य नहीं है । इनमें जो स्कंध, देश और प्रदेश के भेद माने जाते हैं, वह सिर्फ एक कल्पना ही है ।

इनसे विपरीत जीवास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय–दोनों द्रव्य अनेक हैं । दोनों का प्रमाण अनंत है ।

वेदांत मत में एक ही आत्मा मानते हैं । जैसे आकाश में रहा एक ही चन्द्रमा अलग–अलग स्थान में अनेक रूप दिखता है, वैसे वेदान्त मतवाले जगत् में जितने शरीर हैं उन सभी में एक ही आत्मा मानते है ।

परंतु इस सूत्र में जीव द्रव्य को अनेक बताकर ग्रंथकारश्री ने वेदान्त मत का खंडन किया है । वास्तव में जगत् में रहे प्रत्येक शरीर में आत्मा भिन्न-भिन्न है ।

## द्रव्यों में निष्क्रियता

**निष्क्रियाणि च ।।5–6।।**

**सामान्य अर्थ :–** आकाश तक के द्रव्य निष्क्रिय हैं ।

**विवेचन :–** पंचास्तिकाय में धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय गति आदि क्रिया की अपेक्षा निष्क्रिय हैं । इनमें गमनागमन आदि विशेष क्रियाएँ नहीं होती हैं । मात्र उत्पाद–व्यय रूप सामान्य क्रियाएँ होती हैं ।

इनसे विपरीत जीवास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय एक जगह से अन्य जगह पर गमनागमन कर सकते हैं अतः ये दोनों द्रव्य सक्रिय हैं ।

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय ये तीनों द्रव्य एक समान विस्तारवाले हैं। एक ही स्थान में ये तीनों एक साथ में ही रहे हुए हैं। फिर भी ये तीनों स्वतंत्र हैं, तीनों के कार्य भिन्न–भिन्न हैं। ये तीनों हमेशा के लिए स्थिर हैं, कभी भी कोई गति नहीं करते हैं। हमेशा निष्क्रिय बनकर जीव और पुद्गल द्रव्यों को गति, स्थिति और स्थान देने में सहायक बनते हैं।

## द्रव्यों में प्रदेशों का परिमाण

**असंख्येयाः प्रदेशा धर्माधर्मयोः ।।5–7।।**

**जीवस्य च ।।5–8।।**

**आकाशस्यानन्ताः ।।5–9।।**

**सामान्य अर्थ :–** धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय के असंख्य प्रदेश हैं। जीवास्तिकाय के भी असंख्य प्रदेश हैं। आकाशास्तिकाय के अनन्त प्रदेश हैं।

**विवेचन :–** अनंत आकाश के बीच में लोकाकाश रूपी विश्व रहा हुआ है। इसका प्रमाण चौदह राजलोक रूप हैं। पूरे विश्व में धर्म–अधर्म और लोकाकाश एक साथ में रहे हुए हैं। जितने स्थान में लोकाकाश रहा हुआ है, उतने में धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय भी रहे हुए हैं। इसी के कारण इस लोकाकाश में जीव और पुद्गल–गति और स्थिति कर सकते हैं।

प्रस्तुत तीन सूत्रों में धर्मास्तिकाय आदि के प्रदेशों की संख्या बताई है। प्रदेश अर्थात् वस्तु का निर्विभाज्य सूक्ष्म अंश, जिसके दो विभाग नहीं कर सकते हैं।

इस अंतिम अंश को वैज्ञानिक Elementary cell कहते हैं।

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, लोकाकाश में रहे आकाशास्तिकाय एवं एक जीव के आत्मप्रदेशों की संख्या असंख्य है। इन चारों के प्रदेश एक समान–तुल्य हैं। जबकि अलोकाकाश एवं लोकाकाश–रूप समस्त

आकाश के प्रदेशों की संख्या अनंत है ।

इस विराट् विश्व में अनंतानंत जीव रहे हुए हैं । प्रत्येक जीव के आत्मप्रदेशों की संख्या एक समान है–असंख्य है । एक जीव के जितने आत्मप्रदेश हैं, उतने ही दूसरे–तीसरे आदि सभी जीवों के आत्मप्रदेश हैं । किसी जीव के आत्मप्रदेश कम या ज्यादा नहीं हैं । चाहे वे निगोद में रहे अनंतानंत जीव हों, या सूक्ष्म एकेन्द्रिय के जीव हों अथवा चाहे वह 3 कोस ऊँचा मनुष्य हो या 500 धनुष की ऊँची काया वाला सातवीं नरक का नारक हो–सभी गतियों में रहे जीवों के आत्मप्रदेशों की संख्या एक समान ही है । शरीर की ऊँचाई के आधार पर आत्मप्रदेशों की संख्या बढ़ती है या कम होती है–ऐसा नहीं है । शरीर की ऊँचाई के आधार पर मात्र आत्मप्रदेशों का संकोच और विकास होता है । जीव जब बड़ा शरीर धारण करता है तब आत्मप्रदेशों का विस्तार होता है और जब छोटा शरीर धारण करता है तब उनका संकोच होता है ।

***समस्त चौदह राजलोक में जो धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और लोकाकाश के प्रदेशों के प्रमाण जितने एक जीव के आत्मप्रदेश हैं । इससे यह सिद्ध होता है कि जीव के आत्मप्रदेश अत्यंत ही सूक्ष्म हैं ।***

आत्मप्रदेशों का यह सूक्ष्मबोध सर्वज्ञ के सिवाय अन्य मिथ्यामत के देवों को कैसे हो सकता है ?

आकाश के दो भेद हैं । चौदह राजलोक में रहे आकाश को लोकाकाश कहते हैं एवं चौदह राजलोक के बाहर रहे आकाश को अलोकाकाश कहते हैं । अलोक का विस्तार अंनत है । अलोक की अपेक्षा लोक का क्षेत्र अत्यंत ही छोटा है । अतः लोक में रहे लोकाकाश के प्रदेशों की संख्या असंख्य है, जबकि अलोकाकाश के प्रदेशों की संख्या अनंत है ।

**21 प्रकार की संख्या**

**1) संख्याता –** जिस संख्या का प्रमाण इतना हो कि उसकी

गणना की जा सके, वह संख्याता (Countable) है । संख्याता के 3 भेद हैं ।

**i) जघन्य संख्याता –** दो ।

**ii) मध्यम संख्याता –** तीन से लेकर उत्कृष्ट संख्याता से एक कम ।

**iii) उत्कृष्ट संख्याता –** चौथे कर्मग्रंथ एवं लोकप्रकाश में चार प्याले के उदाहरण से बताई अत्यंत बड़ी संख्या ।

**2) असंख्याता –** जिस संख्या का प्रमाण इतना बड़ा है कि उसकी गणना करना ही अशक्य हो, वह असंख्याता (Uncountable) है । असंख्याता के 9 भेद हैं –

(i) पहला असंख्यात – जघन्य परीत्त असंख्यात
(ii) दूसरा असंख्यात – मध्यम परीत्त असंख्यात
(iii) तीसरा असंख्यात – उत्कृष्ट परीत्त असंख्यात
(iv) चौथा असंख्यात – जघन्य युक्त असंख्यात
(v) पाँचवाँ असंख्यात – मध्यम युक्त असंख्यात
(vi) छठा असंख्यात – उत्कृष्ट युक्त असंख्यात
(vii) सातवाँ असंख्यात – जघन्य असंख्य असंख्यात
(vii) आठवाँ असंख्यात – मध्यम असंख्य असंख्यात
(ix) नौवाँ असंख्यात – उत्कृष्ट असंख्य असंख्यात

**3) अनंत –** जिस संख्या का प्रमाण इतना अत्यधिक हो कि उसकी गणना कभी भी पूरी ही न हो, वह अनंत (Infinite) है । अनंत के भी 9 भेद हैं–

(i) पहला अनंत – जघन्य परीत्त अनंत
(ii) दूसरा अनंत – मध्यम परीत्त अनंत
(iii) तीसरा अनंत – उत्कृष्ट परीत्त अनंत
(iv) चौथा अनंत – जघन्य युक्त अनंत
(v) पाँचवाँ अनंत – मध्यम युक्त अनंत
(vi) छठा अनंत – उत्कृष्ट युक्त अनंत

(vii) सातवाँ अनंत – जघन्य अनंत अनंत
(vii) आठवाँ अनंत – मध्यम अनंत अनंत
(ix) नौवाँ अनंत – उत्कृष्ट अनंत अनंत

विस्तार से समझने के लिए लोकप्रकाश,चौथा कर्मग्रंथ आदि ग्रंथ देखें ।

## पुद्गल-प्रदेशों का परिमाण

**संख्येयाऽसंख्येयाश्च पुद्गलानाम् ।।5 –10।।**

**सामान्य अर्थ :–** पुद्गल द्रव्य के संख्य, असंख्य और अनंत प्रदेश हैं ।

**विवेचन :–** पूर्व सूत्र में धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और जीवास्तिकाय के प्रदेशों की संख्या का वर्णन किया । प्रस्तुत सूत्र में पुद्गल द्रव्य के प्रदेशों की संख्या का निरूपण करते हैं । पुद्गल द्रव्य–जीवद्रव्य के समान अनंत हैं । उनमें कुछ पुद्गल द्रव्य संख्यात प्रदेशवाले हैं, कुछ पुद्गल असंख्य प्रदेशवाले हैं, तो कुछ प्रदेश अनंत प्रदेशवाले हैं । किसी पुद्गल द्रव्य में दो प्रदेश हैं, किसी में तीन, किसी में चार, इसी तरह किसी में लाख, करोड, अरब, असंख्य और अनंत प्रदेश रहे हुए हैं । सूत्र में अनंत शब्द का उल्लेख नहीं किया है । **'अनंत'** शब्द पूर्व सूत्र में है, जिसका इस सूत्र के संबंध में **'च'** शब्द से किया है ।

जीव द्रव्य की तरह पुद्गल द्रव्य में भी विकास और संकोच होता है । जैसे किसी बंद कमरे में कोई संगीत चल रहा हो , तो शब्द के पुद्गल कमरे के भीतर ही संकुचित रूप में रहते हैं, यदि कमरे के खिड़की–दरवाजे खोल दें तो वे ही पुद्गल विकसित होकर फैलते हैं ।

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और जीवद्रव्य के प्रदेश मूल द्रव्य से कभी अलग नहीं होते हैं क्योंकि ये चारों द्रव्य अरूपी हैं । अरूपी द्रव्यों में विभाजन और संश्लेष नहीं होता है । पुद्गल द्रव्य रूपी है इसलिए इसमें विभाजन और संश्लेष दोनों होते हैं । एक

स्कंध के प्रदेश, दूसरे स्कंध के प्रदेश के साथ जुड़ जाते हैं। इसलिए पुद्गल द्रव्य के स्कंधों में प्रदेशों की संख्या का निश्चय नहीं है। किसी में संख्य प्रदेश हैं, किसी में असंख्य प्रदेश हैं और किसी में अनंत प्रदेश हैं।

## परमाणु के प्रदेश

**नाणोः ।।5-11।।**

**सामान्य अर्थ :–** परमाणु के प्रदेश नहीं हैं।

**विवेचन :–** पिछले सूत्र में पुद्गल द्रव्य के संख्य, असंख्य और अनंत प्रदेश का उल्लेख किया। प्रस्तुत सूत्र में इसका अपवाद बताते हैं कि–अणु, पुद्गल के स्कंध से अलग पड़ा हुआ निर्विभाज्य अंश है। इसलिए अणु के कोई भी प्रदेश नहीं होते हैं। यदि उसके भी प्रदेश होंगे तो वह अणु ही नहीं रहेगा।

अणु के आदि प्रदेश, मध्यम प्रदेश और अंतिम प्रदेश–तीनों नहीं होते हैं। इसलिए अणु निरवयव है। चर्म चक्षु से अणु को देखा नहीं जा सकता है। विशिष्ट ज्ञानी ही उसे अपने ज्ञानचक्षु से देख सकते हैं।

वर्तमान में रहे वैज्ञानिक चाहे जितनी प्रगति कर लें, वे भी अणु को देख नहीं सकते हैं। जिसे वैज्ञानिक अणु के रूप में मानते हैं, वह वास्तविक रूप में अणु नहीं, बल्कि अनंत प्रदेशात्मक स्कंध ही है।

## धर्मास्तिकाय आदि द्रव्यों का आधार क्षेत्र

**लोकाकाशेऽवगाहः ।।5-12।।**

**सामान्य अर्थ :–** धर्मास्तिकाय आदि चार द्रव्य लोकाकाश में हैं।

**विवेचन :– ``जितने आकाश में धर्मास्तिकाय आदि चार द्रव्य रहे हुए हैं, वह लोकाकाश है। शेष जो अनंत आकाश है, वह अलोकाकाश है।''** इससे सिद्ध होता है कि धर्मास्तिकाय आदि चार द्रव्य लोकाकाश में ही हैं।

धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय–जीव और पुद्गल की गति

और स्थिति करने में सहायक हैं, इसलिए धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय सिर्फ लोकाकाश में होने से जीव और पुद्गल भी लोकाकाश में ही हैं। उसके बाहर नहीं हैं।

अन्य द्रव्यों को अवगाहना देने का स्वभाव अलोकाकाश में भी है फिर भी वहाँ धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय का अभाव होने के कारण जीव और पुद्गल–गति और स्थिति नहीं कर सकते हैं।

## धर्मास्तिकाय आदि के स्थिति-क्षेत्र

**धर्माऽधर्मयोः कृत्स्ने ।।5–13।।**

**एकप्रदेशादिषु भाज्यः पुद्गलानाम् ।।5–14।।**

**असंख्येय–भागादिषु जीवानाम् ।।5–15।।**

**सामान्य अर्थ :–** धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय संपूर्ण लोकाकाश में हैं। लोकाकाश के एक प्रदेश से लेकर असंख्य प्रदेश तक के क्षेत्र में पुद्गल द्रव्य रहता है।

लोकाकाश के क्षेत्र में अंगुल के असंख्यातवें भाग से लेकर संपूर्ण लोकाकाश तक जीव द्रव्य रहता है।

**विवेचन :–** पूर्व सूत्र में बताया है कि धर्मास्तिकाय आदि द्रव्य लोकाकाश में ही हैं। प्रस्तुत तीन में धर्मास्तिकाय आदि द्रव्यों की लोकाकाश में रही स्थिति, मर्यादा बताते हैं।

**धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकय –** धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय द्रव्य संपूर्ण लोकाकाश में फैले हुए हैं। लोकाकाश का एक प्रदेश भी ऐसा नहीं है, जहाँ पर धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय न हों। तीनों द्रव्य एक साथ रहे हुए हैं। इनके प्रदेशों की संख्या भी एक समान है। यह स्थिति आज है और कल नहीं–ऐसा नहीं है–बल्कि अनादि काल से है। तीनों द्रव्यों का परस्पर संयोग–संबंध अनादि काल से है।

**पुद्गल द्रव्य –** पुद्गलास्तिकाय में जो प्रदेशरहित है, संख्यात

प्रदेशवाले हैं, असंख्यात प्रदेशवाले हैं अथवा अनंत प्रदेशवाले हैं, ऐसे पुद्गल द्रव्य लोकाकाश के एक प्रदेश में, कोई दो प्रदेश में, यावत् असंख्य प्रदेश में रहे हुए हैं ।

अप्रदेशी परमाणु एक आकाशप्रदेश में रहता है । दो प्रदेशवाला स्कंध यानी द्व्यणुक एक अथवा दो प्रदेश में रहता है । इसी तरह क्रमशः संख्यात प्रदेशवाला स्कंध एक, दो या संख्यात आकाशप्रदेश में रहता है । असंख्य प्रदेशवाला स्कंध एक, दो, संख्यात या असंख्यात आकाशप्रदेश में रहता है । अनंत प्रदेशवाला स्कंध भी एक, दो, संख्यात या असंख्यात आकाशप्रदेश में रहता है, क्योंकि लोकाकाश का प्रमाण असंख्य आकाशप्रदेश ही है ।

प्रत्येक पुद्गल द्रव्य की अवगाहना भिन्न–भिन्न है, तो पुद्गल द्रव्य की अवगाहना क्षेत्र भी भिन्न–भिन्न है । पुद्गल द्रव्य का परिणमन अत्यंत ही विचित्र है । कभी–कभी अनंतप्रदेशी स्कंध भी एक आकाशप्रदेश में समा जाता है, तो कभी वही अनंतप्रदेशी स्कंध दो, तीन और यावत् असंख्य प्रदेश जितने क्षेत्र में फैल जाता है ।

जो पुद्गल द्रव्य जितने प्रदेश का है, उतने अथवा उससे कम आकाशप्रदेश में रह सके, उतनी ही उसकी अवगाहना हो सकती है । जैसे दो प्रदेश का स्कंध–एक या दो आकाशप्रदेश में रह सकता है । तीन प्रदेश का स्कंध–एक, दो या तीन आकाशप्रदेश में रह सकता है । असंख्यात प्रदेश का स्कंध एक, दो, तीन यावत् असंख्यात आकाशप्रदेश में रह सकता है । परंतु पुद्गल द्रव्य जितने प्रदेशों से बना है, उससे अधिक आकाशप्रदेश में नहीं रहता है ।

पुद्गल द्रव्य का स्वभाव ऐसा है कि वह एक दूसरे में प्रवेश कर सकता है और आकाश का भी स्वभाव ऐसा है कि वह पुद्गल को उसी तरह अवगाहना देता है । इसी कारण मात्र अनंतप्रदेशी स्कंध ही एक आकाशप्रदेश में रह सकता है, ऐसा नहीं, बल्कि अनंतप्रदेशी अनंतस्कंध भी एक आकाशप्रदेश में रह सकते हैं ।

जैसे (i) कमरे में हजारों दीपक जलाने पर प्रत्येक आकाशप्रदेश में हजारों पुद्गल रहते हैं। (ii) दूध से भरे बर्तन में जगह न होने पर भी शक्कर डालने पर उसमें समा जाती है। (iii) एक कर्ष पारे में सौ कर्ष सोना समा जाता है।

इस तरह पुद्गल द्रव्य में सूक्ष्म परिणाम को पाकर एक, दो आदि प्रदेशों में रहने का स्वभाव है तथा आकाश में उस प्रकार से रहने के लिए अवगाहना देने का स्वभाव है।

**जीवद्रव्य –** प्रत्येक जीव के अवगाहनाक्षेत्र का प्रमाण भिन्न–भिन्न है। जघन्य से जीवद्रव्य का अवगाहनाक्षेत्र अंगुल का असंख्यातवाँ भाग और उत्कृष्ट से संपूर्ण लोक है।

कोई जीव अंगुल के एक असंख्यातवें भाग जितने आकाशप्रदेश में रहता है, कोई दो, कोई तीन, एवं कोई यावत् असंख्य आकाशप्रदेश में रहता है। केवली भगवंत जब केवली समुद्घात करते हैं, तब उनके आत्मप्रदेश संपूर्ण लोकव्यापी बनते हैं।

जैसे-जैसे शरीर की ऊँचाई बड़ी होती है, वैसे-वैसे आकाशप्रदेश अधिक होते हैं एवं जैसे-जैसे शरीर की ऊँचाई छोटी होती है, वैसे-वैसे आकाशप्रदेश भी कम होते हैं। परंतु आत्मप्रदेश तो एक समान ही रहते हैं। एक ही काल में अनेक जीवों की अवगाहना भिन्न-भिन्न होने से अवगाहना क्षेत्र भी भिन्न-भिन्न रहता है।

चौदह राजलोक प्रमाण इस लोकाकाश रूपी विश्व में असंख्य आकाशप्रदेश रहे हुए हैं।

असंख्य के असंख्य भेद हैं। असंख्य की गणना कुछ अलग है। सामान्य से जब हम 10 को 10 से जोड़ते है तो **'20'** होता है। 10 में से 10 कम करें तो **'0'** होता है। 10 को 10 से गुणा करने पर **'100'** होता है और 10 को 10 का भाग देने पर **'1'** होता है।

परंतु असंख्य का गणित कुछ अलग ही है। असंख्य को असंख्य के साथ जोड़ने पर असंख्य रहता है। असंख्य को असंख्य से कम करें

तो भी असंख्य रहता है । असंख्य को असंख्य से गुणा करने पर भी असंख्य होता है और असंख्य में असंख्य का भाग देने पर भी असंख्य बचता है ।

एक अंगुल जितने क्षेत्र की चौड़ाई में असंख्य आकाशप्रदेश रहे हुए हैं । कल्पना द्वारा यदि उस क्षेत्र के आकाशप्रदेशों को असंख्य भाग में विभाजित करें तो वहाँ असंख्यातवें सूक्ष्म क्षेत्रवाले भाग में भी असंख्य आकाशप्रदेश रहते हैं– अर्थात् अंगुल के असंख्यातवें भाग में भी असंख्य आकाशप्रदेश हैं ।

सूक्ष्म निगोद में रहे जीवों की ऊँचाई अंगुल के असंख्यातवें जितनी है । यह सबसे जघन्य ऊँचाई है ।

बादर वनस्पतिकाय के जीवों की उत्कृष्ट उँचाई 1000 योजन से कुछ अधिक है ।

मनुष्य की उत्कृष्ट ऊँचाई 3 कोस (लगभग 9.5 k.m.) पहले आरे, देवकुरु एवं उत्तरकुरु क्षेत्र में होती है ।

केवली समुद्घात के चौथे समय में आत्मा विश्वव्यापी बन जाती है । बाद में पुनः केवली भगवंत अपने आत्मप्रदेशों को संकुचित करके शरीरस्थ बन जाते हैं ।

## आत्मा के संकोच और प्रसारण का हेतु

**प्रदेश–संहार–विसर्गाभ्यां प्रदीपवत् ।।5-16।।**

**सामान्य अर्थ :–** जीवप्रदेशों का दीपक की तरह संकोच और विकास होने के कारण जीवों की अवगाहना भिन्न–भिन्न है ।

**विवेचन :–** पूर्व के सूत्र में **'जीवों'** के आत्मप्रदेश शरीर की ऊँचाई जितने आकाशप्रदेश में रहते हैं, इस बात का प्रतिपादन किया । इस विषय में अन्य–अन्य दर्शनकारों का मत भिन्न–भिन्न है । कुछ दर्शनकार आत्मा को हृदय में, कुछ सिर में, कुछ दिमाग में होना मानते है । कुछ दर्शनकार आत्मा को अणु मानते हैं । वेदान्त दर्शन आत्मा को विभु

(सर्वव्यापी) मानता है। वेदान्त सूत्र– 2–2–34 के विवेचन में वेदान्तियों ने कहा है– यदि आत्मा अपने शरीर की ऊँचाई जितनी है, तो वही आत्मा मक्खी–मच्छर आदि छोटे शरीर में अथवा हाथी आदि बड़े शरीर में कैसे प्रवेश कर सकती है ?

प्रस्तुत सूत्र में इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा है कि– आत्मा–दीपक के प्रकाश की तरह अपने आत्मप्रदेशों को संकुचित और प्रसारित करती है। इस संकोच और प्रसारण के कारण आत्मा की अवगाहना भिन्न–भिन्न होती है।

जैसे दीपक को छोटी पेटी अथवा छोटे कमरे में रखने पर उसके प्रकाश के पुद्गल उतने आकाशप्रदेश में ही समा जाते हैं। उसी दीपक को बड़े कमरे में रखने पर उसके प्रकाश के पुद्गल पूरे कमरे में फैल जाते हैं। क्षेत्र की मर्यादा के अनुसार प्रकाश के पुद्गल संकुचित और प्रसारित होते हैं।

वैसे ही आत्मा के आत्मप्रदेश भी शरीर की ऊँचाई के अनुसार संकुचित और प्रसारित होते हैं। आत्मा पूरे शरीर में व्याप्त होकर रहती है।

आत्मा जब मनुष्य के रूप में माता के गर्भ में आती है तब एक बिन्दु जितने क्षेत्र में व्याप्त होती है। क्रमशः शरीर का विकास होने पर आत्मप्रदेश सारे शरीर में प्रसारित होते हैं एवं जीवन के अंत समय में वही आत्मप्रदेश पुनर्जन्म के बीज में संकुचित हो जाते हैं।

इसी कारण आत्मा, अंगुल के असंख्यातवें भाग जितने अति सूक्ष्म शरीर में भी समा जाती है और वही आत्मा अपने उतने आत्मप्रदेशों के साथ 1000 योजन के महामत्स्य आदि उत्कृष्ट अवगाहना में फैलकर भी रह सकती है। आत्मा एक अखंड द्रव्य होने पर भी संकुचित और प्रसारित हो सकती है।

आत्मा का संकोच और प्रसार स्वतंत्र रूप से नहीं होता है। संकोच और प्रसार में कार्मण शरीर कारण है। यह कार्मण शरीर

अनंतानंत कार्मण वर्गणा के पुद्गल स्वरूप है । इसलिए आत्मा की जघन्य अवगाहना अंगुल का असंख्यातवाँ भाग जितनी है । संकोच और प्रसार– जीव और पुद्गल द्रव्य दोनों का स्वभाव होने पर भी पुद्गल द्रव्य एक प्रदेश में रह सकता है, जब कि जीवद्रव्य अनंतानंत कार्मण के पुद्गल स्वरूप होने से उसकी जघन्य अवगाहना असंख्य आकाशप्रदेश प्रमाण है ।

## धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय के लक्षण

**गतिस्थित्युपग्रहो धर्माऽधर्मयोरुपकारः ।।5-17।।**

**सामान्य अर्थ :–** धर्मास्तिकाय का उपकार गति उपग्रह है और अधर्मास्तिकाय का उपकार स्थिति उपग्रह है ।

**विवेचन :–** पूर्व के सूत्रों में धर्मास्तिकाय आदि द्रव्यों की अवगाहना का निरूपण किया । अब क्रमशः धर्मास्तिकाय आदि द्रव्यों के लक्षण रूप कार्य का वर्णन करते हैं । प्रस्तुत सूत्र में धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय के लक्षण बताए हैं ।

यहाँ **'उपग्रह'** अर्थात् **'निमित्त कारण'** और **'उपकार'** अर्थात् **'कार्य '** समझना है ।

**1) धर्मास्तिकाय :–** इस जगत् में जीव और पुद्गल द्रव्य में गति रही हुई है । गतिशील जीव और पुद्गल द्रव्य को गति में सहायक **धर्मास्तिकाय** द्रव्य है ।

यदि जगत् में धर्मास्तिकाय नाम का द्रव्य नहीं होता तो कोई भी जीव या पुद्गल इस संसार में कहीं भी गमनागमन नहीं कर सकता ।

जिस प्रकार मछली में तैरने की शक्ति होते हुए भी पानी के अभाव में वह तैर नहीं सकती है ।

पक्षी में उड़ने की शक्ति होने पर भी हवा के अभाव में वह उड़ नहीं सकता है ।

ट्रेन Train में दौड़ने की शक्ति होने पर भी पटरी के अभाव में वह दौड़ नहीं सकती है ।

बस, इसी प्रकार जीव व जड़ पदार्थों को चलने में सहायक **धर्मास्तिकाय** द्रव्य है ।

**2) अधर्मास्तिकाय :–** जिस प्रकार मार्ग में चलने से थका हुआ पथिक, वृक्ष की छाया देखकर विश्राम करने की इच्छा करता है । वहाँ स्थिर रहने की प्रक्रिया पथिक में होते हुए भी, उसे स्थिर रहने में वृक्ष की छाया मदद करती है । बस, इसी प्रकार जीव और अजीव द्रव्य को स्थिर रहने में अधर्मास्तिकाय द्रव्य सहायता करता है ।

धर्मास्तिकाय आदि छह द्रव्यों में सिर्फ जीव और पुद्गल में ही गति करने का स्वभाव है ।

संसारी जीव कर्म के उदय और पुद्गल के आलंबन से संसार में एक गति से दूसरी गति, एक भव से दूसरे भव में गति करता है । मनुष्य भव व तिर्यंच भव में औदारिक देह की मदद से और परभव में जाते समय कार्मण देह की मदद से जीव गति करता है ।

जीव जब कर्मों के बंधन से सर्वथा मुक्त बनता है, तब अपनी स्वाभाविक ऊर्ध्वगति से सिद्धशिला पर चौदह राजलोक के अग्र भाग में जाकर स्थिर हो जाता है, वहाँ स्थिर रहने में उस जीव को अधर्मास्तिकाय द्रव्य सहाय करता है ।

शुद्ध आत्मा अर्थात् सिद्धात्मा चौदह राजलोक के आगे गति नहीं करती है, क्योंकि आगे अलोक में आत्मा को गति में सहायक ऐसा धर्मास्तिकाय नाम का द्रव्य नहीं है ।

**धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय दोनों द्रव्य चौदह राजलोक व्यापी, एक और अखंड द्रव्य हैं । उनका अस्तित्व शाश्वत है अर्थात् ये दोनों द्रव्य शाश्वत हैं ।**

इस जगत् का अस्तित्व अनादिकाल से है और अनंतकाल तक

रहने वाला है । जगत् के साथ इन दोनों द्रव्यों का अस्तित्व जगत् में अनादिकाल से है और अनंतकाल तक रहेगा ।

किसी ईश्वर विशेष ने इस जगत् का निर्माण नहीं किया है, बल्कि यह जगत् अनादिकाल से है, इसी प्रकार इस जगत् में धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय द्रव्य भी अनादि काल से हैं, उनका भी निर्माण किसी ने नहीं किया है, वे अनादिसिद्ध द्रव्य हैं ।

हम जो कुछ बोलते हैं, उसमें भाषावर्गणा के पुद्गलों का उपयोग करते हैं । भाषा, श्वासोच्छ्वास, मन आदि पुद्गलों के ग्रहण और विसर्जन का कार्य धर्मास्तिकाय की मदद के बिना शक्य नहीं है । अतः जीव की गति, भाषा, उच्छ्वास तथा मन, वचन, काया की प्रवृत्ति में धर्मास्तिकाय उपकार करता है तथा बैठने, खड़े रहने व पौद्गलिक पदार्थों की स्थिरता में अधर्मास्तिकाय मदद करता है अर्थात् जीव की समस्त स्थिर क्रियाओं में अधर्मास्तिकाय उपकारी है ।

द्रव्य/धर्मास्तिकाय Medium of Motion गति सहायक एवं अधर्मास्तिकाय द्रव्य Medium of Rest स्थिरता में सहायक द्रव्य है ।

## आकाशास्तिकाय का लक्षण

**आकाशस्यावगाहः ।।5–18।।**

**सामान्य अर्थ :–** आकाश का उपकार अवगाहना देना है ।

**विवेचन :–** पुद्गल और जीव को अवगाहना–अवकाश देने में **आकाशास्तिकाय** का उपकार है ।

आकाश सर्वव्यापी है और अनंत है । चौदह राजलोक में भी आकाश है और चौदह राजलोक के बाहर भी आकाश है । चौदह राजलोक में रहे आकाश को लोकाकाश कहते हैं और चौदह राजलोक के बाहर रहे आकाश को अलोकाकाश कहा जाता है ।

हम जहाँ रहे हुए हैं, उसके चारों ओर यह आकाश द्रव्य रहा हुआ है ।

ये सारी पृथ्वियाँ व देवलोक में रहे विमान आदि भी आकाश में रहे हुए हैं ।

हम जहाँ हैं, वहाँ से 900 योजन नीचे जाने पर अधोलोक चालू होता है, अधोलोक में रत्नप्रभा आदि 7 पृथ्वियाँ रही हुई हैं । ये सारी पृथ्वियाँ घनोदधि अर्थात् जमकर स्थूल बने पानी पर रही हुई हैं । वह घनोदधि, घनवात पर और वह घनवात, तनुवात के आधार पर रहा है । यह तनुवात आकाश में रहा है ।

ऊर्ध्वलोक में रहे सभी देवताओं के विमान भी आकाश में रहे हुए हैं ।

यदि पानी से भरे गिलास Glass में गुड़ का टुकड़ा डालते हैं तो वह गुड़ पानी में समा जाता है । जिस प्रकार पानी ने गुड़ को अवकाश दिया, उसी प्रकार आकाशास्तिकाय, जीव तथा पुद्गल आदि सभी द्रव्यों को रहने के लिए जगह देता है ।

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय और जीवास्तिकाय ये सभी द्रव्य 14 राजलोक के विस्तार में रहे होने के कारण जैन दर्शन की दृष्टि से यह विश्व चौदह राजलोक प्रमाण माना जाता है ।

एक राजलोक में असंख्य योजन होते हैं । एक राजलोक का प्रमाण जानने के लिए शास्त्र में कहा है कि 1 निमेष (आँख के पलकारे) मात्र में 1 लाख योजन की दूरी पार करनेवाला देव छह मास में जितनी दूरी पार करता है, उसे एक राजलोक कहते हैं ।

अथवा 3,81,27,970 मण के वजन वाले गोले को जोर से फेंकने पर 6 मास, 6 दिन, 6 प्रहर, 6 घड़ी व 6 समय में वह जितना अंतर पार करता है, उसे एक राजलोक प्रमाण कहते हैं ।

ऐसे 14 राजलोक प्रमाण यह संपूर्ण लोक है ।

आकाश का कोई वर्ण नहीं है, आकाश में कोई गंध नहीं है, आकाश में रस व स्पर्श भी नहीं है । वह एक अमूर्त द्रव्य है ।

**प्रश्न :–** आकाश नीला Blue क्यों दिखता है ?

**उत्तर :–** नीला रंग आकाश का नहीं है, वह रंग तो वायुमंडल व अन्य पौद्गलिक रज का है ।

दर्शनक्रिया के नियमानुसार जो वस्तु बहुत दूर होती है, वह नीले रंग की दिखाई देती है ।

**प्रश्न :–** आकाश घुम्मट की तरह गोलाकार क्यों दिखता है ?

**उत्तर :–** अपनी दृष्टि के दोष के कारण ही आकाश गोलाकार दिखता है । अति दूर रही वस्तु हमें गोलाकार दिखती है । सूर्य, चंद्र, तारा आदि की आकृति कुछ भी हो, अति दूरी से वे हमें गोल ही दिखते हैं ।

नैयायिक दर्शन की मान्यता है कि शब्द आकाश का गुण है, वह आकाश में पैदा होता है, जबकि जैनदर्शन की यह स्पष्ट मान्यता है कि आकाश अरूपी एवं शब्द आदि से रहित और निष्क्रिय है । शब्द तो पुद्गल का गुण है ।

शब्द यह पुद्गल का ही परिणाम है, यह बात आज के वैज्ञानिक प्रयोगों से सिद्ध हो चुकी है । रेडियो, ग्रामोफोन, टी.वी. आदि से शब्द की पुद्गलता सिद्ध हो चुकी है । शब्द पुद्गल रूप होने से ही उसे सर्वत्र भेजा जा सकता है ।

दिशाओं का ज्ञान भी आकाश के निमित्त से होता है । ऊपर के भाग को ऊर्ध्वदिशा व नीचे के भाग को अधो दिशा कहते हैं, इसी के आधार पर सभी दिशाओं का ज्ञान होता है ।

भूवलय के मध्य भाग में आए हुए मेरुपर्वत के आठ रुचक प्रदेश को चौदह राजलोक का मध्य भाग माना जाता है, उससे 900 योजन ऊपर और 900 योजन नीचे कुल 1800 योजन का मध्यलोक या तिर्च्छालोक है । मध्यलोक के ऊपर 7 राजलोक प्रमाण ऊर्ध्वलोक और नीचे 7 राजलोक प्रमाण अधोलोक है ।

## पुद्गल द्रव्य के उपकार

**शरीर-वाङ्-मनः-प्राणापानाः पुद्गलानाम् ।।5-19।।**

**सामान्य अर्थ :–** शरीर, वाणी, मन और श्वासोच्छ्वास–ये पुद्गल द्रव्य के उपकार हैं ।

**विवेचन :–** पूर्व के सूत्रों में धर्मास्तिकाय आदि तीन द्रव्यों का लक्षण बताया है। धर्मास्तिकाय आदि प्रत्येक के लक्षण और उपकार एक समान हैं। धर्मास्तिकाय का गति सहायता, अधर्मास्तिकाय का स्थिति सहायता और आकाशास्तिकाय का अवगाहना देना उपकार है। पुद्गल द्रव्य के उपकार और लक्षण भिन्न-भिन्न हैं। पुद्गल का लक्षण इसी अध्याय के 23 वें सूत्र में कहेंगे। प्रस्तुत सूत्र से पुद्गल के उपकारों का वर्णन करते हैं।

**1) शरीर :–** शरीर के पाँच प्रकार हैं–औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस और कार्मण। दूसरे अध्याय के 37 वें सूत्र में इन पाँचों प्रकार के शरीरों का वर्णन किया गया है। ये पाँचों शरीर पुद्गल के परिणाम रूप हैं।

**औदारिक शरीर –** औदारिक वर्गणा के पुद्गलों से बनता है।

**वैक्रिय शरीर –** वैक्रिय वर्गणा के पुद्गलों से बनता है।

**आहारक शरीर –** आहारक वर्गणा के पुद्गलों से बनता है।

**तैजस शरीर –** तैजस वर्गणा के पुद्गलों से बनता है।

**कार्मण शरीर –** कार्मण वर्गणा के पुद्गलों से बनता है।

**2) वाणी :–** पुद्गल की मुख्य 8 वर्गणाओं में से पाँचवीं भाषा वर्गणा के पुद्गल स्कंधों में से वाणी की उत्पत्ति होती है।

जीव जब मन में सोची हुई बात को वाणी द्वारा व्यक्त करना चाहता है, तब भाषावर्गणा के पुद्गल स्कंधों को ग्रहण करके निश्चित प्रकार के परिस्पंदन को पैदा कर उन पुद्गलों को छोड़ता है। जीव के इस विशिष्ट प्रयत्न से भाषा परिणत होती है। भाषा रूप में परिणत पुद्गल ही शब्द बनते हैं। उन शब्दों को बोलने में परिणत किये पुद्गल छूटते हैं। इन पुद्गलों को छोड़ने से उन पुद्गलों में से ध्वनि उत्पन्न होती है। अतः भाषा वर्गणा के पुद्गल होने से वाणी पौद्गलिक द्रव्य ही है–यह सिद्ध होता है।

द्वीन्द्रिय से लेकर संज्ञी पंचेन्द्रिय तक के जीवों को भाषापर्याप्ति

प्राप्त होती है । भाषावर्गणा के पुद्गल सभी जगह होते हैं । इन पुद्गलों में जब विशिष्ट प्रकंपन होता है, तब शब्द पैदा होते हैं । जैसे शांत तालाब के पानी में पत्थर फेंकने से तरंगें पैदा होती हैं, वैसे विशिष्ट प्रकंपन से भाषावर्गणा के पुद्गलों की सूक्ष्म और तीक्ष्ण तरंगें पैदा होती हैं ।

नैयायिक आदि दर्शनकार शब्द (वाणी) को आकाश का गुण मानते हैं परंतु यह असत्य है, वास्तव में शब्द का ज्ञान श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा होता है और स्वरपेटी में रसनेन्द्रिय आदि की सहायता से शब्द उत्पन्न होता है ।

**प्रश्न –** क्या एक बार सुना हुआ शब्द पुनः सुन सकते हैं ?

**उत्तर –** नहीं । भाषावर्गणा के पुद्गल पैदा होने के बाद चारों ओर बिखर जाते हैं, इसलिए पुनः उन्हीं शब्दों को नहीं सुन सकते हैं । फिर भी यंत्र-साधनों के द्वारा जो हम पूर्व शब्द के अंकन (Audio Recording) को सुनते हैं, उनमें पुद्गल समान होते हैं, परंतु पहली बार सुने शब्द के पुद्गल नहीं होते, बदले हुए पुद्गल होते हैं ।

**प्रश्न –** शब्द के पुद्गल रूपी हैं या अरूपी हैं ?

**उत्तर –** शब्द के पुद्गल रूपी हैं ।

**प्रश्न –** रूपी होने पर भी शब्द के पुद्गल क्यों नहीं दिखते ?

**उत्तर –** शब्द के पुद्गल अत्यंत सूक्ष्म होने से हमें आँखों से नहीं दिखते हैं । परंतु श्रोत्रेन्द्रिय से शब्द के पुद्गल ग्राह्य हैं । कानों के द्वारा हम उन्हें सुन सकते हैं ।

**प्रश्न –** शब्द के पुद्गल अदृश्य हैं तो उन्हें अरूपी नहीं कह सकते ?

**उत्तर –** नहीं । अरूपी वस्तु को रूपी इन्द्रिय द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता, जबकि शब्द के पुद्गलों को श्रोत्रेन्द्रिय से ग्रहण कर सकते हैं । यदि शब्द को अरूपी मानें तो वह अन्य रूपी पदार्थ की सहायता से गति नहीं कर सकता है, जबकि शब्द को गति करने में वायु सहायक है । वायु अनुकूल होने पर दूर से आता हुआ शब्द भी सुन

सकते हैं और वायु प्रतिकूल होने पर पास से आनेवाला शब्द भी नहीं सुन सकते हैं ।

तथा अरूपी वस्तु को रूपी पदार्थ से ग्रहण नहीं किया जा सकता । परंतु शब्द के पुद्गलों को रेडियो, फोन आदि यांत्रिक साधनों से ग्रहण किया जा सकता है ।

**शब्द व रूप को दूर भेजना शक्य है ।**

दूर रहे वक्ता का शब्द उपकरण द्वारा विद्युत् चुंबकीय तरंगों में रूपांतरित कर छोड़ा जाता है । वे तरंगें प्रकाश की गति से हवा के माध्यम से दूर तक पहुँच जाती हैं ।

Mobile आदि में Set किए उपकरण द्वारा विपरीत प्रक्रिया से विद्युत् तरंगों को पुनः शब्द में रूपांतरित किया जाता है, अतः उस शब्द को नजदीक से सुन सकते हैं ।

आवाज को दूर भेजने की बात शास्त्रों में भी आती है । प्रभु के जन्मकल्याणक प्रसंग पर इन्द्र की आज्ञा से हरिणैगमैषी देव सुघोषा घंट बजाता है, दूसरे देवलोक में रहे घंटों में वह आवाज उतर जाती है ।

आवाज प्रकंपन अवस्था में सुनी जाती है और तरंगों के रूप में फैलती है, अतः उसे पुनःपुनः पैदा किया जा सकता है । एक ही आवाज को लाखों उपकरणों में परिवर्तित कर सुना जा सकता है, मंद हो तो उसे तीव्र भी कर सकते हैं ।

वैज्ञानिकों ने शब्द पुद्गलों की ऊर्जा को विद्युत्ऊर्जा में और विद्युत्ऊर्जा को विद्युत् की तरंगों की ऊर्जा में रूपांतरित करनेवाले उपकरणों की शोध की है । जिनसे बोले गए शब्द क्रमशः विद्युत् तरंगों में रूपांतरित कर हजारों मील दूर भेज सकते हैं और फिर उन उपकरणों द्वारा विपरीत प्रक्रिया से विद्युत् तरंगों को विद्युत्ऊर्जा में और उसे शब्द ऊर्जा में और उसे शब्दों में रूपांतरित कर देश–विदेश में सुना जा सकता है । जैसे-खेलों की कोमेन्ट्री ।

**आवश्यक निर्युक्ति** में कहा है कि तीव्र गति से बोले गए शब्द एक ही समय में चौदह राजलोक में फैल जाते हैं ।

फव्वारे में से निकलते पानी के प्रवाह की तरह प्रत्येक पदार्थ में से छाया के पुद्गल बाहर निकलते रहते हैं । वे भास्वर और अभास्वर रूपवाले होते हैं ।

छाया व प्रतिबिंब के पुद्गलों को भी विद्युत् तरंगों में रूपांतरित कर दूर तक भेजा जा सकता है और पुनः उन्हें टी.वी. पर देखा जा सकता है ।

प्रकाश की तरंगें शून्यावकाश में गति कर सकती हैं, परंतु शब्द की नहीं ।

**3) मन :–** पुद्गल का तीसरा उपकार है **'मन'** । मन भी पुद्गल परमाणु होने से पौद्गलिक है ।

पुद्गल की आठ वर्गणा में सातवीं मनोवर्गणा है । मात्र संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव ही मनपर्याप्ति पूर्ण कर सकते है । मनपर्याप्ति द्वारा जीव मनोवर्गणा के पुद्गल स्कंधों को ग्रहण करके मन रूप में परिणमित कर छोड़ते हैं । इन पुद्गलों के आधार से जीव, विचार कर सकता है । संज्ञी प्राणी मनोवर्गणा के पुद्गलों को अपने विचार के रूप में जमा कर छोड़ता है ।

मन के द्वारा हमेशा क्रिया चलती रहती है । व्यक्ति जैसा विचार करता है वैसे चित्र के रूप में पुद्गल की रचना हो जाती है । यह शक्ति मनपर्याप्ति की है ।

व्यक्ति के चिंतन–मनन द्वारा मनोवर्गणा से पुद्गलों की आकृति बन जाती है । यह आकृति चक्षुगोचर नहीं होती फिर भी वातावरण में इसकी तरंगें असर करती हैं । मनःपर्यवज्ञानी अपने मनःपर्यवज्ञान की लब्धि से मन में रचित इन आकृतियों को देखकर व्यक्ति के मन के विचारों को स्पष्ट रूप से जान सकता हैं ।

मनोवर्गणा के पुद्गल भाषावर्गणा के पुद्गलों से अति सूक्ष्म हैं। यदि उन्हें किसी यंत्र–साधन द्वारा बड़ा किया जा सके तो शब्द की तरह मन में पैदा होने वाले विचार भी T.V. के पर्दे पर उतारे जा सकते है।

पाँच अनुत्तर देवविमान में रहे देवताओं को तत्त्वचिंतन करते हुए जब कोई संशय पैदा होता है, तब वे विचरण करते हुए तीर्थंकर को मनोवर्गणा के पुद्गल भेजकर प्रश्न पूछते हैं। तीर्थंकर भी मनोवर्गणा के पुद्गलों से उन्हें उत्तर देते हैं। प्राप्त हुए उत्तर को अवधिज्ञान से देखकर वे देवता अपनी शंका का समाधान प्राप्त करते हैं।

मन के दो भेद हैं–द्रव्यमन और भावमन। भाव मन के पुनः दो भेद हैं–लब्धि भाव मन और उपयोग भाव मन। द्रव्यमन मनोवर्गणा के पुद्गल रूप होने से पौद्गलिक हैं। भावमन विचार करने की शक्ति और विचार रूप होने से उन्हें उपचार से पौद्गलिक कहा जाता है।

**4) प्राणापान :–** (श्वासोच्छ्वास) पुद्गल का चौथा उपकार है श्वासोच्छ्वास रूप प्राणापान। श्वासोच्छ्वास भी पौद्गलिक ही है।

पुद्गल की आठ वर्गणा में से छठी श्वासोच्छ्वास वर्गणा है। शरीर को धारण करने वाले सभी जीव इस वर्गणा के पुद्गलों को ग्रहण करके छोड़ने के द्वारा श्वासोच्छ्वास लेते हैं। इस कार्य को करने में श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति साधन है।

प्रत्येक प्राणी अपने नाक के छिद्र द्वारा जो प्राणवायु लेते हैं, वह स्थूल श्वासोच्छ्वास है और श्वासोच्छ्वास वर्गणा के पुद्गलों को लेना और छोड़ना यह सूक्ष्म श्वासोच्छ्वास है।

जीव के 10 प्राणों में से श्वासोच्छ्वास नौवाँ प्राण है। सभी प्राणी इसी के आधार पर जीवन जीते हैं। श्वासोच्छ्वास के बिना कोई जी नहीं सकता है।

इस प्रकार शरीर, वाणी, मन और प्राणापान ये चारों पुद्गल के परिणाम रूप ही हैं। इनके द्वारा पुद्गल द्रव्य जगत्वर्ती जीवों पर उपकार करता है।

## पुद्गल द्रव्य के अन्य उपकार

**सुख–दुःख–जीवित–मरणोपग्रहाश्च ।।5-20।।**

**सामान्य अर्थ :–** सुख, दुःख, जीवन और मरण ये पुद्गल द्रव्य के अन्य उपकार हैं ।

**विवेचन :–** पुद्गल की आठ वर्गणाएँ हैं– औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस, भाषा, श्वासोच्छ्वास, मन और कार्मण । पूर्व सूत्र में इन आठ वर्गणाओं के कार्य रूप शरीर, वाणी, मन और श्वासोच्छ्वास को पौद्गलिक रूप में बताया । प्रस्तुत सूत्र में अंतिम कार्मण वर्गणा के पुद्गल स्कंधों से जीवात्मा को सुख, दुःख, जीवन और मरण के कार्य बताते हैं ।

**1) सुख –** शरीर की स्वस्थता हेतु पौष्टिक, रोग-प्रतिकारक, शक्तिदायक और शरीर को अनुकूल आहार, पाँच इन्द्रियों के इष्ट विषयभोग, सुंदर वस्त्र, माला, स्त्री आदि की प्राप्ति में सांसारिक जीव सुख मानते हैं । इनकी प्राप्ति बाह्य और अभ्यंतर रूप दो कारणों से होती है । बाह्य कारण – सुख उत्पादक सामग्री है और अभ्यंतर कारण–शाता वेदनीय कर्म का उदय है । ये दोनों कारण पुद्गल रूप हैं । अतः सुख की प्राप्ति में पुद्गल का उपकार है ।

**2) दुःख –** शरीर में रोग आदि पैदा हो ऐसा वातावरण, शरीर के सात धातुओं को विकृत करनेवाला अनिष्ट भोजन, पाँच इन्द्रियों के अनिष्ट विषयभोग, असुंदर वस्त्र, माला, स्त्री आदि की प्राप्ति में सांसारिक जीव दुःख मानते हैं । इनकी प्राप्ति बाह्य और अभ्यंतर रूप दो कारणों से होती है । बाह्य कारण – दुःख उत्पादक सामग्री है और अभ्यंतर कारण – अशाता वेदनीय कर्म का उदय है । ये दोनों कारण पुद्गल रूप हैं । अतः दुःख की प्राप्ति में पुद्गल का उपकार है ।

**3) जीवन –** मनुष्य आदि चार गतियों में जीव को जीवित रहने के लिए शरीर के मुख्य अवयव–हृदय, मस्तिष्क आदि कार्यशील रहना जरूरी है । इन अवयवों का कार्यशील रहना यह बाह्य कारण है और

आयुष्य कर्म का उदय अभ्यंतर कारण है । ये दोनों कारण पुद्गल रूप हैं अतः जीवन में भी पुद्गल का उपकार है ।

**4) मरण –** मनुष्य आदि चार गतियों में जीव के जीवन का अंत होते आयुष्य का अंत और हृदय आदि अवयव रुक जाते हैं । इन अवयवों के रुक जाने से अथवा विष आदि भक्षण करने से मरण होता है अतः ये बाह्य कारण हैं, तथा आयुष्य कर्म का क्षय होना अभ्यंतर कारण है । ये दोनों कार्य पुद्गल रूप हैं अतः मरण में भी पुद्गल का उपकार है ।

**प्रश्न –** पूर्व के सूत्र में बताए शरीर आदि और प्रस्तुत सूत्र में बताए सुख आदि यदि पुद्गल के उपकार हैं, तो दोनों को एक सूत्र में निर्देश क्यों नहीं किया ?

**उत्तर –** पूर्व सूत्र में शरीर आदि जो पुद्गल के उपकार बताए, उनमें कार्य के प्रति पुद्गल उपादान कारण रूप है जबकि प्रस्तुत सूत्र में सुख आदि जो पुद्गल के उपकार बताए, उनमें पुद्गल–निमित्त–कारण रूप है ।

कोई भी कार्य, कारण के बिना पैदा नहीं होता है । निश्चित कारण होने पर ही कार्य होता है । कारण के दो भेद हैं । i) उपादान कारण ii) निमित्त कारण ।

**i) उपादान कारण –** जो कारण स्वयं ही कार्य के रूप में बदल जाता है, उसे उपादान कारण कहते हैं । जैसे घट के निर्माण में मिट्टी स्वयं घट रूप में बदलती है । अतः मिट्टी घट के प्रति उपादान कारण है ।

**ii) निमित्त कारण –** जो कारण स्वतंत्र रूप से अलग रहकर कार्य होने में सहायता करे, उसे निमित्त कारण कहते हैं । जैसे घट के निर्माण में कुम्हार, दंड, चक्र आदि की सहायता जरूरी है परंतु घट से स्वतंत्र रहकर ये काम करते हैं अतः कुम्हार आदि घट के प्रति निमित्तकारण हैं ।

उसी प्रकार शरीर, वाणी, मन और प्राणापान (श्वासोच्छ्वास) के प्रति पुद्गल उपादान कारण है ।

औदारिक आदि पाँच प्रकार के शरीर औदारिक आदि वर्गणाओं के पुद्गलों से बनते हैं । वाणी, मन और श्वासोच्छ्वास भाषावर्गणा, मनोवर्गणा और श्वासोच्छ्वास-वर्गणा के पुद्गलों से बनते हैं, अतः इनको उपादान कारण कहा है ।

सुख, दुःख, जीवन और मरण इन कार्यों के प्रति कर्म कारण हैं । जब आठवीं कार्मणवर्गणा के पुद्गलस्कंध, आत्मा के साथ बँध जाते हैं, तब उसे कर्म कहते हैं । कर्म दो प्रकार के हैं– i) द्रव्यकर्म और ii) भावकर्म । कार्मणवर्गणा के पुद्गल स्कंध को द्रव्यकर्म कहते हैं । द्रव्य कर्म के उदय से मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, राग, द्वेष, कषाय आदि आत्मा में पैदा होनेवाले दोषों को भावकर्म कहते हैं । भावकर्म के कारण आत्मा द्रव्यकर्मों का बंध करती है । जब इनका उदय होता है तब आत्मा सुख, दुःख, जीवन अथवा मरण का अनुभव करती है अतः इन उपकारों के प्रति पुद्गल निमित्त कारण है ।

पूर्व सूत्र में बताए शरीर आदि में पुद्गल के उपादान होने से एवं प्रस्तुत सूत्र में बताए सुख आदि में पुद्गल निमित्त कारण होने से दोनों सूत्र अलग–अलग बताए हैं ।

प्रस्तुत सूत्र में सुख–दुःख में आहार को कारण बताया है । आहार के तीन भेद हैं–

## आहार के तीन भेद

**1) ओजाहार :–** पूर्व भव के शरीर को छोड़कर उत्पत्ति के प्रथम समय में जीव प्रयत्न विशेष से पुद्गलों को ग्रहणकर आत्मा के साथ एक-रस करता है, उसे ओजाहार कहते हैं । यह आहार उत्पत्ति के पहले समय में होता है ।

**2) लोमाहार :–** सूक्ष्म या स्थूल शरीर के छिद्रों द्वारा चारों दिशाओं में से पुद्गलों को ग्रहणकर शरीर के साथ एकरस करते है, उसे लोमाहार कहते हैं । यह प्रक्रिया शरीरधारी सभी जीवों को जीवन के अंत समय तक होती है ।

**3) कवलाहार :–** मुख द्वारा ग्रहणकर पाचनतंत्र तक ले जाना, उसे कवलाहार कहते हैं। यह आहार एकेन्द्रिय सिवाय के जीवों को होता है। ग्रहण किए खुराक में से रस, रक्त, मांस ,चर्बी, अस्थि, मज्जा और वीर्य बनता है।

## जीवों के परस्पर उपकार

**परस्परोपग्रहो जीवानाम् ।।5-21।।**

**सामान्य अर्थ :–** परस्पर सहायता करना जीवों का उपकार है।

**विवेचन :–** पंचास्तिकाय के लक्षण और उपकार बताते हुए पूर्व के सूत्रों में धर्मास्तिकाय आदि के लक्षण और उपकार तथा पुद्गलास्तिकाय के उपकार का वर्णन किया। जीवास्तिकाय का लक्षण दूसरे अध्याय के आठवें सूत्र **–'उपयोगो लक्षणम्'** में बताया है। प्रस्तुत सूत्र में जीवों के उपकार बताते हैं – परस्पर जीवों की सहायता करना – यह जीवों का उपकार है।

चार गति रूप संसार में भवितव्यता, कर्म, ऋणानुबंध आदि के कारण प्रायः सभी जीवों का अन्य सभी जीवों के साथ अनंती बार संबंध हुआ है और होता है। जीव पिता–पुत्र, भाई–बहन, स्वामी–सेवक, गुरु–शिष्य, शत्रु–मित्र आदि अनेक भावों से परस्पर एक–दूसरे के हित–अहित रूप कार्य में उपग्रह (सहायक) बनता है।

पिता–पुत्र में पोषक–पोष्य भाव रहता है। भाई–बहन में स्नेह संबंध रहता है। स्वामी–सेवक में धन और सेवाप्रदान का भाव रहता है। गुरु–शिष्य में हितोपदेश और विनय वैयावच्च से आत्म– कल्याण का भाव रहता है। शत्रु–मित्र में परस्पर शत्रुता और मित्रता का भाव रहता है। इत्यादि अनेक भावों से जीवों का परस्पर संबंध होता है, जिनमें सभी जीव एक–दूसरे को सहायक बनने के द्वारा उपकारक बनते हैं।

## काल का उपकार

**वर्तना-परिणामः क्रिया परत्वापरत्वे च कालस्य ।।5–22।।**

**सामान्य अर्थ :–** वर्तना, परिणाम, क्रिया, परत्व, अपरत्व–ये काल कृत उपकार हैं ।

**विवेचन :–** पंचास्तिकाय द्रव्यों के उपकार का वर्णन कर अब प्रस्तुत सूत्र में काल का उपकार बताते हैं । वैसे तो तत्त्वार्थ सूत्र के रचनाकर्ता श्री उमास्वातिजी ने काल को द्रव्य नहीं माना है । इसका स्पष्टीकरण इस अध्याय के 38 वें सूत्र में होगा ।

काल सभी द्रव्यों के वर्तना, परिणाम, क्रिया, परत्व और अपरत्व रूप उपकारक है ।

**1) वर्तना –** वर्तना अर्थात् पदार्थों का रहना । धर्मास्तिकाय आदि सभी पदार्थ काल के आश्रय से रहे हुए हैं । धर्मास्तिकाय आदि पदार्थ वैसे तो स्वयं ही स्वतंत्र रूप से रहे हुए हैं, फिर भी उनके अस्तित्व में कालद्रव्य प्रयोजक है । जैसे कंपनी में कार्य करनेवाले कर्मचारी अपना–अपना कार्य कर रहे हैं फिर भी उन पर निगरानी करने के लिए एक Supervisor जरूरी होता है । कार्य की प्रगति में Supervisor निष्क्रिय होने पर भी अपनी उपस्थिति मात्र से सक्रिय है । वैसे ही धर्मास्तिकाय की सक्रियता में काल प्रयोजक रूप से उपकार करता है ।

अन्य रूप से विचार करें तो वर्तना अर्थात् प्रत्येक समय में होने वाले पदार्थ की उत्पत्ति, स्थिति और विनाश से युक्त द्रव्य का रहना । द्रव्य के इस प्रकार से रहने में काल निमित्त बनता है । सभी द्रव्य ध्रौव्य रूप में हमेशा विद्यमान रहते हैं । फिर भी प्रत्येक समय उनमें उत्पत्ति और व्यय होने के कार्य चलते रहते हैं । इस प्रकार की वर्तना प्रत्येक द्रव्य में प्रति समय होती रहती है, परंतु इतनी सूक्ष्मता से होती है, जो हम जान नहीं सकते हैं । असंख्य समय के बाद हुए परिवर्तन को ही हम जान सकते हैं ।

जैसे पानी को उबलने के लिए मानों 10 मिनिट का काल लगता है, तो 9 मिनिट में पानी नहीं उबलता है–ऐसा नहीं है । पानी का उबलना तो पहले समय से ही चालू हो गया है । परंतु वह उबलाना इतना सूक्ष्म था कि तब पता ही नहीं चला था । 10 मिनिट के अंतिम

समय में जब पानी पूर्णतया उबल गया, तब ही उसमें हुई उबलने की क्रिया का ख्याल आता है ।

वैसे ही द्रव्य में होने वाली उत्पत्ति, स्थिति और विनाश रूप वर्तना में काल ही उपकारक सिद्ध होता है ।

**2) परिणाम –** परिणाम अर्थात् द्रव्य की स्वसत्ता का त्याग हुए बिना द्रव्य में होने वाला बदलाव । मूल द्रव्य की पूर्व पर्याय का नाश और उत्तर पर्याय की उत्पत्ति होने पर भी वही द्रव्य सत्ता के रूप में बने रहना । द्रव्य के परिणाम में काल का ही महत्त्वपूर्ण योगदान है । जैसे–बीज में से अंकुरित हुई वनस्पति के क्रमशः मूल, पर्व, छाल, पत्र, तना, कूंपल, पुष्प और फल के रूप में परिणत होता है । उसमें सबसे पहले अंकुर था, फिर तने के रूप में हुआ और आगे जाकर पुष्पवाला बनेगा । इसमें काल ही मुख्य कारण है ।

काल से ही मनुष्य की बाल्यावस्था, युवावस्था और वृद्धावस्था आदि अवस्थाएँ होती हैं । इस बदलाव में उत्पत्ति और विनाश क्रमशः होते रहते हैं । इस बदलाव का मुख्य कारण काल है । यदि काल को कारण न मानें तो उत्पत्ति और विनाश एक साथ होने की आपत्ति आएगी । अतः परिवर्तन का मुख्य कारण काल है । इस तरह परिवर्तन में काल ही उपकारक सिद्ध होता है ।

**3) क्रिया –** क्रिया अर्थात् गति करना । पदार्थ का स्थिर अवस्था में से थोड़ा भी चलित होना क्रिया है । यह क्रिया दो प्रकार की है i) एक ही स्थान पर बार–बार कंपन रूप क्रिया, परिस्पंदन क्रिया है । ii) एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने की क्रिया–स्थलांतर क्रिया है । ये दोनों प्रकार की क्रिया काल के आधार पर होती हैं ।

अथवा गति के तीन प्रकार बताए हैं–

**i) प्रयोगगति –** गति परिणाम से युक्त जीव की शरीर, आहार, वर्ण, गंध, रस, स्पर्श और संस्थान संबंधी क्रिया–प्रयोगगति क्रिया है । जैसे मैंने घट बनाया, मैं घट बनाता हूँ और मैं घट बनाऊंगा ।

**ii) विस्त्रसागति –** जीव के प्रयोग बिना, मात्र जीवद्रव्य की स्वपरिणाम रूप क्रिया विस्त्रसागति क्रिया है । यह परमाणु, बादल, इन्द्रधनुष परिधि आदि अनेक प्रकार के संस्थानवाली है । जैसे वर्षा हुई, वर्षा हो रही है, वर्षा होगी ।

**iii) मिश्रिका गति –** प्रयोग और विस्त्रसा – उभय परिणाम स्वरूप होने वाली क्रिया मिश्रिका गति क्रिया है । यह मिश्रिका गति जीव प्रयोग वाली अचेतन द्रव्य के परिणाम स्वरूप है । जैसे–कुंभ आदि द्रव्य निश्चित प्रकार के परिणाम से स्वयं ही उत्पन्न होने में समर्थ है, फिर भी उसे कुम्हार, दंड आदि की सहायता आवश्यक है ।

इन क्रियाओं में काल–कारण होने से भूत, भविष्य और वर्तमान–तीनों का प्रयोग कर सकते हैं । इससे क्रिया में भी काल उपकारक होना सिद्ध होता है ।

**4) परत्वापरत्व :–** परत्व अर्थात् श्रेष्ठ, दूर अथवा बड़ा और अपरत्व अर्थात् हीन, पास अथवा छोटा । ये दोनों सापेक्ष हैं । इसके तीन भेद हैं ।

**i) प्रशंसाकृत –** सोना या कोहीनूर हीरा आदि सर्वोत्तम हैं, क्योंकि उनमें परत्व है । अन्य धातु या हीरे आदि सामान्य हैं, क्योंकि उनमें अपरत्व है । यहाँ परत्व और अपरत्व श्रेष्ठ और हीनता की अपेक्षा से कहा गया है ।

**ii) क्षेत्रकृत –** पालीताणा से चैन्नइ के विहार में ज्यादा दिन लगते हैं, क्योंकि मार्ग में परत्व है । पालीताणा से मुंबई के विहार में कम दिन लगते हैं क्योंकि मार्ग में अपरत्व है । यहाँ परत्व और अपरत्व दूर-पास की अपेक्षा कहा गया है ।

**iii) कालकृत :–** 10 वर्ष के बालक की अपेक्षा 20 वर्ष का युवक बड़ा है, क्योंकि उसमें परत्व है । 20 वर्ष के युवक की अपेक्षा 10 वर्ष का बालक छोटा है, क्योंकि उसमें अपरत्व है । यहाँ परत्व और अपरत्व बड़े और छोटे की अपेक्षा है ।

तीनों प्रकार के भेदों में परत्व और अपरत्व होने पर भी यहाँ कालकृत परत्व और अपरत्व की विवक्षा है क्योंकि कालकृत परत्व–अपरत्व में ही काल का उपकार है ।

इस तरह परत्व–अपरत्व में भी काल का उपकार सिद्ध होता है ।

## पुद्गल का लक्षण

**स्पर्श–रस–गन्ध–वर्णवन्तः पुद्गलाः ।।5-23।।**

**सामान्य अर्थ :–** स्पर्श–रस–गंध–वर्णवाले पुद्गल होते हैं ।

**विवेचन :–** पूर्व के सूत्रों में पुद्गल के उपकार बताए गए । प्रस्तुत सूत्र में पुद्गल के लक्षण बताते हैं । पंचास्तिकाय में मात्र पुद्गल द्रव्य ही ऐसा है जिसमें स्पर्श–रस–गंध और वर्ण होते हैं । अन्य चारों अस्तिकाय स्पर्श आदि चार गुणों से रहित हैं । इसलिए स्पर्शादि पुद्गल के ही लक्षण हैं ।

पुद्गल द्रव्य की यह विशेषता है कि जिसमें स्पर्श आदि कोई भी एक गुण होगा, उसमें अन्य तीन गुणधर्म अवश्य होंगे । जैसे वायु को मात्र स्पर्श से जान सकते हैं, उसमें रूप–रस और गंध इतने सूक्ष्म है कि उसे चर्म चक्षु आदि इन्द्रिय से नहीं जान सकते । अव्यक्त रहे इन गुणों का अभाव नहीं मान सकते क्योंकि ये तो वैज्ञानिक भी मानते हैं कि हाइड्रोजन और ऑक्सीजन का मिश्रण होकर पानी स्वरूप बन जाता है । पानी में रूप आदि गुणधर्म प्रत्यक्ष देखे जाते हैं ।

**(1) स्पर्श :–** स्पर्श के आठ भेद हैं–उनके नाम और दृष्टांत इस प्रकार हैं–

(i) शीत = बर्फ (ii) उष्ण = आग

(iii) स्निग्ध = घी (iv) रुक्ष = राख

(v) लघु = रूई (vi) गुरु = लोहा

(vii) मृदु = मक्खन (viii) कर्कश = करवत

**(2) रस :–** रस के मुख्य पाँच भेद हैं– उनके नाम और दृष्टांत इस प्रकार हैं–

(i) कड़वा = नीम (ii) तीखा = मीर्च

(iii) कषाय = त्रिफला (iv) खट्टा = नींबू

(v) मीठा = शक्कर

कुछ विद्वान खारे रस सहित कुल छह भेद भी मानते हैं। अन्य विज्ञ खारे रस का मीठे रस में अन्तर्भाव मानते हैं अथवा दो रस के संसर्ग से बनता हुआ मानते हैं। खारे रस का दृष्टांत है –नमक।

**(3) गंध :–** गंध के दो भेद हैं –उनके नाम और दृष्टांत इस प्रकार हैं–

(i) सुगंध = कस्तूरी (ii) दुर्गंध = विष्ठा

**(4) वर्ण :–** वर्ण के मुख्य पाँच भेद हैं– उनके नाम और दृष्टांत इस प्रकार हैं–

(i) सफेद = खरगोश (ii) लाल = टमाटर

(iii) पीला = हल्दी (iv) नीला (हरा) = पोपट

(v) काला = काजल

## पुदगलों के शब्दादि परिणाम

**शब्द–बन्ध–सौक्ष्म्य–स्थौल्य–संस्थान–भेद–तमश्छाया–ऽऽतपोद्योतवन्तश्च ।।5-24।।**

**सामान्य अर्थ :–** पुद्गल–शब्द, बन्ध, सूक्ष्मता, स्थूलता, संस्थान, भेद, तमः, छाया, आतप, और उद्योतवाले हैं।

**विवेचन :–** पूर्व सूत्र में पुद्गल द्रव्य के लक्षण स्वरूप स्पर्श आदि गुणधर्म बताए। प्रस्तुत सूत्र में पुद्गल के परिणाम स्वरूप शब्दादि बताते हैं।

**(1) शब्द –** जैनदर्शन के अनुसार शब्द पुद्गल स्वरूप है। नैयायिक दर्शनकार शब्द को पुद्गल स्वरूप नहीं मानकर उसे आकाश का गुण मानते हैं। परंतु रेडियो आदि की शोध से भी यह बात स्पष्ट हो चुकी है कि शब्द आकाश का नहीं बल्कि पुद्गल का ही लक्षण है।

शब्द – पुद्गल का ध्वनि रूप परिणाम है जो श्रोत्रेन्द्रिय से ग्राह्य है। वह अरूपी और अभौतिक नही – बल्कि मूर्त है। नीचे दिए गए तर्कों से इसे सिद्ध कर सकते हैं –

(i) ढोल आदि के बजाने से पृथ्वी में जो कंपन होता है, उसका कारण शब्द की मूर्तता ही है।

(ii) वाद्ययंत्रों की तीव्र ध्वनि से कान के पर्दे फट जाते हैं, उसका कारण भी शब्द की मूर्तता है।

(iii) पर्वत की गुफाओं आदि में जोर से आवाज करने पर उसकी प्रतिध्वनि सुनाई पडती है, वह भी पुद्गल का ही परिणाम है।

(iv) सूर्य के तेज प्रकाश में तारों आदि का प्रकाश छिप जाता है, उसी प्रकार जोर से बोले गए शब्द की आवाज में धीरे से बोले गए शब्दों की आवाज भी छिप जाती है।

(v) प्रदीप के प्रकाश की तरह शब्द भी चारों दिशाओं में फैलते है।

प्रयोग और विस्त्रसा दोनों प्रकार से शब्द पैदा होता है। बादल गर्जने आदि की आवाज बिना किसी के प्रयोग से स्वतः पैदा होती है–वह विस्त्रसा है। प्रयोग से उत्पन्न होने वाले शब्द के 6 भेद हैं–

**(i) तत =** ढोल आदि पर हाथ के प्रतिघात से पैदा होने वाले शब्द।

**(ii) वितत** = वीणा आदि में तार की सहायता से पैदा होने वाले शब्द।

**(iii) घन =** काँसे आदि के परस्पर टकराने से पैदा होने वाले शब्द।

**(iv) शुषिर =** बाँसुरी आदि में हवा से पैदा होने वाले शब्द।

**(v) संघर्ष =** करवत और लकड़ी के घर्षण से पैदा होने वाले शब्द।

**(vi) भाषा =** व्यक्ति की स्वरपेटी– जिह्वा से बोले जाने वाले वर्ण, पद, वाक्य आदि शब्द।

भाषा के व्यक्त और अव्यक्त रूप दो भेद हैं– बेइन्द्रिय आदि जीवों की भाषा अव्यक्त भाषा है। मनुष्य–देव आदि की भाषा व्यक्त भाषा है।

**(2) बंध –** दो वस्तुओं का परस्पर एकमेक होना–बंध है। इसके तीन भेद हैं–

**(i) प्रयोग बंध –** जीव के प्रयत्न से होने वाला बंध प्रयोग बंध है । जैसे जीव के साथ औदारिक आदि शरीर का संबंध अथवा लाख और लकड़ी का संबंध ।

**(ii) विस्त्रसा बंध –** जीव के प्रयत्न बिना स्वाभाविक रूप से होने वाला बंध–विस्त्रसा बंध है । इसके दो भेद हैं– (अ) बिजली, उल्कापात आदि का आदिमान विस्त्रसा बंध है ।

(आ) धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय का जो संबंध है वह अनादिमान विस्त्रसा बंध है ।

**(iii) मिश्रबंध –** प्रयोग और विस्त्रसा –दोनों से होने वाला बंध मिश्रबंध है । जैसे स्तंभ–कुंभ आदि का बंध ।

**बंध की सामान्य विधि**–स्निग्ध और रूक्ष स्पर्श से पुद्गलों का बंध होता है अर्थात् विरुद्ध धर्म वाले पदार्थों का बंध होता है । (इस का विशेष वर्णन इसी अध्याय के 32 वें सूत्र में होगा ।)

शास्त्रों में, जीवों और कर्मों का बंध भिन्न–भिन्न दृष्टिकोण से बताया है । फल की अपेक्षा कर्मबंध के चार भेद हैं–

**(i) स्पृष्ट बंध –** जो कर्मबंध आत्मा को विशेष फल दिए बिना प्रदेशोदय में आकर आत्मा से अलग हो जाता है–वह, स्पृष्ट बंध है । जैसे परस्पर स्पर्श हुई सूइयाँ, जिन्हें अलग करने में कोई विशेष प्रयत्न करना नहीं पड़ता है ।

**(ii) बद्ध बंध –** जो कर्मबंध थोड़ा–सा फल देकर आत्मा से अलग हो जाता है वह बद्ध बंध है । जैसे धागे से बाँधी गई सूइयाँ,जिन्हें अलग करने के लिए थोड़ा प्रयत्न करना पड़ता है ।

**(iii) निधत्त बंध –** जो कर्मबंध अपना बहुत–सा फल देकर ही आत्मा से अलग हो सकता है, वह निधत्त बंध है । जैसे जंग लगने से चिपकी हुई सूइयाँ, जिन्हें अलग करने के लिए विशेष प्रयत्न करना पडता है ।

**(iv) निकाचित बंध –** जो कर्मबंध अपना संपूर्ण फल देकर ही

आत्मा से अलग हो सकता है, वह निकाचित बंध है। जैसे हथोड़े से कूटकर एकमेक बनी सूइयाँ, जिन्हें अलग नहीं किया जा सकता है, पुनः बनाने की मेहनत करनी पड़ती है। ये सभी प्रकार के बंध पुद्गल के ही परिणाम है।

**(3) सूक्ष्मता –** जो पदार्थ सबसे छोटा हो, उसे सूक्ष्म कहते हैं। सूक्ष्म पदार्थ में रहा गुणधर्म सूक्ष्मता है। इसके दो भेद हैं–

**(i) अन्त्य सूक्ष्मता –** इस जगत् में परमाणु की अपेक्षा अन्य कोई पदार्थ सूक्ष्म नहीं है, इसलिए उसे अन्तिम अथवा अन्त्य सूक्ष्म कहा जाता है। परमाणु की सूक्ष्मता–अन्त्य सुक्ष्मता है।

**(ii) आपेक्षिक सूक्ष्मता –** एक द्रव्य की अपेक्षा अन्य द्रव्य की सूक्ष्मता– आपेक्षिक सूक्ष्मता है। जैसे तरबूज की अपेक्षा नींबू में आपेक्षिक सूक्ष्मता है।

**(4) स्थूलता –** जो पदार्थ सबसे बड़ा हो उसे स्थूल कहते हैं। स्थूल पदार्थ में रहा गुणधर्म स्थूलता है। इसके भी दो भेद हैं–

**(i) अन्त्य स्थूलता –** संपूर्ण लोकव्यापी स्कंध की अपेक्षा अन्य कोई द्रव्य स्थूल नहीं है। इसलिए उसे अन्त्य स्थूल कहा जाता है। लोकव्यापी स्कंध की स्थूलता–अन्त्य स्थूलता है।

**(ii) आपेक्षिक स्थूलता –** एक द्रव्य की अपेक्षा अन्य द्रव्य की स्थूलता–आपेक्षिक स्थूलता है। जैसे नींबू की अपेक्षा तरबूज में आपेक्षिक स्थूलता है।

**(5) संस्थान –** संस्थान अर्थात् आकृति। इसके दो भेद हैं–

**(i) इत्थंलक्षण संस्थान –** गोल, चौरस, लंबा आदि प्रकार से जिस आकृति का वर्णन हो सके उसे इत्थंलक्षण संस्थान कहते है। जैसे–मकान, गेन्द आदि की आकृति।

**(ii) अनित्थंलक्षण संस्थान –** गोल, चौरस, लंबा आदि प्रकार से जिस आकृति का वर्णन न हो सके उसे अनित्थंलक्षण संस्थान कहते हैं। जैसे बादल आदि की आकृति।

**(6) भेद –** भेद अर्थात् वस्तु का विभाजन करना । इसके पाँच प्रकार हैं–

**(i) औत्करिक भेद –** लकड़ी आदि को काटने से होने वाला भेद ।

**(ii) चौर्णिक भेद –** गेहू आदि धान्य को पीसने से होने वाला भेद ।

**(iii) खंड भेद –** मिट्टी आदि के पिंड को फेंकने से जैसे कण–कण बिखर जाते हैं– वैसा भेद ।

**(iv) प्रतर भेद –** अभ्रक आदि के पटल रूप होने वाला भेद ।

**(v) अनुतट भेद –** बाँस, गन्ना, छाल, चमडी आदि छीलने से होनेवाला भेद ।

**(7) अंधकार –** अंधकार–श्याम वर्ण में परिणत पुद्गलों का समूह है । उसमें शीत स्पर्श रहा हुआ है । नैयायिक दर्शन अंधकार को पुद्गल रूप न मानते हुए प्रकाश के अभाव रूप मानते हैं । जबकि जैन दर्शन के अनुसार अंधकार भी पुद्गल का ही पर्याय है । जैसे किसी वस्तु से अन्य वस्तु को ढक देने पर वह नहीं दिखती है, वैसे ही अधंकार से वस्तु ढक जाने से सामने रही वस्तु नहीं दिखती है ।

यदि अंधकार को पुद्गल स्वरूप न मानें तो उससे दृष्टि का प्रतिबंध कैसे हो सकता है ? अतः अंधकार को पुद्गल मानना जरूरी है । जब प्रकाश फैलता है, तब अंधकार के पुद्गल वस्तुओं को आच्छादित नहीं कर सकते हैं । परंतु जब प्रकाश की किरणें आना बंद हो जाती हैं, तब अंधकार के पुद्गल वस्तु को आच्छादित कर देते हैं ।

**(8) छाया –** प्रकाश पर आवरण आने पर छाया दिखाई देती है, वह भी पुद्गल का ही परिणाम है । इसके दो भेद हैं–

**(i) तद्वर्ण परिणत छाया –** स्वच्छ दर्पण में जो स्पष्ट मुख दिखाई देता है, वह तद्वर्ण परिणत छाया है । इसमें स्वच्छ द्रव्य में वस्तु के वर्ण आदि रूप में पुद्गल का परिणमन होता है ।

**(ii) अतद्‌वर्ण परिणत छाया –** अस्वच्छ पदार्थ में जो प्रतिछाया आकार दिखाई देता है, वह अतद्‌वर्ण परिणत छाया है । इसमें वर्ण दिखता नहीं है, मात्र आकृति दिखाई देती है । जैसे धूप में दिखनेवाली छाया ।

इन्हें अंग्रेजी में Reflection और Shadow भी कहते हैं ।

छाया पुद्‌गल स्वरूप है, इसी कारण इसे फोटो केमेरा के द्वारा ग्रहण किया जाता है ।

जैनदर्शन की यह स्पष्ट मान्यता है कि बादर परिणामी पुद्‌गल स्कंधों में से प्रति समय पानी के फव्वारे की तरह आठस्पर्शी पुद्‌गल स्कंध का प्रवाह सतत बहता रहता है । वह प्रवाह इतना अधिक सूक्ष्म होता है कि उसे चर्म चक्षुओं के द्वारा देखा नहीं जा सकता, किन्तु वैज्ञानिक प्रयोग द्वारा उस आकार को पिण्डीभूत किया जा सकता है । T.V. पर्दे पर आने वाले दृश्य छाया पुद्‌गल का ही परिणाम हैं ।

**9) आतप –** आतप अर्थात् सूर्य का प्रकाश । ज्योतिष्क देवों के पाँच भेदों में सूर्य भी एक भेद है । वैज्ञानिक सूर्य को आग के गोले रूप में मानते हैं, परंतु वास्तव में सूर्य ज्योतिष्क देवों के रहने के लिए देवविमान स्वरूप है । उसमें देवता रहते हैं । यह विमान अतिमूल्यवान रत्नों से बना हुआ है । इसलिए उसमें से प्रकाश के पुद्‌गल फैलते रहते हैं । यह प्रकाश अग्नि की तरह उष्ण होता है इसलिए इसे आतप कहते हैं । यह श्वेतवर्ण में परिणत पुद्‌गल स्कंधों का समूह है ।

सूर्यविमान का प्रकाश उष्ण है, परंतु स्पर्श शीत है । अग्नि और सूर्य का प्रकाश उष्ण है । अग्नि का स्पर्श उष्ण है, जबकि सूर्य का स्पर्श शीत है । वस्तु की दूरी के अनुसार सूर्य के प्रकाश की उष्णता घटती बढ़ती है । इसलिए पृथ्वी सूर्य से दूर होने पर भी उसके प्रकाश से गर्मी का अनुभव होता है । जबकि वहाँ रहे देवों को उष्णता का अनुभव नहीं होता है ।

**10) उद्योत –** उद्योत अर्थात् चन्द्रकान्तमणि, कुछ रत्न, औषधियों

आदि का प्रकाश । आतप और उद्योत–दोनों प्रकाशस्वरूप हैं परंतु–शीत वस्तु का प्रकाश यदि उष्ण है तो वह आतप है जबकि शीत वस्तु का प्रकाश यदि शीत है, तो वह उद्योत है ।

## पुद्गल के मुख्य दो भेद

**अणवः स्कन्धाश्च ।।5–25।।**

**सामान्य अर्थ :–** पुद्गल के मुख्य दो भेद हैं–परमाणु और स्कंध ।

**विवेचन :–** पूर्व के सूत्रों में पुद्गल के लक्षण और परिणाम का वर्णन किया । प्रस्तुत सूत्र में पुद्गल के मुख्य दो भेदों का वर्णन करते हैं –

**1) परमाणु –** केवली की दृष्टि में पुद्गल का अविभाज्य अंश, जिसके पुनः दो टुकड़े नहीं हो सकते हैं, ऐसा स्कंध से अलग पड़ा हुआ सूक्ष्म अंश–परमाणु है ।

परम अर्थात् अंतिम और अणु अर्थात् अंश । पुद्गल का सबसे छोटा अंतिम अंश परमाणु है । इससे छोटा विभाग कभी नहीं हो सकता है । उसका आदि–मध्यम और अंतिम अवयव वह स्वंय ही है–अर्थात् वह अप्रदेशी होने से उसमें आदि–मध्यम और अंतिम प्रदेश नहीं होते है ।

कारण–कार्य की अपेक्षा परमाणु हमेशा किसी अन्य द्व्यणुक के कारण रूप है । परमाणु किसी अन्य कारण का कार्य नहीं होता है । परमाणु के पर्याय बदलते रहते हैं, परंतु कभी भी उसका सर्वथा नाश नहीं होता है ।

पुद्गल के लक्षणों की अपेक्षा परमाणु में पूर्व 23 वें सूत्र में बताए पाँच रसों में से कोई भी एक रस, दो गंधों में से कोई एक गंध, पाँच वर्णों में से कोई एक वर्ण और स्निग्ध–रूक्ष, शीत-उष्ण इन दो परस्पर विरुद्ध जोड़ी में से कोई भी दो स्पर्श (स्निग्ध–शीत, स्निग्ध–उष्ण, रूक्ष–शीत अथवा रूक्ष–उष्ण–इन चार विकल्पों में से एक विकल्प = दो स्पर्श) होते हैं ।

स्वंतत्र रहे परमाणु को चर्म चक्षु से देख नहीं सकते हैं । जब अनेक परमाणु इकट्ठे होकर स्कंध रूप में परिणत होते हैं, तब मात्र अनुमान से परमाणु का ज्ञान होता है । चर्मचक्षु से देखे जानेवाले घट–पट आदि कार्यों में परंपरा से अनेक कारण होते हैं, परंतु सभी कार्यों में अंतिम कारण परमाणु है ।

भगवती सूत्र में परमाणु को पुद्गल का अविभाज्य, अछेद्य, अभेद्य, अदाह्य और अग्राह्य अंश कहा है । इसका तात्पर्य है कि –

- किसी शस्त्र आदि के द्वारा परमाणु का और नया विभाजन नहीं किया जा सकता है ।
- तीव्र अग्नि से उसे जलाया नहीं जा सकता है ।
- इन्द्रिय के माध्यम से उसे ग्रहण नहीं किया जा सकता है ।
- परमाणु की संख्या अनंत है ।
- उसके पर्याय बदलते रहते हैं, परंतु मूल द्रव्य का कभी नाश नहीं होता है ।
- प्रत्येक परमाणु में विवक्षित काल में जो वर्ण, गंध, रस आदि होते हैं, वे सदाकाल नहीं रहते हैं, उनमें परिवर्तन होता रहता है ।

**2) स्कंध –** अनेक परमाणुओं के संयोग से जो बनता है, उसे स्कंध कहते हैं । दृश्यमान टेबल, कुर्सी, पेन, पेन्सिल आदि सभी पदार्थ अनंत परमाणुओं के स्कंध है । इसके दो भेद हैं–

**i) बादर परिणामी स्कंध –** बादर परिणामवाले स्कंध, जिन्हें आँखो से देख सकते हैं । जैसे दृश्यमान घट–पट आदि पदार्थ ।

**ii) सूक्ष्म परिणामी स्कंध –** सुक्ष्म परिणामवाले स्कंध जिन्हें आँखों से देख नहीं सकते हैं । इसका विशेष वर्णन इसी अध्याय के पहले सूत्र के विवेचन में है । (पृष्ट 236)

## स्कंध की उत्पत्ति के कारण

**संघातभेदेभ्य उत्पद्यन्ते ।।5-26।।**

**सामान्य अर्थ :–** संघात, भेद और संघात-भेद–इन तीन कारणों से स्कंध की उत्पत्ति होती है ।

**विवेचन :–** पूर्व सूत्र में पुद्गल के मुख्य दो भेद– परमाणु और स्कंध रूप में बताए । प्रस्तुत सूत्र में स्कंध की उत्पत्ति के 3 कारण बताये हैं–

**(1) संघात –** संघात अर्थात् जुड़ना, इकट्ठा होना । दो परमाणुओं के संघात से द्व्यणुक स्कंध बनता है । द्व्यणुक में एक परमाणु के संघात से त्र्यणुक स्कंध बनता है । त्र्यणुक में एक परमाणु के संघात से चतुरणुक स्कंध बनता है । इसी तरह संख्यात परमाणु के संघात से संख्याताणुक स्कंध बनता है । असंख्य परमाणुओं के संघात से असंख्याताणुक स्कंध बनता है । अनंत परमाणु के संघात से अनन्ताणुक स्कंध बनता है ।

यहाँ एक के बाद ही दूसरा, तीसरा आदि अणु क्रमशः जुड़ते जायें ऐसा नियम नहीं है । द्व्यणुक स्कंध में दो अणु के जुड़ने से सीधा चतुरणुक स्कंध बन सकता है । इसी तरह कभी संख्यात, असंख्यात और अनंत अणुओं के संघात से क्रमशः संख्याताणुक, असंख्याताणुक और अनंताणुक स्कंध बनता है ।

**2) भेद –** भेद अर्थात् जुदा होना, अलग होना । अनंताणुक स्कंध में से एक परमाणु के भेद से एक परमाणु न्यून अनंताणुक स्कंध बनता है । इसी तरह दो, तीन, चार परमाणु आदि के भेद से क्रमश दो परमाणु न्यून अनंताणुक स्कंध, तीन परमाणु न्यून अनंताणुक स्कंध, चार परमाणु न्यून अनंताणुक स्कंध आदि उत्पन्न होता है । इसी तरह अनंताणुक स्कंध का भेद होते-होते जब वह असंख्याताणुक बन जाता है तब कहा जाता है कि इस असंख्यताणुक स्कंध की उत्पत्ति–भेद से हुई है । इसी तरह संख्याताणुक के लेकर द्व्यणुक तक समझना चाहिए ।

संघात की तरह भेद में भी एक के बाद दूसरा, तीसरा आदि अणु क्रमशः अलग होते जायें, ऐसा नियम नहीं है । अनंताणुक स्कंध में से कभी एक, दो, तीन यावत् दो अणु के सिवाय सभी अणु अलग होकर द्व्यणुक स्कंध बन सकता है ।

**3) संघातभेद –** संघातभेद अर्थात् एक समय में ही परमाणुओं का जुड़ना और अलग भी होना । जिस स्कंध में से एक, दो आदि परमाणु अलग होकर उसी समय अन्य एक दो आदि परमाणु जुड़ते हैं, उस स्कंध की उत्पत्ति संघातभेद से हुई है, ऐसा कहा जाता है ।

जैसे किसी एक चतुरणुक स्कंध में से दो परमाणु अलग हुए , उसी समय तीन परमाणु जुड़ते हैं तो वह पंचाणुक स्कंध बन जाता है । इस पंचाणुक स्कंध की उत्पत्ति संघातभेद से मानी जाती है ।

## परमाणु की उत्पत्ति

**भेदादणुः ।।5–27।।**

**सामान्य अर्थ :–** स्कंध के भेद से परमाणु की उत्पत्ति होती है ।

**विवेचन :–** पूर्व सूत्र में स्कंध की उत्पत्ति में तीन कारण बताए । प्रस्तुत सूत्र में अणु की उत्पत्ति का कारण बताते है ।

परमाणु की उत्पत्ति भेद से होती है । परमाणु–पुद्गल का अंतिम अविभाज्य अंश है । अनंताणुक , असंख्याताणुक, संख्याताणुक यावत् द्व्यणुक स्कंध में से क्रमशःएक परमाणु न्यून अनंत, असंख्य, संख्य आदि के भेद से परमाणु की उत्पत्ति होती है ।

संघात और संघातभेद से कभी परमाणु की उत्पत्ति नहीं होती है, क्योंकि दोनों में परमाणु इकट्ठे होते हैं, जबकि परमाणु तो निरवयव है । इसलिए जब स्कंध से परमाणु अलग होता है, तभी परमाणु की उत्पत्ति होती है ।

**प्रश्न – 'परमाणु तो नित्य द्रव्य है और वह द्व्यणुक आदि स्कंधों का कारण है '**–इस प्रकार का प्रतिपादन पूर्व में किया है । तो फिर प्रस्तुत सूत्र में परमाणु की उत्पत्ति बताई है, जिससे परमाणु भी अनित्य और कार्य रूप में सिद्ध होगा । ऐसा क्यों ?

**उत्तर –** जैनदर्शन में किसी भी वस्तु को एकांत से नित्य या

अनित्य नहीं माना गया है। प्रत्येक वस्तु किसी अपेक्षा से नित्य तो किसी अपेक्षा से अनित्य–दोनों स्वरूप में है।

प्रत्येक वस्तु द्रव्यार्थिक नय से नित्य और पर्यायार्थिक नय से अनित्य है परंतु वस्तु नित्य और अनित्य दोनों स्वरूप में है।

पूर्व सूत्र में परमाणु को नित्य कहा था–वहाँ पर द्रव्यार्थिक नय की प्रधानता बताई है अर्थात् परमाणु पहले नहीं था और अब उत्पन्न हुआ है–ऐसा नहीं है। अतः द्रव्य रूप में वह नित्य है परंतु पर्याय रूप से वह उत्पन्न होने के कारण अनित्य है।

जब तक वह स्कंध के साथ जुड़ा हुआ है, तब तक वह स्कंध-बद्ध अस्तित्व वाले पर्याय में था। जैसे ही वह स्कंध से भेद होकर अलग होता है, तब **'स्कंधबद्ध अस्तित्व'** पर्याय नष्ट हो जाती है और **'स्वतंत्र अस्तित्व पर्याय'** उत्पन्न हो जाती है। अतः पर्यायार्थिक नय से स्वतंत्र अस्तित्व पर्याय रूप में परमाणु उत्पन्न होता है।

वास्तव में स्कंध में जो परमाणु था, वही अलग हुआ है, कुछ भी नया उत्पन्न नहीं हुआ – मात्र पर्याय बदली है।

परमाणु के स्कंधबद्ध अस्तित्व से स्वतंत्र अस्तित्व में बदलाव को ही परमाणु की उत्पत्ति कहा है। इस प्रकार द्रव्यार्थिक नय की दृष्टि से वह परमाणु मात्र कारण रूप है, जब कि पर्यायार्थिक नय की दृष्टि से वह परमाणु कार्य रूप है।

## भेद और संघात की विशेषता

**भेदसंघाताभ्यां चाक्षुषाः ।।5-28।।**

**सामान्य अर्थ :–** भेद और संघात (उभय) से उत्पन्न हुए स्कंध ही चक्षु से ग्राह्य हैं।

**विवेचन :–** पूर्व के (26 वें) सूत्र में स्कंध उत्पन्न होने में संघात, भेद और संघातभेद–ये तीन कारण बताए थे। इन तीन कारणों में से किन कारणों से उत्पन्न होने वाले स्कंध आँखों से देखे जा सकते हैं, इसका निरूपण प्रस्तुत सूत्र में किया है।

जो स्कंध केवल संघात से अथवा केवल भेद से उत्पन्न होते हैं, वे आँखों से नहीं देखे जाते हैं । उपलक्षण से अन्य किसी इन्द्रिय से ग्राह्य नहीं होते हैं । वे ही स्कंध आँखों से देखे जा सकते हैं, जो संघात भेद रूप तीसरे कारण से उत्पन्न होते हैं ।

मात्र संघात और मात्र भेद से उत्पन्न होने वाले स्कंध आँखों से नहीं देखे जाते क्योंकि आँखें आदि इन्द्रियाँ अत्यंत स्थूल परिणामवाले स्कंधों को ही ग्रहण कर सकती हैं । इन दोनों कारणों से उत्पन्न स्कंध इतने स्थूल नहीं होते हैं ।

संघातभेद (भेदसंघात) से उत्पन्न हुए सभी स्कंध आँखों से देखे जाते ही हैं, ऐसा एकान्त नियम नहीं है, परंतु जो देखे जा सकते हैं, वे संघातभेद कारण से उत्पन्न हुए स्कंध होते हैं ।

## सत् का लक्षण

**उत्पाद– व्यय–ध्रौव्ययुक्तं सत् ।।5-29।।**

**सामान्य अर्थ :–** जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त होता है, वह सत् कहलाता है ।

**विवेचन :–** अब तक के सूत्र में धर्मास्तिकाय आदि प्रत्येक द्रव्य का स्वतंत्र लक्षण, उपकार और स्वरूप बताया । इससे सिद्ध हुआ कि धर्मास्तिकाय आदि पाँच द्रव्य सत् हैं । प्रस्तुत सूत्र में सत् का लक्षण बताते है ।

जगत् में जो भी वस्तु विद्यमान है, वह उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त है, इसलिए वह सत् है ।

उत्पाद अर्थात् उत्पत्ति । प्रत्येक वस्तु प्रतिसमय पर्याय रूप में उत्पन्न होती है । व्यय अर्थात् नाश । उत्पत्ति की तरह प्रत्येक वस्तु प्रतिसमय पर्याय रूप में नष्ट होती है । ध्रौव्य अर्थात् स्थिरता । द्रव्य के रूप में सभी वस्तुएं स्थिर भी होती हैं ।

ये तीन लक्षण जिनमें होते हैं, वही वस्तु सत् है–विद्यमान है। इनसे विपरीत–ये तीन लक्षण जिनमें न हों वह वस्तु असत् है - अविद्यमान है। सत् वस्तु में ये तीनों लक्षण अवश्य होते हैं।

प्रत्येक वस्तु में दो अंश होते हैं–द्रव्यांश और पर्यायांश। इनमें द्रव्यांश हमेशा स्थिर होता है और पर्यायांश अस्थिर होता है। उत्पत्ति और नाश मात्र पर्यायांश का होता है, द्रव्यांश ध्रुव रहता है।

**छह दर्शनों में सत् का स्वरूप–**

• **वेदान्त दर्शनः–** वे संपूर्ण जगत् को ब्रह्म स्वरूप मानते है। वे कहते हैं–**'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या।'** संपूर्ण सत् पदार्थ को वे ब्रह्म स्वरूप मानते हैं। जगत्वर्ती सभी चेतन या जड़ पदार्थ ब्रह्म का ही अंश हैं। जैसे एक चित्र में भिन्न–भिन्न रंग और आकार होते हैं, वे सभी एक ही चित्र के विभाग हैं, चित्र से अलग कुछ भी नहीं हैं, वैसे ही यह सारा जगत् एक ब्रह्म स्वरूप है–ब्रह्म से भिन्न कुछ भी नहीं है। ब्रह्म का स्वरूप नित्य होने से पूरे जगत् को एकांत नित्य ही मानते है।

• **बौद्ध दर्शनः–** वे संपूर्ण जगत् में रहे सभी चेतन या जड़ पदार्थ को क्षणिक ही मानते हैं। वे कहते हैं– **'यत् सत् तत् क्षणिकम्।'** जो सत् है वह सभी क्षणिक है। वे आत्मा आदि सभी पदार्थों को एकांत अनित्य मानते है।

• **सांख्य और योग दर्शनः–** वे जगत् को पुरुष और प्रकृति रुप मानते हैं। वे आत्मा को पुरुष और अन्य जड़ पदार्थों को प्रकृति स्वरूप मानते हैं। प्रकृति के संयोग से ही पुरुष का संसार है। वे पुरुष (आत्मा) को कूटस्थ नित्य और प्रकृति को परिणामी नित्य अर्थात् नित्यानित्य मानते हैं।

• **नैयायिक और वैशेषिक दर्शनः–** वे आत्मा, परमाणु, आकाश आदि पदार्थों को नित्य मानते हैं, जबकि घट–पट आदि पदार्थों को अनित्य मानते हैं।

• **जैन दर्शनः–** जैन दर्शन के अनुसार उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त सभी पदार्थों को नित्यानित्य हैं।

## नित्य का लक्षण

**तद्भावाव्ययं नित्यम् ।।5-30।।**

**सामान्य अर्थ :–** जो वस्तु स्वयं के भाव (स्वभाव) से रहित न हो–वह नित्य है ।

**विवेचन :–** पूर्व के सूत्र में सत् के लक्षण स्वरूप उत्पाद्, व्यय और ध्रौव्य ये तीन धर्म बताए । **'वस्तु स्थिर रहती है, इसलिए नित्य और उत्पन्न–(नष्ट) होती है इसलिए अनित्य है ।'** यह सत्य स्थूल दृष्टि से देखने पर नहीं समझा जा सकता है । अतः सूक्ष्म दृष्टि से समझने के लिए ग्रंथकारश्री ने प्रस्तुत सूत्र में नित्य का लक्षण बताया है –

नित्य अर्थात् जो पदार्थ अपने स्व–स्वभाव को–मूल स्वरूप को नहीं छोड़ता हैं । जगत् में रहे सभी सत् पदार्थ प्रत्येक क्षण परिवर्तित होते रहते हैं, इसलिए अनित्य हैं, परंतु परिवर्तन होने पर भी सभी पदार्थ अपने मूल स्वभाव को नहीं छोड़ते हैं, इसलिए नित्य हैं । वस्तु के इस परिणमनशील स्वभाव सहित नित्यता को परिणामी नित्य कहते है ।

वास्तव में देखा जाय तो जगत् में कोई भी पदार्थ एकांत नित्य या एकांत अनित्य नहीं है । सूक्ष्म रूप से सभी पदार्थ प्रत्येक क्षण परिवर्तित होते रहते हैं । प्रत्येक क्षण पदार्थ में बदलाव आता ही रहता है । वह बदलाव इतना सूक्ष्म होता है कि विशिष्ट ज्ञान के बिना देखा भी नहीं जा सकता है । लंबे काल के बाद जब प्रतिसमय के सूक्ष्म बदलाव से कोई स्थूल बदलाव होता है, तभी वह चर्मचक्षु से देखा जा सकता है । वस्तु के सूक्ष्मरूप में या स्थूल रूप हुए परिवर्तन के बाद भी वह अपने द्रव्यत्व स्वभाव को कभी नहीं छोड़ता है, अतः सभी वस्तुएं परिणामी नित्य है ।

वस्तु के नित्यानित्य स्वभाव को उदाहरण से समझते हैं–

किसी ने सोने के पिंड में से पहले कीमती हार बनाया । समय जाने पर उस हार की डिजाइन (Design) पुरानी हो गई । उसे गलवा

कर उसमें से सोने का कड़ा बनाया । पुनः वह कड़ा जब छोटा लगने लगा तब उसे गलवाकर, उसमें से सोने के अन्य आभूषण बनवाए । इन सभी स्थितियों में सोने का मूल द्रव्य तो हमेशा एक ही रहा, परंतु हार, कड़ा और अन्य आभूषण के रूप में पर्याय बदलते रहे । यहाँ सोना द्रव्य के रूप में परिणामी नित्य है, मात्र पर्यायें बदली हैं । यहाँ परिवर्तन स्थूल रूप से हुआ है । अब सूक्ष्म रूप से होने वाले परिवर्तन का उदाहरण देखते हैं–

स्थूल दृष्टि से हमें एक पुस्तक हमेशा वैसी-की वैसी अपरिवर्तित रूप में दिखती है । परंतु सूक्ष्म दृष्टि से देखें तो प्रतिपल उसमें बदलाव हो रहा है । काल, रूप आदि की अपेक्षा सूक्ष्म परिवर्तन प्रतिसमय हो रहा है । जैसे कोई पुस्तक बने एक वर्ष हो गया, तो वह अभी एक साल पुरानी है, एक समय बीतने के बाद वह एक साल एक समय पुरानी होगी, इसी तरह जैसे-जैसे समय प्रसार होगा, वैसे-वैसे वह काल की अपेक्षा पुरानी होती जाएगी । उसी तरह उसके रंग, रूप आकार आदि में भी सूक्ष्म रूप से परिवर्तन होता जाता है, जो हमारे ख्याल में नहीं आता है । यही परिवर्तन जब बड़ा आकार लेता है, तभी उसका ख्याल आता है । पुस्तक में प्रत्येक समय परिवर्तन होते हुए भी, द्रव्य रूप में वह पुस्तक ही रहती है । अतः पुस्तक द्रव्य के रूप में परिणामी नित्य है, मात्र पर्याय बदलते रहते हैं ।

नित्यानित्य की तरह जैनदर्शन में अन्य भी सामान्य–विशेष, भेद–अभेद, एकत्व–अनेकत्व, सत्त्व–असत्त्व आदि अनेक परस्पर विरोधी धर्म स्वीकार किये गए हैं । इसका मुख्य कारण स्याद्वाद दृष्टि है ।

अनेकांत और स्याद्वाद ये जैनशासन के सिद्धांतों का मूल है । इन्हें अपेक्षावाद या नयवाद भी कहते है । जैनदर्शन का कोई भी सिद्धांत हो, उसमें स्याद्वाद अवश्य होता ही है । जैनदर्शन ने पूरे जगत् को स्याद्वाद की अनमोल भेंट दी है । स्याद्वाद के द्वारा जीवन के राजकीय, सामाजिक, धार्मिक, व्यावहारिक, शैक्षणिक आदि सभी क्षेत्रों में सभी

समस्याओं का समाधान हो सकता है । स्याद्वाद के बिना किसी क्षेत्र में विकास नहीं हो सकता है । स्याद्वाद के भंग से हमारा विकास अवरुद्ध होता है, अतः जैनदर्शन के सभी सिद्धांत स्याद्वादमय हैं ।

## स्याद्वाद की पहचान

**अर्पिताऽनर्पित–सिद्धेः ।।5-31।।**

**सामान्य अर्थ :–** एक ही पदार्थ में परस्पर विरुद्ध धर्म की सिद्धि अपेक्षा और अपेक्षा के अभाव से होती है ।

**विवेचन :–** जगत्वर्ती सभी पदार्थ अनंत धर्मात्मक हैं । किसी एक पदार्थ की पहचान करने के लिए सभी धर्मों को मुख्य या गौण नहीं बना सकते । हमें जिस धर्म की अपेक्षा होती है, उसी को आगे कर हम वस्तु को पहचानते हैं ।

जैसे कोई स्त्री माता भी है और पुत्री भी है, बहु भी है और सास भी है । परस्पर विरुद्ध संबंध (धर्म) होने पर भी अन्य–अन्य व्यक्ति की अपेक्षा ये सभी संबंध एक व्यक्ति में रहे हुए हैं ।

अपनी संतान की अपेक्षा वह माता है, उसमें मातृत्व धर्म रहा हुआ है । अपने माता–पिता की अपेक्षा पुत्री है, उसमें पुत्रीत्व धर्म रहा हुआ है । वैसे ही अपनी सास की अपेक्षा बहु है, उसमें बहुत्व धर्म रहा हुआ है । और अपनी बहु की अपेक्षा सास है, उसमें सासपने का धर्म रहा हुआ है । ये सभी अलग-अलग व्यक्ति जब उसका परिचय देंगे तो वे अपने-अपने संबंध को बताते हुए, अन्य के साथ रहे संबंध की उपेक्षा करेंगे । फिर भी अन्य के साथ रहे संबंधों को नकारेंगे तो नहीं । इस तरह एक व्यक्ति में अनेक संबंध होने पर भी अपने-अपने संबंधी की अपेक्षा संबंध को मुख्य और गौण माना जाता है ।

वैसे ही आगे बताए गए नित्य-अनित्य, सामान्य–विशेष, भेद–अभेद, एकत्व–अनेकत्व, सत्त्व–असत्त्व आदि अनेक परस्पर विरुद्ध धर्म भी सिद्ध होते हैं ।

**नित्य–अनित्य :–** द्रव्यार्थिक नय वस्तु के द्रव्यांश को मुख्य करता है और पर्यायांश को गौण करता है। इसलिए द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा वस्तु नित्य है। इसके विपरीत–पर्यायार्थिक नय वस्तु के पर्यायांश को मुख्य करता है और द्रव्यांश को गौण करता है। इसलिए पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा वस्तु अनित्य है।

**सामान्य–विशेष :–** जीव सामान्य और विशेष, उभय स्वरूप है। सामान्य धर्म स्वीकार करने पर सभी जीवों में एकता की बुद्धि पैदा होती है, जबकि विशेष धर्म स्वीकार करने पर सभी जीवों में भिन्नता की बुद्धि पैदा होती है। जैसे सामान्य रूप से सभी मनुष्यों में मनुष्यत्व एक समान है, परंतु विशेष रूप से कोई धनवान है, कोई निर्धन है, कोई क्षत्रिय है तो कोई ब्राह्मण है। अतः मनुष्यत्व धर्म को मुख्य किया जाय तो सभी मनुष्य एक समान हैं, परंतु धन को मुख्य करने पर धनवान और निर्धन में कुछ विशेष है।

**भेद–अभेद :–** ज्ञान और आत्मा के संबंध में व्यवहार नय और निश्चय नय क्रमशः भेद और अभेद संबंध स्वीकारता है। व्यवहार नय से आत्मा ज्ञानवान अर्थात् ज्ञानवाली है। यहाँ ज्ञान और आत्मा दोनों भिन्न हैं। जबकि निश्चय नय से आत्मा ज्ञानमय अर्थात् ज्ञान ही आत्मा का स्वरूप है। यहाँ ज्ञान और आत्मा दोनों में अभेद है।

**सत्–असत् :–** प्रत्येक वस्तु अपने स्वभाव से, स्वक्षेत्र से, स्वरूप की अपेक्षा सत् है, जबकि वह परभाव से, परक्षेत्र से पररूप की अपेक्षा असत् है।

## स्याद्वाद

स्याद्वाद यह विश्व को जैन दर्शन की अमूल्य भेंट है। स्याद्वाद को अनेकांतवाद भी कहते हैं। विश्व की अनेकविध समस्याओं का सुयोग्य समाधान स्याद्वाद द्वारा खूब आसानी से हो जाता है।

जैन तत्त्वज्ञान को समझने के लिए स्याद्वाद को समझना बहुत जरूरी है।

अन्य सभी दर्शन एकांतवादी हैं, जबकि जैनधर्म की बुनियादी नींव ही अनेकांतवाद है ।

स्याद्वाद दो शब्दों से बना है–स्याद् और वाद । स्याद् का अर्थ होता है कथंचित्, किसी प्रकार से ,in some respect.

कई अज्ञानी लोग स्याद्वाद को संशयवाद कहकर उसकी मजाक उड़ाते हैं । वे कहते हैं–एक ही वस्तु में दो विरोधी गुणधर्म कैसे रह सकते हैं । एक वस्तु यदि ठंडी है तो गर्म नहीं होगी और गर्म है तो ठंडी नहीं होगी ।

उनका कहना है कि एक ही वस्तु में दो विरोधी गुणधर्मों का अस्तित्व संभव नहीं है ।

परंतु वास्तव में देखा जाय तो एक ही वस्तु में दो विरोधी गुणधर्म भी रह सकते हैं ।

उदा. 1) अजैन लोगों की यह मान्यता है कि देवताओं ने समुद्र का मंथन किया । समुद्र के मंथन से जहर भी निकला और अमृत भी । यद्यपि जहर और अमृत दोनों विरोधी वस्तुएँ हैं, फिर भी एक ही समुद्र में उन दोनों के अस्तित्व को स्वीकार किया गया ।

2) एक ही व्यक्ति को विद्वान् भी सिद्ध किया जा सकता है और मूर्ख भी ।

रमेशभाई ने हिन्दी भाषा में M.A. किया है । वे हिन्दी के अच्छे विद्वान् हैं । इस अपेक्षा उन्हें विद्वान् भी कहा जाएगा ।

उन्हीं रमेशभाई को गुजराती या उर्दू भाषा का लेश भी ज्ञान नहीं है । तो उन्हें गुजराती या उर्दू भाषा की अपेक्षा तो मूर्ख ही कहा जाएगा ।

इस प्रकार विद्वान् और मूर्ख दोनों विरोधी भाव होने पर भी एक ही रमेशभाई में वे दोनों भाव दिखाई दिए ।

दुनिया में समाज व राष्ट्र में जितने भी झगड़े दिखाई देते हैं, वे सब एकांतवाद से पैदा हुए हैं ।

हर व्यक्ति के सोचने, समझने की अपनी–अपनी दृष्टि होती है। सामनेवाले के दृष्टिकोण को समझने के लिए जब व्यक्ति तैयार नहीं होता है तब उसमें से झगड़ा पैदा होता है। यदि व्यक्ति सामनेवाले के दृष्टिकोण Angle को समझने की तैयारी बता दे तो दुनिया के अधिकांश झगड़े शांत हो सकते हैं।

उदा. किसी व्यक्ति को पीने के लिए आधा गिलास पानी दिया गया। इस घटना को वह किसी भी Angle से सोच सकता है।

यदि वह कहता है कि आधा गिलास तो खाली है। उसका यह कथन सत्य होने पर भी वह निराशा का अनुभव कराता है। आधा गिलास देनेवाले के ऊपर उसे क्रोध, द्वेष और घृणा का भाव ही पैदा होता है।

इसके बदले यदि वह व्यक्ति कहता है–**'अहो ! आधा गिलास तो भरा हुआ है।'** इस वाक्य में उत्साह हैं, उल्लास है, चित्त की प्रसन्नता है, आशावादी दृष्टिकोण है।

## सप्तभंगी

जिस प्रकार सोने की परीक्षा कसौटी के पत्थर से होती है, उसी प्रकार किसी भी वस्तु के विषय में सात प्रकार के संशय पैदा होते हैं, ये सात संशय ही सप्तभंगी कहलाते हैं।

**1) स्याद् अस्ति एव घटः** किसी अपेक्षा से घट है।

**2) स्याद् नास्ति एव घटः** किसी अपेक्षा से घड़ा नहीं है।

**3) स्याद् अस्ति स्याद् नास्ति एव घटः** किसी अपेक्षा से घड़ा है, किसी अपेक्षा से घड़ा नहीं है।

**4) स्याद् अवक्तव्य एव घटः** किसी अपेक्षा से घड़ा अवक्तव्य है।

**5) स्याद् अस्ति स्याद् अवक्तव्य एव घटः** किसी अपेक्षा से घड़ा है और किसी अपेक्षा से अवक्तव्य ही है।

**6) स्याद् नास्ति स्याद् अवक्तव्य एव घटः** किसी अपेक्षा से घट नहीं है और किसी अपेक्षा से घट अवक्तव्य ही है।

**7) स्याद् अस्ति स्याद् नास्ति, स्याद् अवक्तव्य एव घटः** किसी अपेक्षा से घड़ा है, किसी अपेक्षा से घड़ा नहीं है और किसी अपेक्षा से घड़ा अवक्तव्य है ।

इस सप्तभंगी को समझने के पूर्व द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव को समझना जरूरी है ।

**1) द्रव्य :** द्रव्य अर्थात् पदार्थ Matter । किसी भी वस्तु के मूलभूत पदार्थ को द्रव्य कहा जाता है । वस्तु की पर्यायें बदलती रहती हैं, परंतु उसका मूलभूत द्रव्य बदलता नहीं है । जैसे–सोने के अनेक अलंकार बनते हैं, परंतु सभी अलंकारों में सुवर्ण द्रव्य तो सदैव बना रहता है ।

जब हम द्रव्य की अपेक्षा इस प्रकार का वाक्य प्रयोग करते हैं, तब वस्तु के मूल द्रव्य का ही विचार करते हैं ।

जैसे–टेबल का मूल द्रव्य लकड़ी है ।

तलवार का मूल द्रव्य लोहा है ।

आभूषण का मूल द्रव्य सोना है ।

**2. क्षेत्र :** द्रव्य के रहने के स्थान को क्षेत्र कहते हैं । अंग्रेजी में उसे Space या Place भी कहते हैं ।

उदा. 1) आकाश में बादल है ।

इस वाक्य में 'जिस आकाश में बादल रहे हुए हैं', वह बादलों का क्षेत्र कहलाता है ।

2) राम कुर्सी पर बैठा है । इस वाक्य में राम के बैठने का क्षेत्र कुर्सी है और कुर्सी का क्षेत्र आकाश है, जिसमें कुर्सी रही हुई है ।

**3. काल :** वस्तु के अस्तित्व के समय को उस वस्तु का काल कहते हैं ।

**4. भाव :** वस्तु में रहे गुणधर्म को भाव कहते हैं । उदा. वस्तु में रहे रूप, रस, गंध, स्पर्श, आकृति आदि भाव कहलाते है । प्रत्येक वस्तु का अपना अलग–अलग भाव–स्वभाव होता है ।

काला, लाल आदि घड़े का भाव है ।

खट्टापन यह नींबू का स्वभाव है ।

उष्णता यह अग्नि का स्वभाव है ।

शीतलता यह पानी का स्वभाव है ।

किसी भी वस्तु के संदर्भ में विचार करते समय उसके द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का विचार किया जाता है ।

सप्तभंगी के पहले दो भंगों में **'हाँ'** और **'ना'** का जो विचार किया गया है, वह इसी द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव रूप चतुष्टय की अपेक्षा है ।

**1) स्याद् अस्ति एव घटः** अर्थात् घड़ा अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा है, जब कि वो ही घड़ा परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभाव की अपेक्षा नहीं है ।

(1) द्रव्य की अपेक्षा घड़ा मिट्टी का है, अतः मिट्टी यह घड़े का स्वद्रव्य कहलाता है ।

(2) घड़ा घर के बाहर पड़ा है तो घर के बाहर का क्षेत्र घड़े का क्षेत्र हो गया ।

(3) घड़ा पौष मास में बनाया है तो पौष मास यह घड़े का स्वकाल हो गया ।

(4) घड़े का रंग लाल है तो लालरंग यह घड़े का स्वभाव हो गया ।

इस प्रकार वह घड़ा स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव की अपेक्षा से है ।

**2) स्याद् नास्ति एव घटः** जो घड़ा अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा विद्यमान है,वो ही घड़ा परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभाव की अपेक्षा विद्यमान नहीं है ।

प्रत्येक वस्तु में जब हम उसी के द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा विचार करते हैं तो उस वस्तु के अस्तित्व को स्वीकार करते ही हैं, परंतु जब परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभाव की अपेक्षा विचार करते हैं तो उसी वस्तु का अभाव सिद्ध हो जाता है ।

जो घड़ा मिट्टी रूप द्रव्य, घर के बाहर के भाग रूप क्षेत्र, पौष मास के काल और काले रंग के भाव की अपेक्षा विद्यमान है;वो ही घड़ा सोने के घड़े की अपेक्षा नहीं है, घर के अंदर के खंड की अपेक्षा नहीं है। फाल्गुन मास रूप काल की अपेक्षा नहीं है और पीले रंग के भाव की अपेक्षा नहीं है।

जिस प्रकार हर वस्तु में **'अस्ति'** रूप धर्म है तो उसी वस्तु में **'नास्ति'** रूप धर्म भी है। हर वस्तु **'स्व चतुष्टय'** की अपेक्षा विद्यमान है तो **'पर चतुष्टय'** की अपेक्षा अविद्यमान भी है।

**3) स्याद् अस्ति एव घटः स्याद् नास्ति एव घटः** सप्तभंगी का तीसरा विकल्प है–

**'किसी अपेक्षा घड़ा है और किसी अपेक्षा घड़ा नहीं है।'**

स्थूल दृष्टि से ऐसा ही लगता है कि यह तीसरा भंग, पहले व दूसरे भंग का मिश्रण है परंतु वास्तव में देखा जाय तो यह स्वतंत्र भंग है।

दो रंगों के मिश्रण से जो नया रंग तैयार होता है, उसे हम **'दो रंगो का मिश्रण'** न कहकर स्वतंत्र **'नया'** नाम देते हैं।

इसी प्रकार यह तीसरा भंग भी दो भंगों का मिश्रण नहीं, बल्कि स्वतंत्र भंग है।

उदा. किसी संत पुरुष को पूछेंगे तो वे कहेंगे–**'शराब उपयोगी नहीं है।'**

किसी शराबी को पूछेंगे तो वह कहेगा–**'शराब उपयोगी है।'**

परंतु किसी डॉक्टर को पूछने पर वह कहेगा–**'औषध के रूप में शराब उपयोगी है और पीने की आदत की अपेक्षा शराब अनुपयोगी है।'**

यह तीसरा भंग स्वचतुष्टय और परचतुष्टय उभय को जोड़ने से स्वतंत्र भंग बनता है।

**4) स्याद् अवक्तव्य एव घट :** किसी अपेक्षा घड़ा अवक्तव्य है ।

अवक्तव्य अर्थात् जिसका वाणी से वर्णन नहीं हो सकता है ।

लोकव्यवहार में भी हम कई बार इस प्रकार के शब्द प्रयोग करते हैं, **'इसके बारे में कुछ भी बताना, वाणी के अगोचर है ।'**

तीर्थंकर परमात्मा में रहे गुणों की जब बात आती है तो कई महापुरुष भी कहते हैं–

**'उनके गुण वाणी के अगोचर हैं अर्थात् वाणी के द्वारा उनके गुणों की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती है ।'**

**'किसी व्यक्ति ने आपातकालीन स्थिति में हम पर कुछ उपकार किया हो तो हम कहते हैं–आपके उपकारों का वर्णन करने मे मैं असमर्थ हूँ ।'** I am unable to express my gratitude.

पहले भंग में घड़े के अस्तित्व को स्वीकार किया । दूसरे भंग में घड़े के नास्तित्व को स्वीकार किया । तीसरे भंग में अस्तित्व और नास्तित्व का स्वीकार किया ।

तीसरे भंग में वस्तु में रहे दोनों धर्मों का क्रमशः कथन है, परंतु यदि यह कहा जाय कि घड़े में रहे अस्तित्व और नास्तित्व धर्म का एक साथ कथन करो, तो यह वाणी से संभव नहीं है ।

हम यही कहेंगे कि भाषा में ऐसा कोई शब्द नहीं है, जिस शब्द के द्वारा घड़े में रहे दोनों भावों का एक साथ कथन हो सके ।

चुनाव Election के बाद कई बार हम इस **'अवक्तव्य'** शब्द का प्रयोग करते हुए कहते हैं–**'क्या Result आएगा, कुछ कह नहीं सकते हैं ।'**

युद्ध के वातावरण में हार–जीत स्पष्ट दिखाई नहीं देती हो तब हम कहते हैं–**'कुछ कह नहीं सकते, हार होगी या जीत?'**

गंभीर बीमारी से ग्रस्त व्यक्ति के लिए कई बार हम इस प्रकार का वाक्यप्रयोग करते हैं–बचेगा या नहीं, कुछ कह नहीं सकते ।

एक ही वस्तु में **'है' 'नहीं है' 'है और नहीं है ।'** इन तीन विकल्पों को एक साथ कहना शक्य नहीं है, इसी कारण सप्तभंगी में चौथा भंग **'अवक्तव्य'** है ।

**5) स्याद् अस्ति, स्याद् अवक्तव्य एव घटः** किसी अपेक्षा घड़ा है और किसी अपेक्षा घड़ा अवक्तव्य है ।

पाँचवाँ भंग है–वस्तु है और अवक्तव्य है । इस भंग में वस्तु के स्वचतुष्टय अपेक्षित अस्तित्व को स्वीकार किया गया है तो साथ में स्वतंत्र स्वचतुष्टय और स्वतंत्र स्व–परचतुष्टय की अपेक्षा अवक्तव्य भी कहा है ।

उदा. कुआँ खोदते समय व्यक्ति ऐसी ही जमीन पसंद करता है, जहाँ नीचे पानी हो ।

ऐसे स्थान पर कुआँ खोदते समय कुएँ के पानी के संदर्भ में पूछने पर यही जवाब दिया जाता है– **'यहाँ पानी है परंतु पानी निकलेगा या नहीं, कुछ कह नहीं सकते हैं ।'**

**6) स्याद् नास्ति, स्याद् अवक्तव्य एव घटः** किसी अपेक्षा घड़ा नहीं है और किसी अपेक्षा घड़ा अवक्तव्य है ।

इस छठे भंग में दूसरे भंग के नास्तित्व और चौथे भंग के अवक्तव्य को एक साथ स्वीकार किया जाता है ।

किसी अपेक्षा वस्तु नहीं है और अवक्तव्य भी है ।

परचतुष्टय की अपेक्षा घड़ा नहीं है, ऐसा विधान स्पष्ट रूप से कर सकते हैं, परंतु स्व-पर-चतुष्टय की दूसरी–दूसरी अपेक्षाओं से घड़ा अवक्तव्य भी है ।

कोई जमीन ऐसी होती है, जहाँ गहराई तक खोदने पर भी पानी नहीं मिलता है, वहाँ लोगों में साधारणतया यह बात प्रचलित होती है कि यहाँ पानी नहीं है, फिर भी जहाँ जमीन है, वहाँ नीचे पानी की संभावना भी है । वहाँ जमीन खोदने पर कुछ कह नहीं सकते हैं– पानी निकलेगा या नहीं ? ऐसे संयोगों में हम यही बात कहते हैं– **'पानी नहीं है, फिर भी कुछ कह नहीं सकते ।'**

**7) स्याद् अस्ति, स्याद् नास्ति, स्याद् अवक्तव्य एव घटः** किसी अपेक्षा घड़ा है, किसी अपेक्षा घड़ा नहीं है और किसी अपेक्षा अवक्तव्य भी है। इस भंग में पहले, दूसरे व चौथे भंग इन तीनों का एक साथ में समायोजन किया गया है।

इस भंग में स्वचतुष्टय, परचतुष्टय और दोनों भंगों को एक साथ में प्रस्तुत करने की अवक्तव्यता इन तीनों का समायोजन किया गया है।

उदा. 1) एक ही जमीन में 5–5 फुट की गहराई पर दो कुएं खोदे गए। उसमें एक कुएं में से 5 फुट पर पानी निकला, दूसरे कुएं में से नहीं निकला। अब वहाँ कोई तीसरा कुआँ खोदे और प्रश्न करे कि यहाँ पानी निकलेगा या नहीं ? तो संदिग्ध ही जवाब दिया जाएगा। कुछ कह नहीं सकते हैं, यहाँ पानी निकलेगा या नहीं ?

अब उस जमीन के बारे में पूछेंगे तो एक ही जवाब होगा, यहाँ पानी है, यहाँ पानी नहीं है, फिर भी कुछ नहीं कह सकते हैं।

2) राकेशभाई गरीब है, व्यवसाय के लिए उसने महेशभाई के पास से 50000 रु. उधार लिये। उसके बाद उसने व्यवसाय चालू किया परंतु व्यवसाय का उसे ज्यादा अनुभव नहीं होने से कुछ कह नहीं सकते हैं कि वह रुपया कमाएगा या नहीं ?

अब राकेशभाई के लिए कोई अभिप्राय देना हो तो इस भंग के अनुसार कह सकते हैं कि–

1) राकेशभाई के पास पैसा है।

2) राकेशभाई के पास अपना धन नहीं है।

3) भविष्य में राकेशभाई के पास धन रहेगा या नहीं, कुछ कह नहीं सकते हैं।

इस प्रकार इस सातवें भंग के अनुसार कह सकते हैं।

**'राकेशभाई के पास धन है, राकेशभाई के पास धन नहीं (स्वयं का) है तथा भविष्य में धन रहेगा या नहीं, कुछ नहीं कह सकते !'**

इस प्रकार इन सात भंगों के द्वारा वस्तु में रहे भिन्न–भिन्न धर्मों के संदर्भ में निर्णय किया गया, ये सभी भंग स्पष्ट होने पर भी प्रत्येक विधान में से वस्तु का पूर्ण चित्र स्पष्ट नहीं होता है ।

वस्तु का संपूर्ण चित्र तो इन सातों भंगों को इकट्ठा करेंगे तो ही मिलेगा, अन्यथा नहीं ।

ये सातों निर्णय अपने–अपने निर्णय में अपने–अपने चतुष्टय में स्वतंत्र होने पर भी स्व–पर चतुष्टय की अपेक्षा, एक–दूसरे के साथ जुड़े हुए हैं इस बात का ख्याल रखने के लिए ही हर भंग के साथ में **'स्याद्'** पद जुड़ा हुआ है ।

इन सातों भंगों को समग्र रूप से देखेंगे तो एक संपूर्ण चित्र तैयार होगा ।

**सात ही भंग क्यों ?**

सप्तभंगी संशयजनित जिज्ञासाओं की तृप्ति है । जिज्ञासाएँ सात ही होने से सप्तभंगी कही गई हैं ।

## पुद्गलों के बंध में कारण

**स्निग्ध–रूक्षत्वाद् बन्धः ।।5–32।।**

**सामान्य अर्थ :–** पुद्गलों का बन्ध स्निग्ध और रूक्ष स्पर्श से होता है ।

**विवेचन :–** इसी अध्याय के 26 वें सूत्र में स्कंध की उत्पत्ति के रूप संघात, भेद और संघातभेद–ये तीन कारण बताए थे । फिर 27 वें सूत्र में भेद से परमाणु की उत्पत्ति और 28 वें सूत्र में संघात–भेद से चाक्षुष प्रत्यक्ष स्कंध की उत्पत्ति का वर्णन किया ।

प्रस्तुत सूत्र में संघात का वर्णन करते हैं । संघात अर्थात् पुद्गलों का परस्पर एकमेक संश्लेष होना–जुड़ना–बँधना । पुद्गलों के परस्पर संश्लेष को बंध कहते हैं । अलग-अलग रहे हुए स्कंध या परमाणु जुड़कर एक हो जायें–वह बन्ध है ।

यह बन्ध पुद्गल में रहे स्निग्ध और रूक्ष स्पर्श गुण के कारण होता है । स्निग्ध स्पर्शवाले पुद्गलों का स्निग्ध स्पर्शवाले और रूक्ष स्पर्शवाले, दोनों प्रकार के पुद्गलों का एक साथ बंध होता है । उसी प्रकार रूक्ष स्पर्शवाले पुद्गलों का स्निग्ध स्पर्शवाले और रूक्ष स्पर्शवाले, दोनों प्रकार के पुद्गलों के साथ बंध होता है ।

## बंध के विषय में प्रथम अपवाद

**न जघन्य–गुणानाम् ।।5-33।।**

**सामान्य अर्थ :–** जघन्य गुण वाले पुद्गलों का परस्पर बंध नहीं होता है ।

**विवेचन :–** बंध का सामान्य कारण पुद्गलों का स्निग्ध और रूक्ष स्पर्श है–यह पूर्व के सूत्र में स्पष्ट किया । परंतु सभी स्निग्ध या रूक्ष पदार्थों में स्निग्धता और रूक्षता एक समान नहीं होती । सभी पदार्थों में स्निग्धता और रूक्षता का प्रमाण अलग–अलग होता है । पदार्थ में रही स्निग्धता और रूक्षता के प्रमाण को मापने के लिए यहाँ **'गुण'** शब्द का उपयोग किया है ।

जिस मात्रा के केवली भगवंत की दृष्टि से भी दो टुकड़े न हो सके ऐसी सबसे न्यून मात्रा जिस पुद्गल में होती है, वह एक गुण पुद्गल कहलाता है । ऐसी दो मात्रा जिसमें हो वह दो गुण (द्विगुण) पुद्गल कहलाता है । इसी प्रकार त्रिगुण, चतुर्गुण....संख्यात गुण, असंख्यात गुण यावत् अनंत गुण पुद्गल होते हैं । इस प्रकार पुद्गलों में गुण की मात्रा से अनंत भेद होते हैं । उनमें जिन पुद्गलों में गुण की मात्रा सबसे न्यून हो, वे जघन्य गुण पुद्गल हैं । जिन पुद्गलों में गुण की मात्रा सबसे अधिक हो, वे उत्कृष्ट गुण पुद्गल हैं एवं उपर्युक्त दोनों प्रकार से अन्य, मध्यमगुण वाले पुद्गल हैं ।

प्रस्तुत सूत्र में, पूर्व सूत्र में बताए बंध के सामान्य नियम का प्रथम अपवाद बताया है कि– **जघन्य गुण स्निग्ध पुद्गल का जघन्य गुण**

**रूक्ष अथवा जघन्य गुण स्निग्ध पुद्गल के साथ बंध नहीं होता है । उसी प्रकार जघन्य गुण रूक्ष पुद्गल का जघन्य गुण स्निग्ध अथवा जघन्य गुण रूक्ष पुद्गल के साथ बंध नहीं होता है ।**

## दूसरा अपवाद

### गुणसाम्ये सदृशानाम् ।।5-34।।

**सामान्य अर्थ :–** गुण की समानता हो तो सदृश पुद्गलों का बंध नहीं होता है ।

**विवेचन :–** पुद्गल स्कंध के बंध में दूसरा अपवाद है कि–**जिन पुद्गलों का स्पर्श सदृश (समान) हो, और गुण भी समान हों उन पुद्गलों का बंध नहीं होता है ।** यहाँ सदृशता स्निग्ध और रूक्ष गुण की अपेक्षा समझना है । स्निग्ध स्पर्शवाला पुद्गल अन्य स्निग्ध स्पर्श वाले पुद्गल के लिए सदृश है और रूक्ष स्पर्शवाला पुद्गल अन्य रूक्ष स्पर्शवाले पुद्गल के लिए सदृश है । परंतु एक ओर स्निग्ध स्पर्शवाला पुद्गल हो और दूसरी ओर रूक्ष स्पर्शवाला पुद्गल हो तो वे दोनों परस्पर असदृश हैं ।

उसी प्रकार गुण साम्य अर्थात् गुण की मात्रा एक समान होनी चाहिए । जितने पुद्गलों में एक गुण स्निग्ध या रूक्ष स्पर्श है, उन सभी में गुणसाम्य है । उसी तरह जिन पुदगलों में द्विगुण, त्रिगुण, चतुर्गुण आदि स्पर्श होता है, वे सभी परस्पर समान हैं ।

परंतु एक गुण पुद्गल और द्विगुण पुद्गल आदि में परस्पर गुणसाम्य का अभाव है फिर क्यों न उनका स्पर्श एक समान हो, वे सदृश कहलाएंगे परंतु गुणसाम्य नहीं कहलाएंगे ।

सूत्र में जो स्कंध के बंध का अपवाद बताया है, उनमें पुद्गल सदृश होना और गुणों का साम्य होना जरूरी है–ऐसा होने पर पुद्गलों में परस्पर बंध नहीं होता है । नीचे दिये कोष्ठक से इस बात को स्पष्ट करते हैं ।

| पहला पुद्गल | दूसरा पुद्गल | सदृश/ असदृश | गुण समान/ गुण असमान | बंध होगा या नहीं |
|---|---|---|---|---|
| 1) चतुर्गुण स्निग्ध | चतुर्गुण स्निग्ध | सदृश है | गुण समान हैं | बंध नहीं होगा |
| 2) चतुर्गुण रूक्ष | चतुर्गुण रूक्ष | सदृश है | गुण समान हैं | बंध नहीं होगा |
| 3) चतुर्गुण स्निग्ध | चतुर्गुण रूक्ष | असदृश है | गुण समान हैं | बंध होगा |
| 4) चतुर्गुण स्निग्ध | छह गुण स्निग्ध | सदृश है | गुण असमान हैं | बंध होगा |
| 5) चतुर्गुण स्निग्ध | छह गुण रूक्ष | असदृश है | गुण असामन हैं | बंध होगा |
| 6) चतुर्गुण रूक्ष | द्वि गुण स्निग्ध | असदृश है | गुण असमान हैं | बंध होगा |

## तीसरा अपवाद

**द्व्यधिकादिगुणानां तु ।।5-35।।**

**सामान्य अर्थ :–** सदृश पुद्गलों में गुणवैषम्य होने के साथ द्विगुण आदि से अधिक हों तो परस्पर बंध होता है ।

**विवेचन :–** पूर्व के सूत्र में स्कंध बंध के अपवाद में बताया कि यदि पुद्गलों का गुण साम्य हुआ और वे सदृश हुए तो बंध नहीं होगा । इससे सिद्ध होता है कि सदृश पुद्गलों में भी गुण की असमानता होने पर ही बंध होगा ।

प्रस्तुत सूत्र में एक और अपवाद बताया है कि–**यदि सदृश पुद्गल हों और गुण की असमानता भी हो तो भी वह गुण की असमानता कम-से-कम द्विगुण (मात्रा) होना जरूरी है । अर्थात् सदृश पुद्गल होने पर भी यदि गुण की असमानता मात्र एकगुण की हो तो भी बंध नहीं होगा ।**

उदा. द्विगुण स्निग्ध पुद्गल का त्रिगुण स्निग्ध पुद्गल के साथ, अथवा त्रिगुण रूक्ष पुद्गल के साथ बंध नहीं होता है । वैसे ही द्विगुण रूक्ष पुद्गल का त्रिगुण स्निग्ध पुद्गल के साथ अथवा त्रिगुण रूक्ष पुद्गल के साथ बंध नहीं होता है ।

परंतु द्विगुण स्निग्ध पुद्गल का चतुर्गुण आदि स्निग्ध पुद्गल के साथ अथवा चतुर्गुण आदि रूक्ष पुद्गल के साथ बंध होता है । वैसे ही द्विगुण रूक्ष पुद्गल का चतुर्गुण आदि स्निग्ध पुद्गल के साथ अथवा चतुर्गुण आदि रूक्ष पुद्गल के साथ बंध होता है क्योंकि यहाँ गुण की असमानता में द्विगुण (दो मात्रा) का भेद है ।

इस तरह इन चार सूत्रों में बंध के कारण और बंध के तीन अपवाद का वर्णन किया । इनको संक्षेप में देखे तो–

32 वें सूत्र के अनुसार–स्निग्ध और रूक्ष गुण वाले किन्हीं भी दो पुद्गलों का बंध हो सकता है ।

33 वें सूत्र के अनुसार–जघन्य गुणवाले परस्पर दो पुद्गलों का बंध नहीं हो सकता है ।

34 वें सूत्र के अनुसार–स्पर्श की सदृशतावाले और गुण की समानतावाले दो पुद्गलों का परस्पर बंध नहीं होता है ।

35 वें सूत्र के अनुसार–पुद्गलों के परस्पर बंध हेतु सदृश पुद्गलों में जघन्य से दो गुण विषमता जरूरी है । गुण समान हों या एक गुण विषम हो तो बन्ध नहीं होता है ।

**निम्नलिखित पुद्गलों का परस्पर बंध होता है ।**

| पुद्गल | बंध क्यों होता है ? |
|---|---|
| एकगुण स्निग्ध–द्विगुण रूक्ष | दोनों में जघन्य गुण व सदृशता नहीं है । |
| एकगुण रुक्ष–द्विगुण स्निग्ध | दोनों में जघन्य गुण व सदृशता नहीं है । |
| एकगुण स्निग्ध–त्रिगुण स्निग्ध | दोनों में जघन्य गुण नहीं है, सदृशता होने पर भी एकगुण गुणवैषम्य नहीं है । |
| एकगुण रुक्ष–त्रिगुण रुक्ष | दोनों में जघन्य गुण नहीं है, सदृशता होने पर भी एकगुण गुणवैषम्य नहीं है । |
| द्विगुण स्निग्ध–द्विगुण रूक्ष | साम्य है किंतु सदृशता नहीं है । |
| द्विगुण रूक्ष–द्विगुण स्निग्ध | साम्य है किंतु सदृशता नहीं है । |

**निम्नलिखित पुद्गलों का बंध नहीं होता ।**

| पुद्गल | क्यों नहीं होता? | निषेधक सूत्र |
|---|---|---|
| एकगुण स्निग्ध–एकगुण स्निग्ध | दोनों में जघन्य गुण है । | 33 |
| एकगुण स्निग्ध–एकगुण रूक्ष | दोनों में जघन्य गुण है । | 33 |
| एकगुण रूक्ष–एकगुण रूक्ष | दोनों में जघन्य गुण है । | 33 |
| एकगुण रूक्ष–एकगुण स्निग्ध | दोनों में जघन्य गुण है । | 33 |
| द्विगुण स्निग्ध–द्विगुण स्निग्ध | सदृश है, गुण साम्य है । | 34 |
| द्विगुण रूक्ष–द्विगुण रूक्ष | सदृश है, गुण साम्य है । | 34 |
| पंचगुण स्निग्ध–पंचगुण स्निग्ध | सदृश है, गुण साम्य है । | 34 |
| पंचगुण रूक्ष–पंचगुण रूक्ष | सदृश है, गुण साम्य है । | 34 |
| द्विगुण स्निग्ध–त्रिगुण स्निग्ध | मात्र एकगुण वैषम्य है । | 35 |
| द्विगुण रूक्ष–त्रिगुण रूक्ष | मात्र एकगुण वैषम्य है । | 35 |
| एकगुण स्निग्ध–द्विगुण स्निग्ध | मात्र एकगुण वैषम्य है । | 35 |
| एकगुण रूक्ष–द्विगुण स्निग्ध | मात्र एकगुण वैषम्य है । | 35 |

## बंध के पश्चात् स्पर्श परिणाम

**बन्धे समाधिकौ पारिणामिकौ ।।5-36।।**

**सामान्य अर्थ :–** पुद्गल का बंध होने के बाद एक पुद्गल के सम और अधिक गुण क्रमशः अन्य पुद्गल के सम और हीन गुण को स्वयं के रूप में परिणमित करते हैं ।

**विवेचन :–** पूर्व सूत्र में बंध की प्रक्रिया और उसके अपवाद का वर्णन किया । स्निग्ध पुद्गल के साथ स्निग्ध और रूक्ष पुद्गल के साथ रूक्ष का बंध होने पर तथा स्निग्ध और रूक्ष पुद्गल का बंध होने पर, उस स्कंध में कौन–सा गुण रहता है ? इसका वर्णन प्रस्तुत सूत्र में करते है ।

**1) समान गुण :–** i) समान गुण (मात्रा) वाले और समान स्पर्श वाले पुद्गल हों तो उन दोनों का बंध ही नहीं होता–यह स्पष्टीकरण 34 वें सूत्र में कर दिया है । जैसै द्विगुण स्निग्ध के साथ द्विगुण स्निग्ध पुद्गल का बंध ही नहीं होता, क्योंकि समान गुण के दो पुद्गलों के परस्पर बंध में दो मात्रा गुण अधिक होना जरूरी है ।

ii) समान गुण (मात्रा) वाले और असमान स्पर्श वाले पुद्गल हों तो उन दोनो का परस्पर बंध होता है । बंध होने के बाद बने स्कंध में– कभी स्निग्ध गुण–रूक्ष गुण को स्निग्ध के रूप में परिणमित करता है । तो कभी रूक्ष गुण–स्निग्ध गुण को रूक्ष के रूप में परिणमित करता है ।

जैसे–द्विगुण स्निग्ध का द्विगुण रूक्ष पुद्गल के साथ बंध होता है, तब कभी स्निग्ध पुद्गल अपने साथ जुडे रूक्ष पुद्गल को भी स्निग्ध रूप में बदल देता है । तो कभी स्निग्ध पुद्गल अपने साथ जुड़े रूक्ष के साथ स्वयं रूक्ष के रूप में बदल जाता है ।

**समान गुण (मात्रा) और असमान स्पर्शवाले पुद्गल में दोनों प्रकार के स्पर्श में परिणमन विकल्प से होता है ।**

**2) असमान गुण :–** असमान गुण (मात्रा) वाले और असमान स्पर्श वाले पुद्गल हों तो उन दोनों का भी परस्पर बंध होता है । बंध होने के बाद बने स्कंध में अधिक गुण के स्पर्शवाला पुद्गल–अपने साथ जुड़े हीन गुण के स्पर्शवाले पुद्गल को अपने स्पर्श में बदल देता है–अर्थात् स्वयं के स्पर्श में परिणमित करता है ।

जैसे–चतुर्गुण स्निग्ध पुद्गल का, द्विगुण रूक्ष के साथ बंध होने पर वह स्कंध चतुर्गुण स्निग्ध बन जाएगा । वैसे ही त्रिगुण रूक्ष पुद्गल का एकगुण स्निग्ध के साथ बंध होने पर वह स्कंध त्रिगुण रूक्ष बन जाएगा ।

**असमान गुण (मात्रा) और असमान स्पर्शवाले पुद्गलों के बंध में जिस स्पर्श की बहुलता (गुण मात्रा में अधिकता) होगी, उस स्पर्श में नया स्कंध बदल जाएगा ।**

**समान-असमान पुद्गल बंध के परिणाम का कोष्टक**

| पहला पुद्गल | दूसरा पुद्गल | स्कंध का परिणाम |
|---|---|---|
| 1) द्विगुण स्निग्ध | द्विगुण रूक्ष | द्विगुण स्निग्ध अथवा द्विगुण रूक्ष |
| 2) द्विगुण रूक्ष | द्विगुण स्निग्ध | द्विगुण रूक्ष अथवा द्विगुण स्निग्ध |
| 3) त्रिगुण स्निग्ध | एक गुण रूक्ष | त्रिगुण स्निग्ध |
| 4) त्रिगुण रूक्ष | एक गुण स्निग्ध | त्रिगुण रूक्ष |
| 5) त्रिगुण स्निग्ध | एक गुण स्निग्ध | त्रिगुण स्निग्ध |
| 6) त्रिगुण रूक्ष | एक गुण रूक्ष | त्रिगुण रूक्ष |
| 7) त्रिगुण स्निग्ध | त्रिगुण स्निग्ध | बंध नही होगा |
| 8) त्रिगुण रूक्ष | त्रिगुण रूक्ष | बंध नही होगा |

## द्रव्य का लक्षण

### गुण–पर्यायवद् द्रव्यम् ।।5-37।।

**सामान्य अर्थ :–** गुण और पर्यायवाला द्रव्य होता है ।

**विवेचन :–** इसी अध्याय के प्रारंभ में दूसरे सूत्र **'द्रव्याणि जीवाश्च'** में जीव सहित धर्मास्तिकाय आदि को द्रव्य के रूप में कहा था । तत्पश्चात् उनके लक्षण बताते हुए उन्हें **'सत्'** कहा गया । इससे सिद्ध होता है कि जो सत् है वह द्रव्य ही है । सत् का लक्षण–**'उत्पाद–व्यय ध्रौव्ययुक्तं सत्'** रूप में बताया कि जो उत्पन्न होता है, व्यय होता है । फिर भी ध्रुव रहता है वह सत् है । इस अपेक्षा उत्पत्ति–नाश और ध्रुव–यह द्रव्य का भी लक्षण सिद्ध होता है ।

प्रस्तुत सूत्र में अन्य प्रकार से द्रव्य का लक्षण बताया गया है **''जिसमें गुण और पर्याय हो वह द्रव्य है ।''** अर्थात् द्रव्य वही है,

जिसमें गुण और पर्याय है। जिसमें गुण और पर्याय न हो, वह कभी द्रव्य नहीं बन सकता। गुण और पर्याय का स्वरूप इस प्रकार है–

• **गुण – ''सहभाविनो गुणाः।''** प्रत्येक द्रव्य में अनेक प्रकार के धर्म परिणमित होकर रहते हैं। उनमें से कुछ धर्म द्रव्य के साथ हमेशा रहते है। कभी भी उन धर्मों का द्रव्य में अभाव नहीं होता है। जब से द्रव्य की सत्ता है, तब से ही द्रव्य में उन धर्मों की सत्ता है। सदा द्रव्य के साथ रहनेवाले इन धर्मों को गुण कहा जाता है।

जैसे– आत्मा में चैतन्य धर्म।

पुद्गल में रूप, रस, गंध, स्पर्श आदि धर्म।

• **पर्याय – ''क्रमभाविनो पर्यायाः।''** द्रव्य के अनेक धर्मों में कुछ धर्म ऐसे भी होते हैं, जो हमेशा साथ में नहीं रहते हैं– अर्थात् कभी होते हैं, तो कभी नहीं होते हैं। वे धर्म क्रमभावी होते हैं–उत्पन्न होकर नष्ट हो जाते हैं। ऐसे अनित्य धर्मों को पर्याय कहा जाता है।

जैसे– आत्मा में ज्ञानोपयोग, दर्शनोपयोग आदि धर्म।

पुद्गल में काला आदि वर्ण, तीखा आदि रस, सुरभि आदि गंध और कठिन आदि स्पर्श। इत्यादि।

यहाँ पुद्गल का सामान्य वर्ण आदि गुण स्वरूप है, जबकि काला वर्ण आदि पर्याय स्वरूप है। पर्याय बदलते रहते हैं परंतु गुण कभी बदलता नहीं है।

प्रत्येक द्रव्य में अनंत गुण और अनंत पर्याय होते हैं। गुण कभी उत्पन्न नहीं होते और कभी नष्ट भी नहीं होते। अतः गुण अनादि–अनंत हैं। जबकि पर्याय प्रतिसमय उत्पन्न होते हैं और नष्ट होते हैं, अतः पर्याय सादि–सांत हैं।

गुण नित्य हैं और पर्याय अनित्य है। पर्याय की अनित्यता व्यक्ति की अपेक्षा है, बाकी प्रवाह से तो पर्याय भी नित्य है अर्थात् प्रत्येक द्रव्य में हमेंशा के लिए कोई-न-कोई पर्याय अवश्य रहता है। अतः पर्यायों का प्रवाह अनादि अनंत है। इसलिए द्रव्य कभी गुण से अलग नहीं होता, तो पर्याय से भी अलग नहीं होता।

## काल का वर्णन

**कालश्चेत्येके ।।5–38।।**

**सामान्य अर्थ :–** कुछ आचार्य काल को भी एक द्रव्य मानते हैं ।

**विवेचन :–** धर्मास्तिकाय आदि पाँच द्रव्यों का विस्तार से वर्णन कर, काल के विषय में ग्रंथकार अपनी मान्यता बताते हैं । प्रस्तुत सूत्र में अन्य आचार्य के मत से काल को द्रव्य रूप कहा है । इससे सिद्ध होता है कि ग्रंथकार काल को द्रव्य रूप में स्वीकार नहीं करते । क्योंकि पूर्व सूत्र में बताया द्रव्य का लक्षण काल में घटित नहीं होता है अर्थात् काल में गुण और पर्याय नहीं है ।

जगत् की सत्ता, द्रव्य में होने वाले परिवर्तन, नई वस्तु को पुरानी बनाने का काम, छोटे–बड़े का व्यवहार आदि सभी व्यवहार काल द्रव्य के बिना घटित नहीं होते हैं इसलिए ग्रंथकार ने भी इसी अध्याय के 22 वें सूत्र में काल के वर्तना, परिणाम आदि काल के उपकार बताए हैं । अतः काल के अस्तित्व में ग्रंथकार का कोई निषेध नहीं है । परंतु काल–द्रव्य रूप है या गुण–पर्याय रूप है–इसमें मतभेद है ।

## काल का विशेष स्वरूप

**सोऽनन्तसमयः ।।5–39।।**

**सामान्य अर्थ :–** काल अनंत समय प्रमाण है ।

**विवेचन :–** काल के तीन भेद हैं–जो काल बीत चुका है–वह भूतकाल । जो चल रहा है–वह वर्तमान काल और जो आने वाला है वह भविष्य काल । इनमें वर्तमान काल मात्र एक समय का है । भूत और भविष्य काल अनंत समय के हैं । प्रस्तुत सूत्र में भूतकाल और भविष्य काल की अपेक्षा से काल को अनंत समय प्रमाण कहा है ।

यहाँ समय अर्थात् काल का अविभाज्य अंश । जैसे पुद्गल का अविभाज्य अंश–प्रदेश या परमाणु है, वैसे काल का अविभाज्य अंश–समय है । समय इतना सूक्ष्म है कि एक पलक में असंख्य समय बीत जाते हैं ।

## काल के भेद–

| | |
|---|---|
| काल का अविभाज्य अंश | = एक समय |
| असंख्य समय | = एक आवलिका |
| 1,67,77,216 आवलिका | = एक मुहूर्त |
| दो घड़ी | = एक मुहूर्त |
| 7 श्वासोच्छ्वास | = एक स्तोक |
| 7 स्तोक | = एक लव |
| 77 लव | = एक मुहूर्त |
| 256 आवलिका | = निगोद जीव का क्षुल्लक भव |
| 30 मुहूर्त | = एक अहोरात्र |
| 15 अहोरात्र | = एक पक्ष |
| 2 पक्ष | = एक मास |
| 2 मास | = एक ऋतु |
| 6 मास | = एक अयन |
| 6 ऋतु | = एक वर्ष |
| 12 मास | = एक वर्ष |
| 5 वर्ष | = एक युग |
| 100 वर्ष | = एक शताब्दी |
| 84 लाख वर्ष | = एक पूर्वांग |
| 84 लाख पूर्वांग | = एक पूर्व |
| असंख्य वर्ष | = एक पल्योपम |
| 10 कोटाकोटि पल्योपम | = एक सागरोपम |
| 10 कोटाकोटि सागरोपम | = एक अवसर्पिणी अथवा उत्सर्पिणी |
| 20 कोटाकोटि सागरोपम | = एक कालचक्र |
| अनंत काल चक्र | = एक पुद्गल परावर्त काल |

जीर्ण वस्त्र को फाड़ते हुए एक तंतु से दूसरे तंतु को फटते हुए बीच में असंख्य समय बीत जाते हैं। कमल के सौ पत्तों को साथ में रखकर कोई सशक्त व्यक्ति अपनी पूरी शक्ति से तीक्ष्ण भाला लेकर छेद करे तो भी एक पत्र से दूसरे पत्र के बीच में से भाले को प्रसार होने में असंख्य समय बीत जाते हैं। इन दृष्टांतों से समय की सूक्ष्मता समझ सकते हैं।

अपेक्षा से काल के दो भेद हैं–नैश्चयिक और व्यावहारिक। पूर्व में 22 वें सूत्र में काल के उपकार रूप बताए गए वर्तना आदि पर्याय नैश्चयिक काल हैं। एक समय से लेकर पुद्गल परावर्त काल तक के उपर्युक्त काल के भेद व्यावहारिक काल हैं। नैश्चयिक काल–लोक–अलोक दोनों में है, जबकि व्यवहारिक काल ज्योतिष चक्र के परिभ्रमण से ढाई द्वीप क्षेत्र में ही है।

सूक्ष्मता से विचारें तो काल द्रव्य नहीं बल्कि अन्य द्रव्य के वर्तना आदि रूप हैं। जीव आदि द्रव्यों में होने वाले वर्तना आदि पर्याय में काल उपकारक होने के कारण पर्याय और पर्यायी में अभेद की विवक्षा से काल को भी द्रव्य कहा गया है।

## गुण का लक्षण

**द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः ।।5-40।।**

**सामान्य अर्थ :–** जो सदा द्रव्य के साथ रहते है और स्वयं गुण से रहित हैं, वे गुण कहलाते हैं।

**विवेचन :–** पूर्व के 37 वें सूत्र के विवेचन में द्रव्य की अपेक्षा गुण का लक्षण बताया था, जो द्रव्य के साथ सदा रहता है, वह गुण है। प्रस्तुत सूत्र में गुण का लक्षण बताया है कि–**जो सदा द्रव्य के साथ रहते हैं और स्वयं गुण से रहित है–वे गुण हैं।**

**द्रव्य का आश्रय करने वाले सभी गुण–स्वयं निर्गुण हैं।** सोचने और बोलने में यह कुछ अजीब लगता है, परंतु सूक्ष्मता से विचारें तो यही सत्य है कि गुण का आश्रय मात्र द्रव्य ही है, गुण किसी गुण में भला

कैसे आश्रय कर सकता है ? अतः गुण को प्रस्तुत सूत्र में निर्गुण कहा है ।

वैसे तो पर्याय भी द्रव्य में ही रहते हैं और स्वयं निर्गुण भी हैं, फिर भी वह हमेशा द्रव्य के साथ नहीं रहता है ।

## परिणाम का लक्षण

**तद्भावः परिणामः ।।5-41।।**

**सामान्य अर्थ :–** द्रव्य और गुण का भाव–परिणाम है ।

**विवेचन :–** जिस स्वरूप में द्रव्य और गुण होते हैं वह स्वरूप द्रव्य और गुण का परिणाम है । प्रत्येक द्रव्य में द्रव्यत्व जाति है अर्थात् सभी द्रव्यों में द्रव्यत्व स्वभाव अवश्य होता है । वैसे ही प्रत्येक गुण में गुणत्व जाति है अर्थात् सभी गुणों में गुणत्व स्वभाव अवश्य होता है ।

**द्रव्य में द्रव्यत्व और गुण में गुणत्व का त्याग किये बिना द्रव्य और गुण में जो कुछ भी परिवर्तन होता है, वह परिणाम है ।**

एकांत अनित्यवादी बौद्ध दर्शन–क्षणिकवादी होने से प्रत्येक वस्तु को मात्र एक क्षणस्थायी अर्थात् क्षणविनाशी मानते हैं । **'वस्तु का उत्पन्न होकर सर्वथा नाश होना ही परिणाम है'**– यह बौद्ध दर्शन की मान्यता है ।

एकांत नित्यवादी न्याय दर्शन के मतानुसार **'अविकृत द्रव्य में गुणों की उत्पत्ति और नाश ही परिणाम है ।'**

जैनदर्शन अनेकांत और स्याद्वादमय है । अतः परिणाम का उपर्युक्त अर्थों से भिन्न अर्थ बताते हुए कहता है कि–**स्वजाति का त्याग किये बिना द्रव्य या गुण में होनेवाला विकार परिणाम है ।** जैसे जीव में स्वजाति–जीवत्व स्वभाव विद्यमान है । मनुष्य–देव–पशु आदि अवस्थाएँ प्राप्त होने पर भी जीवत्व हमेशा विद्यमान रहता है अतः मनुष्यत्व, देवत्व, पशुत्व आदि जीव के परिणाम हैं ।

पुद्गल द्रव्य के द्व्यणुक, त्र्यणुक आदि अनंत परिणाम हैं । उन सभी में एक स्वभाव–पुद्गलत्व विद्यमान रहता है ।

इसी प्रकार धर्मास्तिकाय आदि सभी द्रव्यों में अपना-अपना स्वभाव विद्यमान है, यही उनका परिणाम है ।

## परिणाम के दो भेद

**अनादिरादिमांश्च ।।5–42।।**

**सामान्य अर्थ :–** परिणाम दो प्रकार के हैं–अनादि और आदिमान ।

**विवेचन :–** द्रव्य और गुण के परिणाम अनादि भी होते हैं और आदिमान भी होते हैं । **'आदि'** अर्थात् प्रारंभ । जिस परिणाम की कोई आदि नहीं है, वह अनादि परिणाम है और जिस परिणाम की कोई निश्चित समय पर आदि है, वह आदिमान है ।

जगत् में रहे सभी द्रव्य दो प्रकार के हैं–रूपी और अरूपी । उनमें जो अरूपी द्रव्य हैं वे सभी अनादि परिणामवाले हैं ।

धर्मास्तिकाय द्रव्य में रहे असंख्यप्रदेशवत्व लोकाकाश व्यापित्व, गतिसहायकरणत्व, अगुरुलघुत्व, सत्त्व आदि परिणाम अनादि हैं ।

अधर्मास्तिकाय द्रव्य में रहे असंख्यप्रदेशवत्त्व, लोकाकाश व्यापित्व, स्थितिसहायकरणत्व, अगुरुलघुत्व, सत्त्व आदि परिणाम अनादि हैं ।

आकाशास्तिकाय द्रव्य में रहे, अनंतप्रदेशवत्त्व, अवगाहदायित्व, सत्त्व आदि परिणाम अनादि हैं ।

जीवद्रव्य में रहे जीवत्व, चेतनत्व आदि परिणाम अनादि है ।

कालद्रव्य में रहे वर्तना आदि परिणाम भी अनादि हैं ।

पंचास्तिकाय और काल में से पुद्गलास्तिकाय के सिवाय सभी द्रव्य अरूपी और अनादि हैं । अतः इनमें रहे परिणामों का कभी प्रारंभ नहीं हुआ, बल्कि द्रव्य के साथ उनके परिणाम भी अनादि काल से हैं ।

## अनादिमान परिणाम

**रूपिष्वादिमान् ।।5–43।।**

**सामान्य अर्थ :–** रूपी द्रव्यों में आदिमान परिणाम होते हैं ।

**विवेचन :–** पूर्व सूत्र में कहा कि जिस परिणाम की निश्चित समय में आदि

(प्रारंभ) है, वह आदिमान परिणाम है। मात्र रूपी द्रव्य में ही आदिमान परिणाम होते हैं। पुद्गल द्रव्य रूपी है। अतः उसके रूप आदि परिणाम आदिमान हैं। पुद्गल द्रव्य में प्रतिसमय रूप आदि परिणामों का परिवर्तन होता रहता है। फिर भी कोई-न-कोई रूप हमेशा होता ही है। इसलिए एक निश्चित प्रकार के रूप आदि की अपेक्षा पुद्गल द्रव्य में आदिमान परिणाम है, जबकि प्रवाह की अपेक्षा अनादि परिणाम है। प्रस्तुत सूत्र में जो कथन किया है वह एक निश्चित रूप–व्यक्ति की अपेक्षा से किया गया है।

ये परिणाम-स्पर्श, रस, गंध, वर्णादि परिणाम अनेक प्रकार से हैं। जैसे पुद्गल के आठ प्रकार के स्पर्श में –शीत, शीततर, शीततम आदि तीव्रता में भेद होते है, वैसे ही उष्ण, उष्णतर, उष्णतम इत्यादि आठों प्रकार के स्पर्श में भी ये भेद समझना चाहिए। उसी तरह पाँच रसों में से तिक्त, तिक्ततर, तिक्ततम इत्यादि। दो गंध में सुरभि, सुरभितर, सुरभितम इत्यादि। पाँच वर्ण में से शुक्ल, शुक्लतर, शुक्लतम इत्यादि तीव्रता मंदता आदि भेद समझना चाहिए।

## जीवों में आदिमान परिणाम

**योगोपयोगौ जीवेषु ।।5–44।।**

**सामान्य अर्थ :–** जीव में योग और उपयोग ये दो परिणाम आदिमान हैं।

**विवेचन :–** जीव में जीवत्व आदि परिणाम अनादि है, परंतु योग और उपयोग– ये दो परिणाम आदिमान हैं। **पुद्गल के संबंध से आत्मा में उत्पन्न होनेवाला वीर्य का परिणाम विशेष–योग है। तथा चैतन्य स्वभाववाले आत्मा के ज्ञान और दर्शन उपयोग हैं।** ये दोनों परिणाम जीव को शक्ति देनेवाले हैं, क्योंकि इनसे आत्मा के मुख्य स्वभाव की सिद्धि होती है। संसारी आत्मा का योग मुख्य स्वभाव है–वह हमेशा योगवाली होती है। सिद्धात्मा का उपयोग मुख्य स्वभाव है–वह हमेशा उपयोगवाली होती है। ये योग और उपयोग उत्पन्न होकर नियत काल तक रहते हैं इसलिए आदिमान हैं। फिर भी प्रवाह की अपेक्षा अनादिमान भी हैं।

## पांच द्रव्य (सूत्र 1 से 21)

### अजीव तत्त्व

#### धर्मास्तिकाय

- नित्य, स्थिर, अरुपी है ।
- एक द्रव्य, निष्क्रिय है ।
- असंख्य प्रदेशात्मक है ।
- लोकाकाश में ही है ।
- संपूर्ण लोकाकाश में है ।
- गति में सहाय करना इसका उपकार है ।

#### अधर्मास्तिकाय

- नित्य, स्थिर, अरुपी है ।
- एक द्रव्य, निष्क्रिय है ।
- असंख्य प्रदेशात्मक है ।
- लोकाकाश में ही है ।
- संपूर्ण लोकाकाश में है ।
- स्थिति में सहाय करना इसका इसका उपकार है ।

#### आकाशास्तिकाय

- नित्य, स्थिर, अरुपी है ।
- एक द्रव्य, निष्क्रिय है ।
- अनंत प्रदेशात्मक है ।
- लोकाकाश और अलोकाकाश में भी है ।
- अवगाहना देना यह इसका उपकार है ।

#### पुद्गलास्तिकाय

- नित्य, स्थिर, अरुपी है ।
- संख्य, असंख्य और अनंत प्रदेशात्मक है ।
- परमाणु का प्रदेश नहीं होता है लोकाकाश में ही है ।
- एक प्रदेश से लेकर असंख्य प्रदेश के क्षेत्र में रहता है ।
- शरीर, वाणी, मन और श्वासोच्छ्वास तथा सुख, दुःख, जीवन और मरण इसके उपकार है ।

### जीव

- असंख्य प्रदेशात्मक
- लोकाकाश में ही है
- अंगुल के असंख्यातवें भाग से लेकर संपूर्ण लोकाकाश तक जीवद्रव्य रहता है ।
- जीव प्रदेशों का दीपक की तरह संकोच और विकास होने से जीवों की अवगाहना भिन्न-भिन्न है ।
- परस्पर उपकार करना ।

### काल द्रव्य (सूत्र 22, 28, 39)

**उपकार**

1) वर्तना
2) परिणाम
3) क्रिया
4) परत्वापरत्व

**मान्यता**

काल में द्रव्य का लक्षण सिद्ध नहीं होता, फिर भी कुछ आचार्य के मत से काल भी द्रव्य है ।

**विशेष स्वरुप**

काल अनंत समय प्रमाण है ।

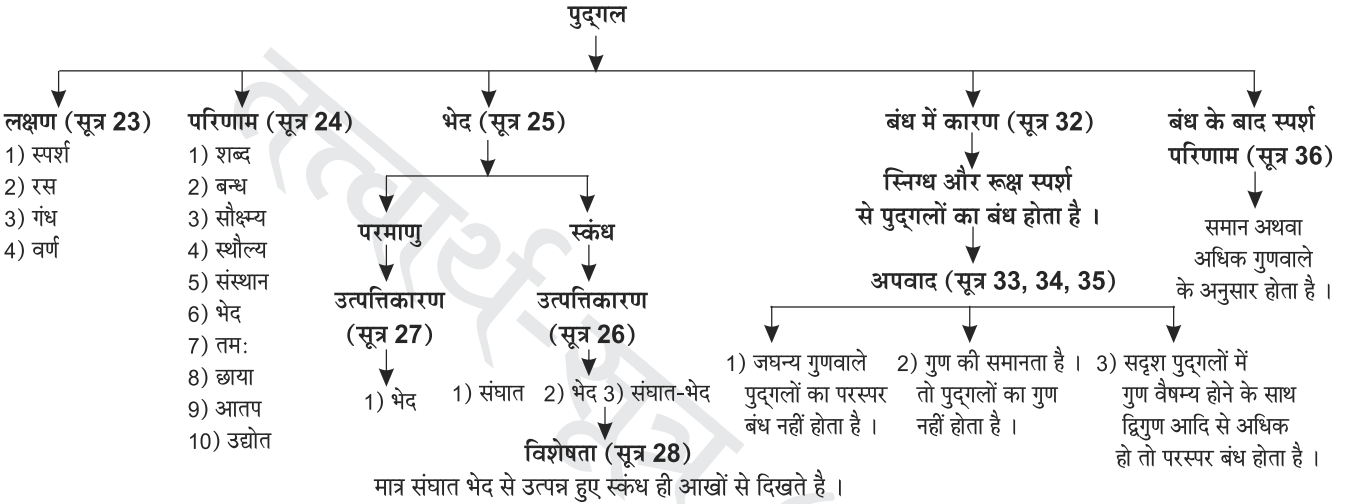
पुद्गल
लक्षण (सूत्र 23)
1) स्पर्श
2) रस
3) गंध
4) वर्ण
परिणाम (सूत्र 24)
1) शब्द
2) बन्ध
3) सौक्ष्म्य
4) स्थौल्य
5) संस्थान
6) भेद
7) तम:
8) छाया
9) आतप
10) उद्योत
भेद (सूत्र 25)
परमाणु
उत्पत्तिकारण (सूत्र 27)
1) भेद
स्कंध
उत्पत्तिकारण (सूत्र 26)
1) संघात 2) भेद 3) संघात-भेद
विशेषता (सूत्र 28)
मात्र संघात भेद से उत्पन्न हुए स्कंध ही आखों से दिखते है ।
बंध में कारण (सूत्र 32)
स्निग्ध और रूक्ष स्पर्श से पुद्गलों का बंध होता है ।
अपवाद (सूत्र 33, 34, 35)
1) जघन्य गुणवाले पुद्गलों का परस्पर बंध नहीं होता है ।
2) गुण की समानता है । तो पुद्गलों का गुण नहीं होता है ।
3) सदृश पुद्गलों में गुण वैषम्य होने के साथ द्विगुण आदि से अधिक हो तो परस्पर बंध होता है ।
बंध के बाद स्पर्श परिणाम (सूत्र 36)
समान अथवा अधिक गुणवाले के अनुसार होता है ।

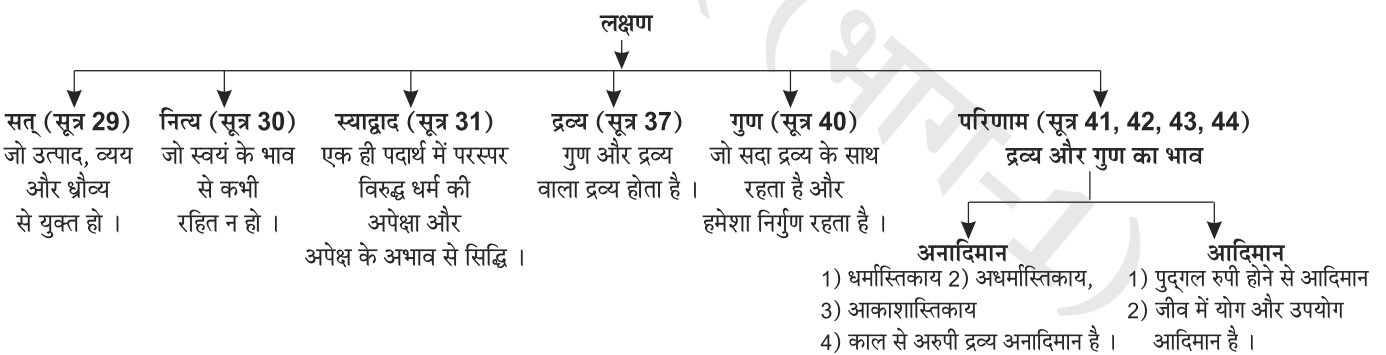
लक्षण
सत् (सूत्र 29)
जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त हो ।
नित्य (सूत्र 30)
जो स्वयं के भाव से कभी रहित न हो ।
स्याद्वाद (सूत्र 31)
एक ही पदार्थ में परस्पर विरुद्ध धर्म की अपेक्षा और अपेक्ष के अभाव से सिद्धि ।
द्रव्य (सूत्र 37)
गुण और द्रव्य वाला द्रव्य होता है ।
गुण (सूत्र 40)
जो सदा द्रव्य के साथ रहता है और हमेशा निर्गुण रहता है ।
परिणाम (सूत्र 41, 42, 43, 44)
द्रव्य और गुण का भाव
अनादिमान
1) धर्मास्तिकाय 2) अधर्मास्तिकाय, 3) आकाशास्तिकाय 4) काल से अरुपी द्रव्य अनादिमान है ।
आदिमान
1) पुद्गल रुपी होने से आदिमान
2) जीव में योग और उपयोग आदिमान है ।

दत्तार्ह-सूत्र (भाग-1)

तत्वार्थ-सूत्र (भाग-1)

जैन हिन्दी साहित्य दिवाकर मरुधररत्न, पू. आचार्यदेव
श्रीमद् विजय **रत्नसेनसूरीश्वरजी म.सा.**
द्वारा मुख्यतया हिन्दी भाषा में आलेखित 230 पुस्तकों
में से उपलब्ध एवं अवश्य पठनीय साहित्य-सूची

| Sr. No. | पुस्तक का नाम | मूल्य | Sr. No. | पुस्तक का नाम | मूल्य |
|---|---|---|---|---|---|
| 1. | चिंतन का अमृत-कुंभ | 80/- | 35. | श्रावक का गुण सौंदर्य | 125/- |
| 2. | पंच-प्रतिक्रमण (भाग-1) | 100/- | 36. | ध्यान साधना | 40/- |
| 3. | पंच-प्रतिक्रमण (भाग-2) | 100/- | 37. | आग और पानी-भाग-1-2 | 115/- |
| 4. | पंच-प्रतिक्रमण (भाग-3) | 125/- | 38. | शांत सुधारस-हिन्दी -भाग-1-2 | 140/- |
| 5. | पंच-प्रतिक्रमण (भाग-4) | 135/- | 39. | शत्रुंजय यात्रा (तृतीय आवृत्ति) | 40/- |
| 6. | आओ ! प्राकृत सीखें भाग-1 | 125/- | 40. | आओ संस्कृत सीखें भाग-1 | 150/- |
| 7. | आओ ! प्राकृत सीखें भाग-2 | 85/- | 41. | आओ संस्कृत सीखें भाग-2 | 220/- |
| 8. | विविध-तपमाला | 100/- | 42. | प्रेरक-प्रवचन | 80/- |
| 9. | विवेकी बनो | 90/- | 43. | दंडक सूत्र | 50/- |
| 10. | बीसवी सदी के महान योगी | 300/- | 44. | जीव विचार विवेचन | 60/- |
| 11. | परम-तत्व की साधना भाग-3 | 160/- | 45. | नव तत्त्व-विवेचन | 60/- |
| 12. | श्रमण-क्रिया के मुख्य सूत्र | 200/- | 46. | कल्पसूत्र के हिन्दी प्रवचन | 240/- |
| 13. | प्रवचन-वर्षा | 60/- | 47. | पर्युषण अष्टाह्निका प्रवचन | 120/- |
| 14. | मोक्ष-मार्ग के कदम | 120/- | 48. | गणधर-संवाद | 80/- |
| 15. | आओ श्रावक बनें ! | 25/- | 49. | आओ ! उपधान पौषध करें ! | 55/- |
| 16. | व्यसन-मुक्ति | 100/- | 50. | नवपद आराधना | 80/- |
| 17. | श्रावक जीवन दर्शन | 250/- | 51. | पहला कर्मग्रंथ | 100/- |
| 18. | शंका-समाधान (भाग-4) | 60/- | 52. | दूसरा-तीसरा कर्मग्रंथ | 55/- |
| 19. | जैन-महाभारत | 130/- | 53. | पाँचवाँ कर्मग्रंथ | 100/- |
| 20. | महावीर प्रभु की पट्टधर-परंपरा (1 से 9) | 300/- | 54. | संस्मरण | 50/- |
| 21. | महावीर प्रभु की पट्टधर-परंपरा (10 से 40) | 275/- | 55. | भव आलोचना | 10/- |
| 22. | महावीर प्रभु की पट्टधर-परंपरा (41 से 57) | 275/- | 56. | आध्यात्मिक पत्र | 60/- |
| 23. | महावीर प्रभु की पट्टधर-परंपरा (58 से 80) | 280/- | 57. | आत्म-उत्थान का मार्ग-भाग-1 | 125/- |
| 24. | सात वासुदेव-प्रतिवासुदेव बलदेव | 50/- | 58. | आत्म-उत्थान का मार्ग-भाग-2 | 175/- |
| 25. | प्रतिक्रमण उपयोगी संग्रह | 80/- | 59. | आत्म-उत्थान का मार्ग-भाग-3 | 150/- |
| 26. | सुखी जीवन के Mile-Stone | 100/- | 60. | इन्द्रिय पराजय शतक | 50/- |
| 27. | समाधि मृत्यु | 80/- | 61. | अर्हद् दिव्य-संदेश (दीक्षा-विशेषांक) | 60/- |
| 28. | The Way of Metaphysical Life | 60/- | 62. | 'बेंगलोर' प्रवचन-मोती | 140/- |
| 29. | Pearls of Preaching | 60/- | 63. | तीन भाष्य (हिन्दी विवेचन) | 150/- |
| 30. | New Message for a New Day | 600/- | 64. | जीव-विचार-विवेचन | 100/- |
| 31. | Celibacy | 70/- | 65. | श्री नमस्कार महामंत्र | 180/- |
| 32. | Panch Pratikraman Sootra | 100/- | 66. | महामंत्र की अनुप्रेक्षाएँ | 150/- |
| 33. | श्रीपाल-रास और जीवन-चरित्र | 160/- | 67. | तत्त्वार्थ-सूत्र-भाग-1 | 200/- |
| 34. | अमृत रस का प्याला | 300/- | 68. | तत्त्वार्थ-सूत्र-भाग-2 | 200/- |

**पुस्तक प्राप्ति स्थान : दिव्य सन्देश प्रकाशन** C/o. सुरेन्द्र जैन, Office No. 304, 3rd Floor, बे व्यु बिल्डींग, विंग-ईस्ट बे, डॉ. एम.बी. वेलकर स्ट्रीट, कालबादेवी, मुंबई-400 002. Mobile : 8484848451 (only whatsapp)

Kamal PRINTER'S M. 9820530299